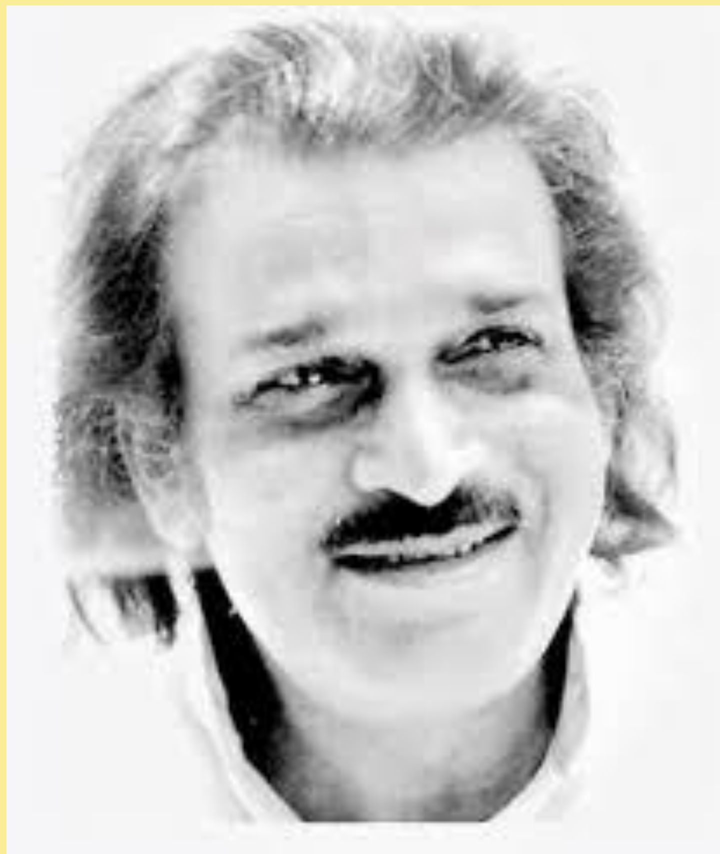
काठ की घंटियां

कहानियां, कवितायेँ, उपन्यास



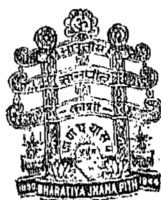
सर्वेश्वरदयाल सक्सेना

नये साहित्य-स्रष्टा :
सम्पादक : सच्चिदानन्द वात्स्यायन

काठ की घण्टियाँ

[कहानियाँ, कविताएँ, उपन्यास]

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना



भारतीय ज्ञानपीठ • काशी

ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला हिन्दी ग्रन्थाङ्क—८७
ग्रन्थमाला सम्पादक
लक्ष्मीचन्द्र जैन

प्रकाशक
मन्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ
दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी

प्रथम संस्करण
१९५९
मूल्य ... रुपये

मुद्रक
बाबूलाल जैन फागुल्ल
सन्मति मुद्रणालय, वाराणसी

भूमिका

अपनी पहली पुस्तकके प्रकाशनसे लेखकको जो आनन्द होगा उसकी गुरुता अथवा गम्भीरताकी उपेक्षा किये बिना मैं यह कहना चाहता हूँ कि प्रस्तुत ग्रन्थका प्रकाशन मेरे लिए उससे कम आनन्द-दायक नहीं है। बल्कि उसमें एक ऐसा सन्तोष भी है जो कि लेखकके सन्तोषसे बिल्कुल भिन्न कोटिका होता है : उसका आधार केवल अपने कृतित्वमें विश्वास नहीं बल्कि एक समूचे साहित्यमें आस्था होती है—जिसमें अपने अलावा दूसरोंका कृतित्व भी सम्मिलित है।

वास्तवमें "नये साहित्य स्रष्टा" नामसे इस ग्रन्थमालाका आरम्भ ही इस व्यापक आस्थाका प्रतिबिम्ब है। हिन्दीके समवर्ती जिस युगमें बुजुर्गोंने नयी रचनाके प्रति क्षोभ प्रकट किया और मध्य-वयके लोगोंने गति-रोधकी दुहाई दी, पुराने आलोचकोंने शाश्वत भारतीय मूल्योंकी उपेक्षाका दुखड़ा रोया और नये आलोचकोंने अन्धाधुन्ध विदेशी परिभाषाओंसे देशी प्रतिभा को दबा देनेका उपक्रम किया, उसमें यह जन उन थोड़ेसे व्यक्तियोंमें से रहा जिन्होंने नयी साहित्य-प्रतिभामें विश्वास नहीं खोया और जो उसका मार्ग प्रशस्त करनेके लिए भरसक उद्यम करते रहे—और शक्ति-भरसे अधिक भर्त्सना सहते रहे। इस परिश्रमको उसने सही और कर्त्तव्य समझा तो केवल अहंकारवश नहीं, इसलिए कि उसने अनुभव किया कि समकालीन परिस्थितिमें केवल रचना कर देना पर्याप्त नहीं है, उसके अनुकूल परिस्थितियोंके लिए संघर्ष करना भी आवश्यक है।

"नये साहित्य स्रष्टा" ग्रन्थमालामें क्रमशः ऐसे साहित्यकारोंकी रचना पाठकके सम्मुख उपस्थित करना अभीष्ट है जिन्होंने न केवल नया या रोचक या अच्छा कुछ लिखा है, वरन् जिनका साहित्यिक कृतित्व उस संघर्षको

भी प्रतिबिम्बित करता है जो इस कालके साहित्यकारको अपनी निष्ठाकी रक्षाके लिए और अपने कला-मूल्योंकी प्रतिष्ठाके लिए करना पड़ता रहा। यह नहीं कि ऐसे सभी लेखक इस मालामें आ जायेंगे— जिनकी रचनाएँ स्वतन्त्र रूपसे प्रकाशित हो चुकी हैं या हो रही हैं वे इसमें नहीं भी लिये जा सकते हैं, क्योंकि एक ओर उसकी कोई आवश्यकता भी नहीं है और दूसरी ओर उससे न किसीकी क्षति होनेवाली है, न किसीके प्रति अन्याय।

यह इस संघर्षकी बहुमुखता और जटिलताका एक चिह्न है कि समवर्ती कृतिकार प्रायः एकसे अधिक माध्यमोंमें रचना करते हैं। ऐसे लेखक कम हैं जो केवल कहानीकार, या केवल कवि या उपन्यासकार या नाटककार या आलोचक हों। यह निरा 'हरफ़नमौला' होनेका शौक़ नहीं है, न अनुशासनहीनता अथवा अराजकताका चिह्न, न साधनाकी कमी अथवा गुरु-शिष्य पद्धतिकी उपेक्षा। और यह भी एक अत्यन्त एकांगी सत्य होगा अगर कहा जाय कि आर्थिक कारणोंसे कृतिकारको सभी तरह की चीज़ें लिखनी पड़ती हैं। यदि कवि लोग कहानियाँ और रेडियो-रूपक लिखने लगते और समीक्षक नाट्यकार (पाठ्यक्रमोपयोगी) हो जाते और बात वहीं तक रह जाती, तब तो आर्थिक प्रभावकी प्रधानता माननी पड़ती। पर ऐसे भी उदाहरण अनेक मिलेंगे जहाँ सफल कहानीकारोंने कविता लिखना आरम्भ किया है और आग्रहपूर्वक कविता लिखते ही चले गये हैं—यद्यपि कविताओंसे कुछ आय नहीं होती रही है जब कि कहानियोंकी माँग बराबर बनी रही है और उनके लिए पेशगी पारिश्रमिक पा लेना भी असम्भव नहीं रहा है।

यह बहुमुखता इस ग्रन्थमालामें प्रतिबिम्बित हो, यह उसके उद्देश्यका स्वाभाविक परिणाम है। बिना उसके वह कैसे समकालीन संघर्षों और प्रवृत्तियोंका प्रतिनिधित्व कर सकती? पर वह इसलिए भी ग्राह्य और अभिनन्दनीय है कि इस प्रकार वह प्रत्येक ग्रन्थको एक प्रीतिकर विविधता दे देती है। एक पुस्तक एक साथ ही एक साहित्यकारका पूरा प्रतिनिधित्व

भी करे, और नाना रस-व्यंजनोंसे पाठककी रसनाको लुभाये और तृप्त भी करे, यह सम्भावना इस ग्रन्थमालाको न केवल अपने ढंगका एक-मात्र प्रयास बना देती है वरन् आजकी स्थितिमें एक महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान् प्रयोग भी। पाठक-वर्ग, आशा है, इसे इसी रूपमें ग्रहण करेगा।

"काठकी घण्टियाँ" के लेखक भी उन लोगोंमेंसे हैं जो पहले कहानीकारके रूपमें सामने आये। विश्वविद्यालय-जीवनमें ही कहानियोंपर प्रतियोगितामें पुरस्कृत होनेवाले सर्वेश्वरजीके लिए ऐसी कोई लाचारी नहीं थी कि वह कहानियोंकी बजाय कविताएँ लिखने लगें। सन् १९४३ से १९५० तक वह कहानियोंके ही लेखक थे। सन् १९५० में उन्होंने कविता लिखना आरम्भ किया तब ऐसा भी कोई कारण नहीं था कि वह कहानियाँ लिखना छोड़ दें—अर्थात् बाहरी कोई कारण नहीं था; आन्तरिक बाध्यताएँ तो कलाकारके जीवनका अंग हैं ही।

तीन-चार वर्षके काव्यमय अन्तरालके बाद उन्होंने फिर कुछ कहानियाँ लिखीं। 'सोया हुआ जल' नामका लघु-उपन्यास या लम्बी रूप-कथा भी इसी समय लिखी गयी। इसके अनन्तर फिर चार-पाँच वर्षका काव्यान्तराल रहा, जिसके बाद फिर कुछ कहानियाँ और एक (अथवा डेढ़) नया उपन्यास लिखा गया।

ऐसा क्यों हुआ? इसकी पड़ताल निःसन्देह लेखकके कृतित्वके अध्ययन और मूल्यांकनके लिए उपयोगी होगी : अपने-आपमें भी वह रोचक हो सकती है। किन्तु इस भूमिकामें उसमें जाना आवश्यक नहीं है। यहाँ इतना ही कहना यथेष्ट है कि प्रत्येक सोपानकी रचनाएँ पढ़नेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि लेखकने न केवल माध्यम बदला है बल्कि उसकी संवेदनाका स्तर और उसकी दिशा बदल गयी है। इस प्रकार कहानी-लेखक कुछ वर्ष कविता लिखकर जब फिर कहानीकी ओर लौटता है तो फिर उसी सूत्रको नहीं उठाता जिसे वह छोड़ गया था, बल्कि एक नये

प्रदेशमें नयी राहपर चलता हुआ अपनेको पाता है। इसी प्रकार कवि जब गद्य-लेखनके अन्तरालके बाद फिर काव्य-क्षेत्रमें लौटता है, तो वह भी एक नये आयाममें।

इनमेंसे कुछ परिवर्तन तो सीधे-सीधे वयस्कताके परिणाम हो ही सकते हैं। आरम्भकी कहानियोंमें हम अगर 'प्रसाद' की (यद्यपि अधिक सामाजिक 'प्रसाद' की ही) अनुगूँज पा सकते हैं और आरम्भिक कवितामें सीधी सहज भाषामें गीत लिखनेवाले 'बच्चन' की छाप, तो यह अस्वाभाविक नहीं है। किन्तु क्रमशः कृतिकारका अपना व्यक्तित्व विशद और पुष्टतर होकर सामने आता गया है और बादकी रचनाओंमें हम जो अन्तर देखते हैं—विभिन्न माध्यमोंकी अथवा एक ही माध्यमकी पूर्वापर रचनाओंमें वह 'क' और 'ख' के प्रभावका अन्तर नहीं है, वह असन्दिग्ध रूपसे सर्वेश्वर की ही संवेदनाके विभिन्न पहलू हैं; अलग-अलग परिस्थितियोंके साथ एक ही, किन्तु अनेकोन्मुख, संवेदनाके घात-प्रतिघात के नाना-रूप परिणाम।

सर्वेश्वर इन परिवर्तनोंके प्रति कहाँ तक सजग थे, यह नहीं कहा जा सकता। न उस सजगताका तत्काल होना या न होना ही पाठकके लिए कोई आत्यन्तिक महत्त्व रखता है। और न इस सम्बन्धमें प्रकट किये गये लेखकके अभिमतको ही ज़रूरतसे ज़्यादा महत्त्व देना चाहिए। कृतिकार अपनी कृतिके बारेमें जो कुछ कहता है उसको ठीक-ठीक समझना या सही गौरव देना भी उतना ही दाक्षिण्य माँगता है, जितना कि नारीकी अपने विषयमें कही गयी बात। दोनों ही बातें अर्थहीन कभी नहीं होतीं, लेकिन दोनोंका ही अभिप्राय वह नहीं होता जो शब्दोंमें अभिहित हो। इसलिए सर्वेश्वर अगर कहते हैं कि 'जब वह गीतकी परिपाटी छोड़कर एक नये प्रकारकी कविता लिखने लगे तब उन्हें इसका भान नहीं था कि वह एक परती क्षेत्रमें प्रवेश कर रहे हैं या नयी भूमि तोड़ रहे हैं', तो आवश्यक नहीं है कि इसे सच मानकर भी तद्वत् ग्रहण किया जाय।

इसी प्रकार अपनी काव्यमय कहानियोंकी उनकी दी हुई यह सफ़ाई कि 'हमने सोचा था कि कहानी नहीं लिखेंगे, इसलिए जो कहानी लिखी गयी वह कवितामय हो गयी' निराधार न होकर भी ज्यों-की-त्यों ग्राह्य नहीं है।

अगर मैं यह कहूँ कि मैं सर्वेश्वरको पहले कवि मानता हूँ, तो यह न समझा जाय कि मैं उनकी कहानियोंसे प्रभावित नहीं हूँ; बल्कि उनकी इधरकी कहानियाँ और 'पागल कुत्तोंका मसीहा' नामका नया सांकेतिक लघु-उपन्यास मेरी दृष्टिमें नये कहानी-साहित्यमें एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। उन्हें पहले कवि माननेमें मैं उनकी रचनाका मूल्यांकन नहीं बल्कि उनकी संवेदनाके प्रकारका निरूपण करना चाहता हूँ। अनुभवका स्तर—भोक्ता संवेदना और भोग्य परिवृतके आपसी सम्बन्धका स्तर—कविताका है; कविको जिस सत्यसे प्रयोजन है, वह उसी क्षेत्रका है। मैं कहना चाहता हूँ कि अपनी सामाजिक दृष्टि, और अपनी रचनाओंमें स्पन्दनशील गहरी सामाजिक चेतनाके बावजूद सर्वेश्वरको सर्व-प्रथम अनुभवसे प्रयोजन है; सन्दर्भसे केवल आनुषंगिक रूपसे।

छन्दोबद्ध व्यंग्य रचनाएँ, जिनका व्यास सामाजिक पाखण्डोंसे लेकर राजनीतिक मतवादों तक फैला हुआ है, यहाँ अपवाद-रूप जान पड़ेंगी। किन्तु जब भी कविताके साथ कोई विशेषण लगता है—और उस विशेषण का औचित्य मान लिया जाता है—तब वह विशेषण अनिवार्य भी हो जाता है, और उस प्रकारकी कविताको निर्विशेष्य रूपसे कविता नहीं कहा जाता। जिसे हम 'सैटिरिकल पोएट्री' कहते हैं, उसे केवल 'सैटायर' भी कह देते हैं; किन्तु केवल 'पोएट्री' फिर नहीं कहते। इसलिए सर्वेश्वर जीके बारेमें मेरी अवधारणा ज्योंकी त्यों रह जाती है। उनका तीखा 'सैटायर' जो गद्य और पद्य दोनों रूपोंमें प्रकट हुआ है, उनके कवि-रूप की प्राथमिकताको खण्डित नहीं करता।

कवि और कहानीकार दोनों ही देश-कालसे बँधे हैं। किन्तु निरपवाद होनेका आग्रह न किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि कहानीकारकी दृष्टि देशकी ओर अधिक रहती है और कविके कान कालकी झनकार की ओर अधिक लगे रहते हैं। दूसरे शब्दोंमें कहानीकारका सन्दर्भ समाज और उसका विस्तार होता है, कविका सन्दर्भ जीवन और उसकी गहराई।

इस दृष्टिसे भी सर्वेश्वर पहले कवि हैं। उनकी कहानियों और उनके उपन्यासोंकी प्रवृत्ति भी गहराईकी पड़ताल की है। बाह्य वास्तविकताकी उपेक्षा या अवज्ञा कहीं नहीं है, किन्तु लेखककी दृष्टि उसीसे उलझकर रह जानेको तैयार नहीं। इसीलिए उनकी गद्य-रचनाओंमें भी एक प्रकारकी काव्यमयता है। गद्यमें भी यथार्थको मूर्त्त करनेके उनके साधन कविके साधन हैं। रूपाकारोंका वर्णन वहाँ प्रधान नहीं है: और बिम्ब अथवा संकेत ही यथार्थको दर्शाते नहीं, अवगत कराते हैं। निस्सन्देह इसका एक कारण यह भी है कि कहानियोंमें भी कविताकी भाँति सर्वेश्वर 'जो दीखता है' उसके पीछे 'जो है' उससे व्यस्त हैं और उसे उभार अथवा उघाड़कर सामने लाना चाहते हैं। यह नहीं कि जो दीखता है, जो सत्य ही है, उसे वह मिथ्या या अयथार्थ मानते हैं—बल्कि स्वयं मिथ्या भी अयथार्थ नहीं है। फिर भी आकारोंकी झिल्लीमें जो अभिप्राय रुँधा हुआ है और घुट रहा है, वह मुक्त होकर हमारे सामने आवे, यही उनका आग्रह है और इसीमें सफलता उनके निकट साहित्यिक कृतिकी सफलता है। इसी लिए जहाँ उनकी रचनाओंमें परिस्थितियोंके प्रति विद्रोहका भाव और परिवर्तनकी आकांक्षा है, वहाँ यह स्पष्ट है कि वह बाहरको बदल देनेसे ही सन्तुष्ट नहीं है। उसकी व्यर्थता समझते हुए वह 'भीतरसे बदलने'पर बल देते हैं। और इस 'भीतर' से अभिप्राय केवल अवचेतन यथार्थसे नहीं है, जैसा कि 'सोया हुआ जल' के कुछ अंशोंसे (और शीर्षकसे भी) ध्वनित होता है: 'भीतर' वह है जो बाहरके साथ रागात्मक सम्बन्ध

जोड़ता है और उन सम्बन्धोंसे मूल्योंकी अवधारणा करता है। क्योंकि बदलना मूल्योंको बदलना है, इसलिए नये रागात्मक सम्बन्धोंकी प्रतिष्ठा आवश्यक है और उसके लिए बाहर और भीतर दोनोंमें क्रान्ति वांछित है।

क्या सर्वेश्वरकी रचनाएँ 'समकालीन' हैं? जिस लेखककी कृतियाँ स्पष्टतया समवर्ती परिदृश्यसे सम्बद्ध होती हैं—अपने समयका सामाजिक बहिरंग जिनमें स्पष्ट निरूपित होता है, उन्हें समकालीन मान लेना आसान होता है। लेकिन जिनकी संवेदना समकालीन यथार्थतासे कालके आयाममें मिलना चाहती है उनके बारेमें इस प्रश्नका उत्तर देना इतना सरल नहीं होता। सर्वेश्वरकी अब तककी रचनाओंके आधारपर यह तो अभी नहीं कहा जा सकता कि आजका सामाजिक यथार्थ पूरी तरह उनकी पकड़में आ गया है, कि उसके विस्तारको उन्होंने नाप लिया है; लेकिन इतना बिना संकोच कहा जा सकता है कि उनकी संवेदनामें समकालीनताका स्पन्दन है। दूसरे शब्दोंमें समकालीन यथार्थ उनकी मुट्ठीकी पकड़में हो या न हो, उनकी चेतना द्वारा अवश्य नाप लिया गया है। और ऐसी रचनाके तात्कालिक प्रभावकी दृष्टिसे मर्यादित होनेपर भी स्थायित्वका गुण उसमें अधिक होता है।

मेरा विश्वास है कि "काठकी घण्टियाँ" एक नये साहित्य स्रष्टाकी नयी सृष्टि होनेके नाते ही सम्मानित न होगी बल्कि लेखकके और उसकी रचनाओंके पुराने पड़ जानेपर भी अपनी ताज़गी और शक्तिसे पाठकोंको प्रभावित करती रहेगी। प्रस्तुत संकलन उनके प्रायः बारह वर्षके लेखन-का व्यास नापता है : इसमें भी विकासके लक्षण स्पष्ट हैं, किन्तु और भी ताज़ा लेखनमें—मुझ भाग्यशालीको जिसे हस्तलिखित रूपमें पढ़नेका सुयोग मिला है, और जो मैं आशा करता हूँ अब शीघ्र प्रकाशमें आयेगा—सर्वेश्वर जिस साहस और सामर्थ्यके साथ आगे बढ़े हैं, वह उनके भावी सुयशकी प्रतिश्रुति तो है ही, हमारे साहित्यके लिए भी आशाका संकेत है।

—सच्चिदानन्द वात्स्यायन

अनुक्रम

कहानियाँ

कविताएँ

उपन्यास



स्वर्गीया माँ को

बरसात अब भी आती है

[कहानियाँ]

डूबता हुआ चाँद

कोई विश्वास करे या न करे, लेकिन मैं सच कहता हूँ, कि उसका कुल इतना ही दोष था कि वह गोरी न थी। वह किसी अभिशापकी बदलीकी छाँहसे साँवली थी। यों उसकी आँखें बड़ी-बड़ी थीं। अपनी बन्द पलकोंको जब वह खोलती थी, तो लगता, जैसे सपनोंकी पंखुरियों पर मासूमियत लहरा गयी हो; मुसकराती थी, तो जैसे बेबसीकी ज़ंजीरें टूट रही हों; और बोलती थी, तो उस स्पन्दनहीन, शान्त, मधुर, स्वरको सुनकर लगता, जैसे किसी खामोश गहरे-नीले समुद्रमें चाँद डूब रहा हो। वह बाहर-भीतर हर ओर सुन्दर थी, रूपके साँचेमें ढली हुई, अमृतके सरोवरमें नहायी हुई। लेकिन वह गोरी न थी। उसका साँवलापन, उसकी नस-नसमें, एक ज़हरीला दर्द बन कर उमड़ा करता था, पर उसने कभी उसे अधरों और आँखोंकी राहसे छलकने नहीं दिया। उसके पति एक धनी पण्डा थे। आँखोंकी कमजोरी आधे इञ्च मोटे चश्मे के शीशेसे दूर होती थी और दिमागकी चिड़चिड़ाहट पत्नी या घोड़ेकी पीठसे। उसके पास एक रईसी ठाठका एक्का था, जिसकी शान सिकोटीके मेलेके समय निखरती थी। घोड़ेका नाम था नवाब। इलाहाबादमें वैसा घोड़ा कोई दूसरा नहीं था। शहरभरमें उसकी शोहरत थी। उसके दिलमें पत्नी और घोड़ेका वजन बराबर था। घोड़ेके लिए भी उसने सोने और चाँदीके ज़ेवर बनवा रखे थे और नौकर रख रक्खे थे। उसका घोड़ा भी ठण्डई और घी पीता

था और मालिकके क्रोधके समय पीठ पर मोटे-मोटे डण्डे टूट जाने पर भी चूँ नहीं करता था। स्वभाव और रूप-रंग सबका ध्यान रखते हुए मुझे यह पति-पत्नीका जोड़ा उतनी ही तकलीफ़ देता था जितनी कौएकी चोंचमें अंगूर। मेरी उससे मुलाकात कैसे हुई, यह एक लम्बी कहानी है। इतना ही जानिए कि मुसीबतका तूफ़ान आने पर मैं अपनी नाव निश्चिन्त होकर तूफ़ानके ही भरोसे छोड़ देता हूँ और वह कहीं न कहीं जाकर ज़रूर लग जाती है। मकान की दिक्कत थी। त्रिवेणीजीके किनारे तख्तों पर सोया करता था। वहीं परिचय हुआ, और फलस्वरूप उसके मकानके ऊपरी हिस्सेके एक सबसे अच्छे कमरेमें मैं बिना कियायेके ही रहने लगा।

मेरे सम्पर्कमें आने वाले लोग बड़ी जल्दी मुझसे घुल-मिल जाते हैं यह कोई अकेले मुझमें ही बहुत बड़ी विशेषता नहीं है। ऐसे न जाने कितने व्यक्तित्व इस दुनियामें हैं जिनसे घुलने-मिलनेमें लोग कोई नुकसान नहीं समझते, जिनकी सरलता और निष्कपटता के झरोखोंसे दूसरेके दिलोंका घुटता हुआ धुआँ अपने आप बाहर निकल जाता है। इनके मकानमें आये मुझे चार दिन भी न हुए थे, कि ये घरका भार मुझे सौंप, ज़मींदारी पर किसी कारणवश चले गये। उनकी अनुपस्थितिमें किन्हीं जरूरतोंने मेरा और उनकी पत्नीका परिचय कराया और दो ही चार दिनमें हम लोगोंके चारों तरफ़ एक रिश्तेकी दीवार खिंच गयी। मैं उन्हें भाभी कहने लगा।

याद आती है उस रातकी जब चाँद मुँडेरीसे ऊपर उठ रहा था—ज्योतिहीन सोनेकी थालीकी तरह। चारों ओर रातका घना अँधेरा छलक रहा था और मैं उदास निष्क्रिय पड़ा था। सुबह

बिना भोजनके ही विश्वविद्यालय चला गया था और उस समय भी उठ कर खाना बनानेकी हिम्मत नहीं पड़ रही थी। अतीतके काले-काले पंख आँखोंमें झिलमिला रहे थे। तभी घरकी नौकरानी ने आकर कहा था—"आपको मलकिन बुला रही हैं।"

यह पहला ही अवसर था जब उन्होंने मुझे बुलाया था, नहीं तो नौकरानीके द्वारा ही हल्के-फुल्के काम चल जाते थे। मुझे उस समय काफ़ी आश्चर्य भी हुआ था। कारण पर बहुतसे अनुमान करता हुआ मैं उनके पास पहुँचा और भीतर दरवाज़ेकी चौखट पर ही जाकर खड़ा हो गया, जो उस समय तककी मेरी परिधि थी। मुझे खड़ा देखकर वह बोलीं—

"आज खाना-वाना नहीं खाया जायगा क्या ?"

मैं चुप रहा, उत्तर ही क्या देता ? वह फिर बोलीं—

"सुबह भी नहीं खाना बना था।" उनके इस कथनमें एक ऐसी स्नेह-भरी झिड़की थी कि मैं उनका मुँह देखता रह गया। मुँहसे निकल पड़ा—

"सुबह तो भूख नहीं थी।"

"और इस समय !" वह छूटते ही बोलीं।

"तबीयत ठीक नहीं है।" मैंने कहा।

"हाँ-हाँ, मैं सब समझती हूँ—आओ यहाँ बैठ जाओ।" और मैं चुपचाप दालान-आँगन पार करके, दूसरी दालानमें जाकर, जहाँ वह खाना बना रही थीं, पास पड़े हुए पीढ़े पर उनके आदेशानुसार बैठ गया। तरकारी छौंकती हुई वह बोलीं—

"माँ-बापसे दूर रह कर लड़के मनमानी करते हैं, लेकिन

तुम्हें क्या मालूम कि तुम्हारे यहाँ न खानेसे वहाँ माँका कलेजा खुरचता होगा।"

और मैं इस वाक्यको सुननेसे अधिक उनके मुखकी ओर देख रहा था जिस पर स्नेह-भरे उपालम्भकी गम्भीर दर्दीली छाया थी। उसे देख कर मैं पानी-पानी हो गया। एक ओर मैं उनकी बाइस-तेइस सालकी जवानी, भरे कच्चे शहतूत-सी उमर देखता और दूसरी ओर इन बुजुर्गियतकी बातोंका अर्थ सोचता। जो अभी तक माँ हुई भी न हो वह माँके कलेजेकी बात क्या समझे? मैं कुछ कहने ही जा रहा था कि वह बोल उठी—

"अकेले पड़े रहते हो, इधर-उधरकी सोचते होगे, तबीयत घबड़ाती होगी।" मैंने कुछ दबी ज़बानसे इस वाक्यमें निहित सच्चाईको टालनेकी ग़रज़से कहा—"नहीं तो।"

वे बोलीं—"मुझसे छिपाओ मत। घरकी चहारदीवारीमें बन्द रहने पर भी हम लोग आदमीकी नस-नस समझती हैं।"

मैं चुप रह गया। वे फिर कुछ मुसकरा कर बोलीं—

"मैंने तुम्हारा खाना भी बना लिया है, बुरा तो नहीं है, खा तो लोगे ही मेरे हाथका!"

मैं शरमसे गड़ गया।

वे बोलीं—"शरम किस बातकी। कभी-कभी सुस्ती आ ही जाती है। मैं ही देखो जबसे वे गये हैं बस दिनमें एक ही बार खाना बनाती हूँ। अकेलेके लिए इतनी झंझट कौन करे? फिर यहाँ तो दिन-भर घरमें ही पड़ा रहना पड़ता है। तुम लोग पढ़ने लिखने वाले लड़के ठीकसे खाओगे नहीं तो पढ़ोगे क्या? अपने

"क्यों मारा था ?"

वह बोली—"बाहर किसीने मजाक उड़ा दिया था कि उनकी बीबी काली है और बस घरमें सारी ग़ुस्सा उतार दी।" वह बैठी बताती रही कि कैसे घोड़े वाली चाबुक उन पर टूट गयी थी। किस तरह उनकी एक-एक नस फोड़े-सी दर्द करती थी और वह महीने भर तक हल्दी तेल लगाती रही थी। "मारते सबके आदमी हैं लेकिन ऐसी मार नहीं मारते"–वह कहती रही। वहीं किसी प्रसंगमें उसने यह भी बताया कि यह सब राजपाट इन्हींकी बदौलत है। इनके बाप बहुत धनी पंडा थे और यह अकेली लड़की थी। मरने पर सब कुछ इन्हींके नाम लिख गये। यह न होती तो यह रईसी न होती। और थाली उठाते-उठाते भी कहती रही–"इतनी नेक और इतनी सीधी औरत आजकलकी दुनियामें मिलना मुश्किल है। अभी अलग हो जायं तो उनके सारे ठाठ हवा हो जाँय। एक वह हैं और एक ये हैं जिसने अपना सब कुछ इन्हींके नाम लिखवा दिया है। हम लोग तो इन्हींके भरोसे जी रहे हैं, बाबू। जिस दिनसे नहीं रहेंगी इस घरमें एक भी नौकर नहीं टिकेगा।"

उस दिनकी बात यहीं समाप्त हो जाती है यद्यपि उस रात मैं बड़े गहरे मानसिक उथल-पुथलमें था और दूसरे दिन जब शामको बढ़ते अँधेरेमें पड़ा था तभी नौकरानीने आकर कहा था–"मलकिन ने कहा है अगर पढ़ न रहे हों तो चले आयें।" मैं उनके पास जाकर खड़ा हो गया, वे चारपाई पर पड़ी थीं। लगता था जैसे उनकी तबीयत बिलकुल ठीक नहीं है। मुझे देखते ही बोलीं—"कल नाराज़ हो गये थे।"

मैंने कहा—"नहीं तो। और फिर तुमसे नाराज़ होना!"

वह बोली—"झूठ क्यों बोलते हो?"

मैंने कहा—"तुम मुझसे छिपाती क्यों हो भाभी। इतना दुराव क्यों रखती हो? क्या मैं इस लायक नहीं हूँ कि तुम अपने मनकी बात मुझसे कह सको?" वह बोलीं—"तुम गलत समझते हो। इन आठ-दस दिनोंमें ही तुम मेरे जितने अपने हो गये हो उतना शायद कोई नहीं हुआ। मैंने अपने जीवनकी एक-एक बात तुम्हें बता दी है। कुछ भी नहीं छिपाया। फिर हम औरतोंकी ज़िन्दगीमें ऐसा होता ही क्या है जो छिपाया जा सके।"

मैंने कहा—"ओफ़! कितना सफ़ेद झूठ बोल गयीं तुम। अपनी बीमारीकी बात कल तुमने मुझसे नहीं छिपायी थी? लेकिन क्या समझती हो मुझे पता नहीं लगा? मुझे सब मालूम हो गया।"

वह बोलीं—"तो क्या भला हुआ तुम्हारा? तकलीफ़ ही बढ़ी होगी।" मैंने कहा—"उससे अधिक तकलीफ़ मुझे तुम्हारे दुरावसे हुई थी।" वह बोलीं—"कितने नादान हो तुम! कोई औरत अपने पतिकी बुराई कर सकती है।"

मैंने कहा—"अगर बुरा है, तो उसे बुरा कहनेमें क्या हानि है?" उन्होंने कहा—"नहीं। पति देवता होता है। दुनियाकी निगाहमें बुरा होने पर भी औरतकी निगाहमें वह बुरा नहीं होगा। औरतको उसे बुरा कहने या समझनेका कोई हक नहीं है।"

मैं बोला—"उनकी इतनी बेरहमी पर भी तुम ऐसा कह रही हो।" उन्होंने शान्त स्वरमें कहा—"तो क्या हुआ? प्यार भी तो

करते हैं।" मैंने कहा—"व्यर्थ उनका पक्ष मत लो। तुम्हें जितना प्यार वे करते हैं मैं जानता हूँ—बेकार मुझसे कुछ कहलाओ नहीं।"

वह बोलीं—"तुम लोग नहीं समझ सकते। पति जो कुछ करता है, ठीक करता है। पतिके हाथसे कष्ट पाना भी औरतके लिए स्वर्ग है।"

मैं चुप हो गया। उसी समय जूतोंकी चरमर हुई। मैंने देखा पंडा जी सामने खड़े देख रहे थे। भाभी लेटी हुई थीं, एक गुलाबी चादर ओढ़े हुए; और मैं उनके पास ही उसी चारपाई पर बैठा था। मुझे इस तरह देखकर जैसे वे ठिठक गये और मेरे नमस्तेका बिना उत्तर दिये हुए ही सीधे अपने कमरेमें चले गये। वे गाँवसे अभी दस दिन बाद वापस आ रहे थे। मुझे इस प्रकार अपनी पत्नीकी चारपाई पर बैठे देखकर उन्होंने क्या सोचा होगा? सोचकर मैं किसी आशंकासे काँप-सा उठा और हतप्रभ-सा भाभी के मुखकी ओर देखने लगा। वह मुझे परेशान देख कुछ मुसकराकर बोलीं—"तुमसे कुछ नहीं कहेंगे। अगर-कुछ कहना होगा तो मुझसे कहेंगे। इस समय बहुत गुस्सा हो गये हैं। तुम जाओ अपने कमरेमें। मैं समझा दूँगी तो शायद सब ठीक हो जायगा।"

और मैं अपने कमरेमें चला गया। मेरा दिल काँप रहा था। सोचता था कहीं उनकी मुसीबत न करें। मुझे मालूम नहीं उस रात कैसे क्या हुआ? लेकिन दूसरे दिन सुबह जब मुझे बुलाया गया तब वे अपनी पत्नीके साथ उसी चारपाई पर चुपचाप बैठे थे। मेरे लिए पासमें कुर्सी पड़ी थी, मैं उस पर बैठ गया। कुछ दो-एक फुटकर बातोंके बाद बात ही बातमें मैंने कहा—

"मैं जबसे आया हूँ, तबसे मैं देख रहा हूँ कि इनकी तबीयत ठीक नहीं है, आप इनका इलाज कीजिए।"

वह चटसे बोलीं—"अरे ! पहले-पहल देखा है इसलिए ऐसा लग रहा है तुम्हें। यहाँ तो दो सालसे यही रफ़्तार है। थोड़ी-बहुत खराब होती है फिर ठीक हो जाती है।"

वह बोले—"कायदेसे खायें-पियें तो तबीयत काहे खराब हो। कहना मानती नहीं हैं, अंट-संट खा लेती हैं तो भुगतें। मुझे क्या करना है?"

इतना कहकर वे उठकर बाहर चले गये। इधर इनकी तबियत बहुत खराब होती गयी और इधर घरमें तमाम आवारा औरतें चुपके-चुपके बुलायी जाने लगीं। एक दिन मैंने बड़ी हिम्मत करके भाभीसे कहा—

"तुम्हें कुछ मालूम भी है?"

उन्होंने फीकी आवाज़में कहा—"हाँ, सब मालूम है। मैंने उन्हें इजाज़त दे दी है।"

मैं आश्चर्यसे उसका मुँह देखने लगा। वे फिर बोलीं—"मेरे मना करनेसे वे मानते थोड़े ही ना, और फिर मैं तो बीमार ही रहती हूँ। क्या करें बेचारे? मैं किसी लायक ही नहीं हूँ।"

मैं सन्न रह गया। मैंने ज़ोरसे कहा—"लेकिन यह बुरा है।"

वह चट-से बोल उठीं उसी धुंधली आवाज़में—"पतिके लिए कुछ भी बुरा नहीं है। फिर आदमी तो ऐसा करते ही हैं। सबके आदमी करते हैं, उन्हें सब शोभा देता है।"

मैंने कुछ खीझ कर कहा—"पर क्या यह ज़्यादती नहीं है?"

वे बोलीं—"ज़्यादती क्या है ? भगवान्‌ने उन्हें बड़ा बनाया है, मालिक बनाया है। वे सब करनेके लिए आज़ाद हैं। हम लोगों की तरह गुलाम थोड़े ही न हैं।"

मेरे जीमें एक ज़ोरका विद्रोह उठा। जीमें आया कि मैं चिल्ला कर कहूँ—"नारीकी यही अन्ध-भक्ति उसे तबाह कर रही है। सब कुछ उसका होने पर भी उसे कुछ नहीं मिलता। सब कुछ दे देने पर भी वह कुछ नहीं पाती, एक हल्का-सा प्यार तक नहीं। आज पुरुष बिगड़ता जा रहा है, दिन पर दिन उसीकी अन्ध-भक्तिके कारण उसीके लिए बुरा होता जा रहा है।" पर उनकी आँखोंके उस अडिग विश्वासके सामने कुछ कहनेकी हिम्मत नहीं पड़ी। तभी उन्होंने मुझे पुचकार कर कहा—

"तुम उन्हें दोष मत दिया करो। उनकी भी मजबूरी समझा करो।" और मैं इस वाक्यके पीछे छिपी हुई पति-पूजाकी भावना पर तिलमिला गया।

उनकी तबीयत दिन पर दिन खराब होती गयी। वह चारपाई से लग गयीं। लेकिन उनकी कोई ठीकसे दवा नहीं हुई। जब पेट में ज़्यादा दर्द होता था, ज़्यादा दस्त आते थे, पासके वैद्यजीके यहाँसे चूरन आ जाता था। उनको कुछ भी हज़म नहीं होता था। जितना थोड़ा-बहुत खाती थीं सब निकल जाता था। कम-ज़ोरी बढ़ती जाती थी, लेकिन किसीको कोई चिन्ता नहीं थी। बाहर बैठकमें वैसे ही दिन-दिन भर 'प्रकाश' जमता था, भंग छनती थी, नाच-रंग होता था, दावतें उड़ती थीं, ठहाके लगते थे।

एक दिन मैं ज़िद पकड़ गया और बिना किसीकी 'हाँ' 'न'

सुने हुए डाक्टर बुला लाया। डाक्टरने देखकर कहा—"आप लोग अब तक सोते रहे क्या? इन्हें आँतोंकी टी० बी० हो गयी है। आँतें सड़ गयी हैं। अब भी समय है किसी विशेषज्ञको फ़ौरन दिखलाइये। आँतें काटकर रबड़की आँते लगायी जावेंगी। जल्दी कीजिए, वरना हाथ धो बैठिएगा।"

डाक्टरके जाने पर वे बोले—"अरे! ये डाक्टर ऐसे ही डराया करते हैं। जिसको ईश्वर मारना चाहेगा कोई नहीं बचा सकता। बेकार है चार-पाँच हज़ार रुपया फेंकना मेरी समझसे तो।" और फिर भाभीकी ओर मुँह कर बोले—"और फिर यदि तुम्हारी इच्छा हो ही तो कोशिश कर ली जाय।"

उन्होंने दृढ़ हो कर उत्तर दिया—"बिलकुल बेकार है। जीना होगा तो जी ही जाऊँगी। तुम रुपया बरबाद मत करो। मुझे तो लगता है, कुछ भी नहीं है, सब ठीक हो जायगा, तुम घबड़ाओ मत।"

उसी दिन शामको वे १४००) की मोटर-सायकिल खरीद लाये और उस पर घूमने निकल दिये। मैं उनके पास बैठा रहा। मेरा दिल बहुत घबरा रहा था। वे बोलीं—"सुस्त क्यों हो?"

फिर अपने ही आप बोलीं—"मैं जानती हूँ तुम क्या सोच रहे हो। मैं अच्छी तरह हर बातमें उनकी इच्छा समझती हूँ, जानती हूँ वे क्या चाहते हैं, क्या नहीं। इसीलिए मैं खुद पहले से ही ऐसे काम टाल जाती हूँ, जो उनकी इच्छाके प्रतिकूल होते हैं। औरत प्यार चाहती है।" पता नहीं कैसे भरी-भरी आवाज़में

इतनी बातें उनके मुखसे टूट-टूट कर निकलीं और फिर ख़ामोश हो गयीं।

हम दोनों बहुत देर तक गुमसुम रहे। साँझ हो चुकी थी। सूरजको डूबते देख घरके उस दालानमें अन्धकार उमड़ आया था। वातावरण साँय-साँय कर रहा था। किसी मरे हुए हिरनकी पथरायी आँखोंकी तरह यह खामोशी भयानक थी। पर हम चुप थे। किसीके भी मुखसे जैसे आवाज़ निकलनेकी ताकत ही नहीं रह गयी। उस मैले बिस्तरेके, मटमैले तकियेके आकाशमें, मुझे लगता था, जैसे एक चाँद डूबता जा रहा है, उसकी रोशनी फीकी पड़ती जा रही है और अन्धकार घना होता जा रहा है। मेरे दिल में दर्दकी काली लहरें उमड़ने लगीं। आखिरकार वही बोलीं—

"सुस्त क्यों हो?"

मैं कुछ उत्तर नहीं दे पाया। बढ़ता हुआ अन्धकार सिवाय इसके कि अपनेमें ही घना हो-हो कर रह जाय, दूर डूबते हुए चाँदसे कभी कुछ कह पाया है! फिर मैं ही क्या कहता?

वो बोलीं—"खाना आज नहीं खाया है, लगता है।"

मैंने कहा—"खा लूँगा।"

उन्होंने कहा—"मुझमें तो हिलनेकी भी सामरथ नहीं है। नहीं तो बना देती।" और उनकी आँखोंसे आँसुओंकी दो बड़ी-बड़ी बूँदें बह गयीं। फिर बोलीं—उमड़े हुए तूफ़ानको शायद रोकती हुई:

"तुम कहा करते थे कि तुम तरकारियाँ बहुत अच्छी बनाते

हो। आज पराठा-तरकारी बनाओ, मैं खाऊँगी।" और एक फीकापन लिये हुए मुसकरा दीं।

मैंने कहा—"लेकिन तुम तो कहती थीं कि मैं दूसरेके हाथ का नहीं खाती।"

वह बोलीं—"लेकिन तुम अब दूसरे कहाँ हो।"

मैंने उनकी इच्छानुसार बड़े उत्साहसे खाना बनाया और उनके पास ले गया। थाली सामने रख कर बोला—"तुमने इतने मनसे कहा था, इसलिए टालनेकी हिम्मत तो नहीं पड़ी, लेकिन अगर तुम न खाओ तो बहुत अच्छा हो।"

वह बोलीं—"बेकारकी बात मत सोचो, खा-पीकर मरने दो; आखिर मरना है ही।"

मैंने कहा—"तब मैं तुम्हें नहीं खाने दूँगा।"

वह बोलीं—"अच्छा, एक ही कौर खाऊँगी।"

मैंने कहा—"नहीं," और थाली उठा कर ऊपर रख आया।

उन्होंने कहा—"यह अच्छा नहीं किया तुमने, मरते हुए आदमीके सामनेसे थाली हटा ली।"

फ़िर बोलीं—"वो तो खाना खा चुके हैं न।"

मैंने कहा—"हाँ, अपने पड़ोसी दोस्तके यहाँ खा-पीकर सिनेमा देखने गये हैं।"

तभी मेरे किसी दोस्तने बाहर आवाज़ दी, मैं चला गया और जब मैं लौट कर आया, तो मैंने देखा, उन्होंने नौकरानी द्वारा थाली मँगा ली है और तकियेके सहारे बैठी खा रही हैं। मुझे देख कर मुसकरायीं और बोलीं—

"अब तो मेरा कोई एहसान तुम्हारे ऊपर नहीं रहा न।" मेरे शरीर पर जैसे बर्छियाँ चल गयीं। उन्होंने खाकर पानी पीते हुए, एक निचिन्त स्वरमें कहा—"अब चाहे भगवान् नरकमें ही डाले, तुमसे छूआछूत मैं नहीं निबाह पायी।"

उस समयसे उनकी तबीयत और खराब होने लगी। दूसरे दिन उन्होंने हम लोगोंके साथ ताश खेलनेकी इच्छा प्रकट की। यह कुछ विचित्र था, तब भी भाई साहब लक्षण अच्छे न देख कर और अन्तिम इच्छा समझ बैठ गये। हम तीनों मुश्किलसे एक बाज़ी खेल पाये जिसमें वह हार गयीं। फिर उन्होंने एक साँस खींच कर पत्ता फेंक दिया और मेरी ओर देख कर जोरसे परेशान सी चिल्लायीं—"तुम कुछ भी कहो, मैं यह नहीं मानतीं।" पता नहीं इसके क्या अर्थ थे। उन्होंने इस हारसे क्या समझा? लेकिन मैंने इतना ज़रूर देखा जैसे उन्हें इस हारमें तकलीफ हुई है और उनकी सारी खुशी लुप्त हो गयी।

वह सुबहका समय था। फिर दिन भर उनकी तबीयत तेज़ीसे बिगड़ती ही गयी। हम लोग सब पास बैठे रहे। चूरन वाले वैद्य दवाकी पुड़िया मुँहमें डालते रहे। लेकिन शाम तक वह चल बसीं। मरते समय उन्होंने दो इच्छाएँ प्रकट कीं। वह लगभग अन्त तक बोलती रहीं, देखती रहीं, समझती रहीं, लेकिन वह खुशी जो ताश खेलनेके पहले तक थी नहीं थी। पहली इच्छा उनकी अपने पतिसे थी। जिसके अनुसार उन्होंने उनका पैर अपने पास रखवा लिया और उन चरणोंकी धूलि अपने माथेसे लगा ली। और दूसरी इच्छानुसार उन्होंने मुझे बुलवाया। मैं दूर जड़वत् बैठा था। पति

को पाससे हट जानेको कहा और उनके हट जाने पर मुझसे धीरे से बोलीं—

"मुझे तुम्हारे ऊपर बहुत यकीन है। मेरे मरनेके बाद एक काम कर देना।"

मैं चुपचाप खड़ा रहा। बोला नहीं। डर था कहीं भीतरका तूफ़ान बाहर न फूट पड़े।

वह बोलीं—"इनकी जल्दी ही किसी सुन्दर गोरी लड़कीसे शादी करा देना।"

और फिर उन्होंने अपनी बड़ी-बड़ी सुन्दर आँखें मेरी जल-भरी आँखोंमें डाल दीं और वे देखते-देखते पथरा गयीं। लेकिन पथराते-पथराते भी उन्होंने मुझसे बहुत कुछ कह दिया। काश कि वह 'कुछ' भी मेरी कलम लिख सकती, फिर मैं दुनियाको बताता कि वह हत्या थी, एक निर्दोषकी हत्या थी, एक···लेकिन नहीं कहूँगा, क्योंकि वह कह गई थीं 'उन्हें' दोष मत देना। पतिका दोष नहीं होता। लेकिन क्या उस पतिका भी नहीं, जो उनकी लाश फूँक कर घर आते समय ही राहमें नाऊसे कह रहा था—

"ठीक कहते हो तुम। घर तो उजड़ गया। जल्दी ही बसाना भी पड़ेगा। उस लड़कीसे शादी तय करो जिसे मेलेमें देखा था। कोशिश करोगे तो उसकी माँ मान जायगी। वे लोग बहुत ग़रीब हैं।"

और नाऊ कह रहा था—"अच्छा सरकार, दसवीं हो जाय ज़रा।"

"हाँ-हाँ, सो तो हो ही जायगी, लेकिन तू बातचीत अभीसे शुरू कर दे।"

और मैं श्मशानसे लौटते समय उस निर्जन मार्गमें, इन लोगों की ये बातें सुन रहा था, और दूर प्रतिपल बढ़ते हुए आधी रातके अन्धकारके बीच, आकाशके उस कोनेमें डूबता हुआ चाँद देख रहा था। एक चाँद तो डूब ही गया। लेकिन दूर उन टिम-टिमाते हुए घरोंमें, ऐसे कितने ही चाँद डूब जाते होंगे—और उनकी चाँदनी किसी अँधेरे कोनेमें, अन्धभक्ति और अत्याचारकी परतोंमें घुट-घुट कर दफ़न हो जाती होगी।



सोनेके पूर्व

इस समय आधी रात बीत चुकी है। इस कमरेकी दीवारों पर ख़ामोशी ऊब-सी रही है। मैं चाहती हूँ कि मुझे नींद आ जाय, लेकिन इतनी हल्की-सी चाह भी आदमीकी यहाँ पूरी नहीं होती। मुझे अपने ऊपर ग़ुस्सा आता है, उन हवाके अलसाये हुए झोंकों पर ग़ुस्सा आता है, जो रह-रह कर बाहर बरसती हुई बरसातकी रंगीन नशीली फुहार चुराकर कभी-कभी मेरे ऊपर डाल मुझे गुदगुदा जाते हैं। कई बार मुझे ऐसा लगता है कि मुझे नींद लगभग आ गयी है और अब मैं कोई मधुर सपना देखने वाली हूँ। अपने थके हुए हाथ-पैर, थकावटके मीठे-मीठे दर्दसे चूर शरीरका ज्ञान अब मैं खो चुकी हूँ। केवल मेरी आँखें इस कोमल शय्या पर छाये हुए अन्धकारमें कुछ खोज रही हैं। बिल्कुल पास सिरहाने स्टूल पर एक जार रखा है, उसका पानी कभी लाल, कभी नीला, कभी पीला-सा लगता है। बुलाता हाथ, आमलेट, समोसा, चायके प्लेट और इसी तरह चम्मच और काँटोंकी खटपट, ट्रन्न झन्नकी हल्की आवाज़ भी बीच-बीचमें एक-एक करके आ जाती है। और फिर वही जार कभी छोटा, कभी बड़ा, कभी लाल, कभी नीला, कभी पीला, फिर लाल हो जाता है; और वह लाल पदार्थ ऊपर उठ रहा है। धीरे-धीरे और नीचे-नीचे वह जार भी उठ रहा है, अँधेरे-से घिरा हुआ वह तेज़ीसे नाच रहा है। उसका रंग जल्दी-जल्दी लाल, हरा, नीला, पीला बदलता जाता है, फिर अचा-

नक गिर पड़ता है। फ़र्श पर गिर कर टूटनेकी ज़ोरकी झनझनाहट आती है और मेरे ऊपर ढेर-सा पानी छलक कर गिर जाता है। चौंक कर मेरी आँख खुल जाती है, देखती हूँ भींगी हवाका एक झोंका खिड़की के दरवाज़ेको भड़भड़ा गया है और मेरे ऊपर एक फुहार डाल गया है। मैं चाहूँ तो खिड़की बन्द कर सकती हूँ, मेरा कपड़ा और बिस्तरा भींग चला है, पर यह फुहार अच्छी भी तो लगती है। फिर उठूँ कैसे ? हाथ हिलाने तकको जी नहीं चाहता है। लगता है, जैसे जान नहीं है, शरीर शिथिल है; निर्जीव है। कई बार मैंने कोशिश की है खिड़कीके शीशे लगे दरवाज़ोंको बन्द करनेकी, जो हवाके इशारे पर खुलने और बन्द होने पर चौखट और दरवाज़ोंसे टकरा कर झनझना पड़ते हैं, पर हिल-डुल जो नहीं सकती हूँ। ऐसी हालतमें हवाके कारण अपने-आप दरवाजोंके बन्द हो जाने पर मुझे खुशी होती है और फिर यह सोचती हुई कि अब कोई झोंका नहीं आयेगा, मैं आखें बन्द करने लगती हूँ। जिस रेस्तराँमें मैं आजसे काम करने लगी हूँ, उसके मालिकका चेहरा मेरी आँखोंके आगे बनने लगता है। मुझे यह बुरा लगता है क्योंकि मैं सोना चाहती हूँ; इसलिए कुछ खीझ कर मैं पलकें खूब ज़ोरसे दबाती जाती हूँ, उन्हें क्रमशः और ज़ोरसे दबाती जाती हूँ, यहाँ तक कि पुतलियाँ दर्द करने लगती हैं और फिर आँखें शिथिल हो जाती हैं, लेकिन उसकी शक्ल मिटती नहीं। गोरा-गोरा चेहरा, पिचके गाल, माथेके बायीं तरफ़ सूखे-सूखे गिरे हुए बाल, मत्थे पर तीन सलवटें जिनमें कभी गुस्सा और कभी परेशानी, मोटे-मोटे ओठ, जो मालूम पड़ते हैं उसके चेहरे पर

अलगसे जोड़े गये हैं। कभी-कभी वे दाँतोंसे दबाये जाते हैं, लेकिन दाँतोंकी पकड़में एक चौथाई ही आ पड़ते हैं। कभी-कभी मुसकराते हैं। ऐसे अवसर पर वे और भी भद्दे लगते हैं। ओफ़! ये भद्दे ओंठ मेरे सामने क्यों आ रहे हैं? हे भगवान्, इन्हें हटा लो मेरे सामनेसे। पर ये और-और स्पष्ट होते जा रहे हैं। उनका आकार भी बड़ा होता जा रहा है। अब ये बहुत बड़े हो गये हैं। मेरी आँखें दर्द करने लगी हैं, लेकिन ऐसा लगता है जैसे ये पत्थर के होकर पलकों पर जम गये हैं। इतना बड़ा आकार देखकर मुझे हँसी आती है, नहीं, भय लगता है। ओफ़! यह चायका सफ़ेद प्याला उसके ओठोंके सामने कितना छोटा लगता है। जैसे दूध पीते समय एक हल्की-सी सफ़ेदी उसके ओठोंके एक कोनेमें रह गयी हो। पत्थरको दो बड़े पाटसे उसके ओंठ अब खुल रहे हैं। मैं नहीं चाहती ये खुलें, कोई उन्हें हटाओ, मुझे बचाओ! वे खुल गये, मुझे डर लग रहा है, आवाज़ भी निकल रही है—

"तुम्हारा नाम!" कैसी कर्कश, नीरस, अधिकारके गर्वसे भरी आवाज़! मैं इतनी भयानक आवाज़का उत्तर नहीं दूँगी, नहीं दूँगी। पर लगता है जैसे मैं काँप रही हूँ, उत्तर दे रही हूँ।

"मिस मोना फ़ास्टर", मेरी आवाज बहुत काँपी है। "मिस! ऐंग्लो इंडियन। बहुत अच्छा! बहुत खूब।" ओफ़! यह आवाज़! यह भद्दी मुसकान! मैं नहीं बरदाश्त कर सकती। उसके इन बड़े-बड़े ओठोंकी मुसकानमें उसकी छोटी-छोटी धूर्ततासे भरी आँखें भी अब फैल गयी हैं। वे आँखें कुछ और चमकी हैं, वे ओठ कुछ सिकुड़ कर और खुले हैं।

"नब्बे रुपये माहवार !" आवाज़ और कर्कश, नीरस, भयानक पर पता नहीं क्यों शब्द मीठे लग रहे हैं। जी में आता है एक बार वह यह वाक्य फिर दुहरा दे। पर—

"काम समझ लो !" और मैं यह सब नहीं समझना चाहती। काम, रेस्तराँमें, ईश्वर बचावे। किसी तरह यह सब मेरी आँखोंसे हट जाता। लगता है मैं पूरी ताकतसे पत्थरके उन ओठोंको हटा रही हूँ, पर वे इतने भारी हैं कि हटते नहीं। नहीं—वे खिसक गये हैं, क्योंकि मेरे हाथ दर्द करने लगे हैं और आँखोंके सामने यह रेस्तरांकी नीली-नीली दीवार आ गयी है। मेरी आँखें देखती हैं और समझती हैं कि खुली हुई हैं। मैं बार-बार जल्दी-जल्दी अपनी आँखें खोलती और बन्द करती हूँ, पर क्या करूँ मेरी पलकें बहुत भारी लगती हैं। हाँ ! अब यह नीली दीवार खो गयी है और मेरी आँखोंके सामने कमरेका अन्धकार भी खामोश है। घना अन्धेरा, आँखें खुली-की-खुली हैं। एक हल्की-सी कोशिश की मैंने पलक बन्द करने की, पर लगता है जैसे वे हिलती ही नहीं; और मेरी आँखें खुली हैं और उनके सामने घूम रहा है घना अन्धेरा, जिसकी गति हर क्षण तेज होती जा रही है।

कानोंके पास एक सूँ-सूँकी आवाज आ रही है। मैंने समझनेकी कोशिश की। यह बाहरकी तेज़ हवा है जो सुनाई दे रही है। पर यह आवाज़ और तेज होती जा रही है। जी में आता है कि कान बन्द कर लूँ, पर हाथ हिलानेकी तबीयत नहीं करती। वे हिलते ही नहीं। अँधेरेका नृत्य आँखोंके सामने अब धीमा होता जा रहा है। लेकिन आवाज़ तेज़ होती जा रही है और हवाका

एक ज़ोरका झोंका आया। खिड़कीके दरवाजे भड़से खुल गये। पानीकी बहुत बड़ी-बड़ी बूँदे बिस्तर पर आ गिरीं और गिरती रहीं। हवा तेज़ीसे आ रही है, अपने असंख्य पंखों पर पानीकी कभी-कभी छोटी-छोटी और कभी-कभी बड़ी बूँदें लादे हुए। पानीकी बौछार ज़ोरसे आ रही है और लगातार मेरे ऊपर पड़ रही है। मैं भीग रही हूँ, बिस्तर भीग रहा है, पर यह विचार बनने भी नहीं पाता कि एक थकावटके घने कुहासेमें छिप जाता है और मैं भूल-सी जाती हूँ। इस समय केवल मुझे बड़ी तेज़ आवाज़ सुनाई पड़ रही है। शायद आँधी भी आ गयी है। इस तेज़ आवाज़में एक मोटी आवाज़ भी सुनाई देने लगी।

"तुम्हारा काम है मुसकरा कर लोगोंके पास जाना और पूछना, आप क्या चाहते हैं ?" यह वही आवाज़ है जिसके सुननेसे मैं मरना बेहतर समझती हूँ, पर लगता है जैसे मैं कह रही हूँ 'अच्छा'।

आवाज़ तेज़ होती जा रही है और बार-बार मुझे सुनाई देता है, "तुम्हारा काम है मुसकराना, तुम्हारा काम है मुसकराना··· मुसकाराना-मुसकराना।" यह आवाज़ तेज़ और तेज़ तथा पतली होती जा रही है, इस आँधीके शोरमें जो मैं सुन रही हूँ। मेरे हाथ-पैर पर अब लगता है जैसे कोई हथौड़े मार रहा है। दर्दके मारे मेरी भारी पलकें झँपने लगती हैं। कानोंमें गूँजती हुई आँधीकी आवाज़ अब धीरे-धीरे कम होने लगी है। पर वह पतली आवाज तेज़ होने लगी है, फिर वही नीली-सी दीवार। तेज़ प्रकाश, रंग-बिरंगे कपड़े वाले आदमी, कहकहे, अट्टहास बातचीत, गाना, फुसफुसाना, विचित्र-विचित्र स्वर, चम्मच-काँटोंकी खटपट,

चाय, काफ़ी, टोस्ट, आमलेट, घूमती हुई तश्तरियाँ, बार-बार मैनेजरकी घंटी, यह लाओ, वह लाओ, वहाँ जाओ, उनसे पूछो, पैसोंकी खनखन, मैनेजरकी मेज़ पर सिगरेटका धुआँ, लोगोंकी मेरी ओर घूरती हुई आँखें। सब तेज़ीसे मेरे दिमाग़के अन्दर घूम-सी रही हैं। पूरा रेस्तराँ घूम रहा है, कमरा घूम रहा है, मैं खुद घूम रही हूँ, चारपाई घूम रही है। ओफ़! यह सब क्या हो रहा है? जीमें आता है मैं चिल्लाऊँ, बड़ी ज़ोरसे चिल्लाऊँ, पर मेरी आवाज़ नहीं निकलती। मुझे चक्कर आ रहा है। लगता है मैं आसमान से ज़मीन पर गिर रही हूँ। सन्-सन् सूँ-सूँ की आवाज़। बीच-बीच में वह मोटे ओठ और फिर भारी स्वर—"तुम मुसकराना नहीं जानती, कल सीख कर आना, अगर काम करना हो।" मैं तिल-मिला उठी हूँ। नीच, कुत्ता! मुसकराना सीखकर आओ! मैं नहीं आऊँगी। नहीं काम करूँगी। पर यह आवाज़ गूँज रही है आँधी की तरह, तूफ़ानकी तरह मेरे कानोंमें—

ओफ़! मैं सोना चाहती हूँ। किसी तरह नींद आ जाती। पर नहीं आवेगी शायद! नहीं; आवेगी, ज़रूर आवेगी। ओफ़!

इस समय लगने लगा है जैसे सारा तूफ़ान ख़ामोश हो गया है। धुँएके गहरे कड़वे बादल, मस्तिष्कमें घुट-से रहे हैं। अब भी सब चीज़ें घूम-सी रही हैं, लेकिन उनका आकार धुँधला और गति शिथिल-सी होती जा रही है। मैं तो चाहती हूँ कि उनका आकार बिलकुल मिट जाय—और सब शान्त हो जाय। तन्द्राकी लहर पर उनींदे स्वरमें कोई स्वप्नोंका गीत एक हल्की कम्पन-सी लहरा कर रजनीकी कालिमाकी तरह मुझपर फैला दे और मैं मुक्ति पा

जाऊँ इन कष्टके क्षणोंसे। पर मैं देखती हूँ इस घूमती हुई धुँधली दुनियामें एक शीशेका आकार स्पष्ट और बड़ा होता हुआ मेरे सामने आ रहा है और इसमें मुझे अपना मुँह स्पष्ट दीखने लगता है। सिगरेटके धुएँसे छल्ले बना-बना कर अंगड़ाई लेकर मँडराते हुए मेरे भूरे बाल। भरे हुए गौर मुख-मण्डल पर मचलती-सी चाँदनी-भरी श्वेत आभा, नील सिन्धु पर उड़ती हुई जवान ख़ामोशी-सी शराब-भरी आँखें और उस छविके सागरमें मूँगियापरी-सी तैरती हुई मुसकान। रूप मुझे अच्छा लगता है, पर देखनेको जी नहीं चाहता; और इस समय यह कितना अच्छा है कि मेरी शक्ल धुँधली होती जा रही है और उसके स्थान पर बड़ी तेज़ीसे प्यारे एलेककी मुखाकृति बनने लगी है। शीशेके चौखटे धुँधले होकर फूलों-भरी मस्त लताओंमें और शीशा बदलकर एक झूलों-भरे कुंजमें बदल गया है। जीमें आता है इस कुंज और लताओंकी जवानीके बीच लहराते हुए सस्मित एलेककी ओर अपलक निहारती रहूँ। उसके संगीत भरे ओंठ खुल रहे हैं और वह कह रहा है :—

"तुम बड़ी गम्भीर हो। मुसकराना तक नहीं जानती।' 'मेरी आकृति पता नहीं कैसे एक सफ़ेद फ्राक पहने वहाँ खिंच गयी है। मैंने हाथ बढ़ाकर लाल पंखों वाली एक तितली पकड़ ली है, और उसके नाज़ुक पंखोंको कसकर ओठोंसे दबा लिया है। एलेककी आँखें परेशानीसे चमक रही हैं। मुझे हँसी आ रही है—मैं खिल-खिला कर हँस पड़ी हूँ। अधर खुल गये हैं और तितली उड़ गयी है। अपने रूमालसे मेरे ओठों पर तितलीके पंखके लगे लाल रंग-को पोंछता हुआ एलेक कहता है—

"तुम्हारी मुसकानमें बड़ी कला है।" इतना कहते-कहते उसकी मुखाकृति मिट चली है। मैं नहीं चाहती कि यह आकृति मिटे, पर वह मिटती जा रही है। मैं आँखें फाड़कर देखना चाहती हूँ, लेकिन वह धुँधली होती जा रही है और अब उसके स्थानपर एक साथ कई आकृतियाँ बनने लगी हैं। उनकी वक्र रेखाओं ही से मालूम पड़ रहा है जैसे वे बहुत कुरूप हैं। अब कुछ-कुछ स्पष्ट खिंच रही हैं वे। ओफ़! ये आकृतियाँ क्यों आ गयीं मेरी आँखोंके सामने! ये आकृतियाँ उन लोगोंकी हैं जो इस रेस्तराँ में आते हैं। बड़ी-बड़ी काली दाढ़ी, उलझे बाल, रूखा कुम्हलाया चेहरा, भद्दे सिकुड़े हुए ओठ जो खुले हैं और जिनमेंसे ढेर-सा सिगरेटका धुआँ निकल रहा है और आवाज़ आ रही है, 'काफ़ी एक पाट, आमलेट एक प्लेट' और उसकी आँखें घूरने लगी हैं मेरी ओर। अब उसका चेहरा धुँधला होता जा रहा है। केवल मुखसे निकले हुए धुएँके घने बादलोंके पीछेसे उसकी आँखें घूर रही हैं। उन्हीं घूरती हुई आँखोंकी बगलसे दो कीचड़-भरी छोटी-छोटी आँखें मुझे घूरने लगी हैं जिनके चारों ओर रेखाएँ खिंच रही हैं, पिचके-पिचके गाल, सूखा झुर्रीदार चेहरा, कमज़ोरीके कारण कालापन और उस चेहरेमें खुले हैं उसके काले होंठ जिनमेंसे गन्दे पीले-पीले दाँत निकल पड़े हैं और वह मेरी ओर देखकर मैनेजरसे कह रहा है—'ह्वाट ए वल्गर स्माइल, मैनेजर' और इतना कहकर वह फिर मेरी ओर घूरने लगा है। अब मेरे लिए असह्य हो रहा है इन आकृतियोंको देखना। मेरी आँखोंके सामने इसी तरहसे बहुत भद्दी-भद्दी मुखाकृतियाँ खिंचती जा रही हैं। मुझे डर लग रहा है। जी में आता है मैं ज़ोरसे चिल्लाऊँ पर आवाज़ जो नहीं

निकलती और ये मुखाकृतियाँ छोटी-बड़ी अनेक आकारोंकी होकर मेरी आँखोंके समक्ष छाये हुए अन्धकारमें मँडराती हुई मुझे डरा रही हैं। इनकी संख्या बढ़ती ही जा रही है। प्रत्येक आकार जल्दी-जल्दी परिवर्तित होकर और भयानक होता जा रहा है। उस अन्धकारकी पृष्ठ-भूमिपर जिनमें ये चेहरों नाच रहे हैं, केवल तमाम वासनासे भरी हुई अनेकानेक आकारोंकी आँखें स्पष्टतया चमकती हुई मेरी ओर घूर रही हैं। लगता है उनकी वासनात्मक चमक मेरे अङ्ग-अङ्गपर छुरियाँ चला रही है। मैं तिलमिला उठती हूँ, मानो ये खा जायँगी मुझे। मैं काँप रही हूँ और वे चमक रही हैं और भयानक होकर। कानोंमें एक आवाज़ घूम रही है, तड़प रही है, गरज रही है, 'तुम्हारा काम है मुसकराना' 'मुसकराना'। भयसे मैं सूख रही हूँ। मैं चाहती हूँ किसी तरहसे ये हट जायँ या मेरे प्राण निकल जायँ। ये घूरती हुई भयानक आँखें इस अन्धकारमें अङ्गारों-सी जल रही हैं। मुझपर बरस रही हैं। मैं जल रही हूँ, तड़प रही हूँ, लेकिन यह आवाज़ आती ही जा रही है 'तुम्हारा काम है मुसकराना···मुसकराना।'

शायद आजकी रात मैं सो नहीं सकूँगी, मर सकूँगी या नहीं यह भी नहीं कह सकती। इतना तो लगता है जैसे मैं अधमरी हो गयी हूँ। ये आँखें इस अन्धकारमें नाचती ही जा रही हैं। इनकी भयानकता बढ़ती ही जा रही है। सहस्रों बिच्छुओंके डंक बन-बन कर ये मुझे मार रही हैं। मैं जी रही हूँ, देख रही हूँ ज़बरदस्ती, परवश, अकेले असहाय, और यह आवाज़ प्रतिक्षण गूँजती जा रही है—"तुम्हारा काम है मुसकराना···मुसकराना···।"



कमला मर गयी

"सुना है कमला मर गयी।" माँ ने अपने उस लम्बे-चौड़े खतमें जिसमें उसने तमाम इधर-उधरकी बातें लिखी हैं, एक कोने में यह भी लिख दिया है। जैसे इसके लिखने की उसने कोई ज़रूरत न समझी हो और पता नहीं कैसे यह लाइन उसकी कलम से निकल पड़ी हो। आकाशके अनन्त नक्षत्रोंके बीच जैसे किसी तारेके टूटने पर कोई कह पड़े "देखा नहीं तुमने, अभी एक तारा टूटा था" और फिर अपने काममें लग जाय। एक बात थी जो सूचनाके रूपमें निकल पड़ी। उसके पीछे कोई विचार, कोई गहरी अनुभूति, कोई सहानुभूति नहीं, केवल एक सूचना—सूचनामात्र!

मैंने यह पंक्ति पढ़ी। कई बार पढ़ी। कई ढंगसे पढ़ी, विभिन्न स्वराघात दे-देकर पढ़ी। सम्भव है कोई दर्द, कोई हल्की सहानुभूति इसके पीछे मिल ही जाय पर लगता है सब निरर्थक है। इस पंक्तिके पड़े रहनेमें या निकाल देनेमें खतका कहीं कुछ बनता-बिगड़ता नहीं, वह अपनेमें पूर्ण है और मेरी ज़िन्दगी भी है, ठीक इस पत्रकी तरह। कमलाका नाम कहाँ किस कोनेमें था बहुत आँखें गड़ाकर देखने पर, मस्तिष्क पर ज़ोर डालने पर ही पता लगता है; उसके 'रहने' ने इस लम्बे-चौड़े जीवन पर कहीं कोई प्रभाव नहीं डाला और आज उसके 'न रहने' ने कहीं कुछ ऐसा नहीं किया कि उसकी कुछ कमी खटके। लेकिन कमला 'मर गयी'। यद्यपि यह 'मर जाना' शब्द मैं दिन भरमें सैकड़ों बार सुनता हूँ

पर—बेकार प्रभावहीन पर—कमलाके साथ इस 'मर जाने'का सम्बन्ध कुछ अजीब लगता है। लगता है मर गयी तो कोई बात नहीं, लेकिन अगर न मरती तो अच्छा था। यही औरोंमें और कमलामें मेरे लिए भेद है। जब ज़िन्दा थी, इस दुनियामें रहकर भी वह मेरे लिए नहीं थी, लेकिन आज मर जाने पर जैसे वह मेरे लिए कुछ हो गयी हो। जब तक वह ज़िन्दा थी मैंने कभी उसके लिए कुछ नहीं सोचा लेकिन आज जब वह मर गयी है, मैं उसके लिए कुछ सोच रहा हूँ। उसकी ज़िन्दगीने तो नहीं, लगता है उसकी मौतने कहीं थोड़ा बहुत उसको मुझसे बाँध दिया है।

एक घना कोहरा है मेरी आँखोंके आगे, जिसमें मैं उससे सम्बन्धित स्मृतियाँ टटोल रहा हूँ। एक घटना पकड़में आ रही है। मुझे आश्चर्य है कि यह घटना आज तक मुझे याद क्यों है? आजसे लगभग बारह वर्ष पूर्वकी बात है, जब मैं नौ या दस वर्षका रहा हूँगा, कमला का परिवार मेरा पड़ोसी था। मेरे घरसे लगभग दो फर्लांगपर उसका घर था। उसकी माँ और मेरी माँ में बहुत पटती थी और अक्सर वे लोग एक-दूसरेके यहाँ आया-जाया करती थीं। यही कारण हमारे उसके सम्पर्कमें आनेका था। यों बच्चोंका सम्पर्क परिवारकी अपेक्षा अधिक शीघ्र और गहरा हो जाता है फिर वह तो मेरी समवयस्का भी थी। खेल-कूदमें हम लोगोंको बहुधा एक-दूसरेकी ज़रूरत पड़ती थी। मैं स्वभावसे ही गम्भीर था और जितना ही मैं गम्भीर था उतनी ही वह चञ्चल थी। शामका समय था। मेरा मकान बहुत छोटा खपरैलका था और वह भी एक गलीमें। इसीलिए प्रकाश जल्दी बिदा ले लेता था। मैं बैठा

पढ़ रहा था। मेरा शिक्षक कोयलेसे भी अधिक काला था अतः अँधेरा छाते ही मैं लालटेनकी प्रतीक्षा करने लगता था क्योंकि मुझे उसे देखकर डर लगने लगता था। उस अँधेरेमें उसके काले-काले चेहरेमें उसके सफेद दाँत रह-रहकर चमक उठते थे, जब वह मुझे हिसाब लगाते समय कहीं गुणाभागमें गलती करनेपर डाँटता था उस समय मुझसे ज़रूर ग़लती होती थी और साधारण गलतियों पर जब वह मेरे कान पकड़कर चिल्लाता था तब मैं आँखें बन्दकर चीख उठता था, दर्दसे कम लेकिन माँ द्वारा सुनायी हुई राक्षसोंकी कहानी याद करके अधिक। ऐसे अवसरोंपर मैं हिसाब भूलकर भगवान्‌की याद करने लगता था। उस दिन ऐसा ही अवसर था जब मैं भगवान्‌की याद कर रहा था। वह मेरे कान ऐंठ रहा था और कमरेमें अँधेरा छा गया था। तभी कमलाके पिता आये थे। उन्होंने कहा—'मास्टर साहब ! ज़रा इसे दो मिनटकी छुट्टी तो दे दीजिए'। मैं प्रसन्न हो उठा, यह सोचकर कि भगवान्‌ने मेरी पुकार सुन ली। लेकिन मैं ज्योंही कमरेके बाहर प्रकाशमें आया, मैं उनका चेहरा देखकर काँप उठा क्योंकि वह क्रोधसे तमतमा रहा था। मैं बहुत डर गया और खड़ा होकर शायद सज़ाकी प्रतीक्षामें अपराधी-सा उनकी ओर देखने लगा। मुझे रुकते देखकर वे बड़े कड़े स्वरमें बोले—"आइये आइये, रुक क्यों गये ?" और वे तेज़ीसे चल पड़े एक ओर गलीमें जिसमें उनका घर था। कुछ तो डरसे और कुछ छोटा होनेके कारण मैं पिछड़ जाता था लेकिन उनकी निगाह घूमते ही मैं दौड़कर उनका साथ पकड़ लेता था। रास्ते भर वे मुझसे कुछ नहीं बोले, लेकिन

वह दो फर्लांगका रास्ता मेरे लिए कितना कष्टदायी रहा होगा, इसका अनुमान इसीसे किया जा सकता है कि वह आज तक मुझे याद है। उस गलीमें जिसमें अँधेरा उमड़ रहा था और मच्छर सूँ-सूँ कर रहे थे, मैं कितनी बेचैनी लिये भाग रहा था, यह मैं आज भी नहीं भूलता। सोचता था कहीं कमलाने शिकायत तो नहीं कर दी है। कैसी शिकायत करेगी वह ? मैंने उसे मारा तो है नहीं। फिर इधर मुझसे उससे झगड़ा भी तो नहीं हुआ। कभी सोचता था शायद उसे कहीं चोट लग गयी हो और उसने खुद बचनेके लिए मेरा नाम लगा दिया हो। कभी सोचता, हो सकता है उससे कुछ नुकसान हो गया हो, कोई चीज़ टूट गई हो, कोई चीज़ खो गयी हो या कोई चीज़ उसने चुराकर खा ली हो और खुद सज़ासे बचनेके लिए उसने मेरा नाम लगा दिया हो। बस इतनी ही मेरी उस समयकी मानसिक परिधि थी। इसके आगे मैं नहीं सोच सकता था। परेशान और डरा हुआ, जब मैं मकान में पहुँचा तो मैंने देखा, मकानके बड़े आँगनमें चारपाईपर उसकी माँ बैठी पानदान बन्द कर रही हैं। एक पतली छड़ी पासमें रखी है। कमलाके हाथ बँधे हैं और वह ज़ोर-ज़ोरसे सिसकियाँ भर रही है जैसे उसने बहुत मार खायी हो। उस समय उसे देखकर मुझे तरस नहीं आया, बल्कि मैं और डर गया। उसके पिताने कहा—

"लो इससे पूछ लो।"

माँने बड़े इतमीनानसे कहा, "तुम्हीं न पूछ लो।"

"मैं क्यों पूछूँ ? तुम्हीं अपनी बिटियाकी बहुत तरफ़दारी करती हो। तुम्ही पूछो न !" और इतना कहकर वे तेज़ीसे घूमने लगे।

थोड़ी देरके लिए सन्नाटा छा गया। सब चुप थे। केवल कमला सिसकियाँ भर रही थी। कोनेका अमरूदका पेड़, आँगनकी नीची-नीची दीवारें, अँधेरेसे भरा हुआ बरामदा, पिंजड़ेमें टँगा हुआ तोता सब मेरी तरह सहमे-सहमे नज़र आ रहे थे। मैंने कई बार उसकी ओर आँखें उठायीं लेकिन वह आँखें नीची किये रोती ही जा रही थी। उस ख़ामोशीसे मेरा डर बढ़ता जा रहा था, मेरी टाँगें काँप रही थीं। आखिरकार उसकी माँ बोली बड़े प्यारसे—

"बेटा, तू कल यहाँ आया था। सच-सच बोलना!" पता नहीं क्यों मेरे मुँहसे आवाज़ नहीं निकली। वे फिर बोलीं—

"जब हम और तारा तेरे घर गये थे, तब तुम और कमला साँकल खोलकर चुपचाप मकानमें आये थे। झूठ मत बोलना। महरिनने सब देख लिया है। वह बता रही थी।"

मैंने कहा, "जी हाँ।"

उनके बाप बोले—"तुमसे किसने कहा था आनेके लिए?" उनकी आवाज़ बहुत कड़ी थी। घबराकर छूटते ही मैंने जवाब दिया "कमलाने"। क्यों? यह मैं आज तक नहीं समझ पाया। शायद मेरे दिलमें डर रहा हो कि कहीं मेरे ऊपर न कोई आफ़त आ जाय। उसके पिता मेरा उत्तर सुनकर ज़ोरसे चिल्लाये—

"देख लिया, अपनी लड़कीकी करतूतें!" और उसकी ओर घूर-घूरकर तेज़ीसे घूमने लगे।

माँ बोली, "क्यों बुला लायी थी।"

मैंने कहा, "यों ही खेलने।"

उन्होंने फिर पूछा, "क्या खेलने?"

मैंने फ़ौरन जवाब दिया, "घरौंदा।" क्योंकि ये दोनों बातें ही सही थीं। दीवाली समीप थी। हम लोग घरौंदे बनाते थे। मैं हमेशा कागज़, चमकीली पन्नी और दफ़्ती आदिका घरौंदा बनाता था। मेरे पिताकी दूकानपर अक्सर शीशेकी पैकिंगमें चीड़के बक्स आते थे, जिन्हें वे एकके ऊपर एक रखकर कीलें जड़कर आलमारी-सी बना देते थे। सामने झालर, दफ्तीके दर, नीले लाल कागजों की फूल-पत्तियाँ, सुनहरी रुपहली पन्नियोंके सिंहासन आदि और इस प्रकार मेरा घरौंदा सजता था। माता-पिता भी थोड़ा-बहुत हाथ बँटा देते थे। दीवाली खत्म होनेके बाद खिलौने निकाल दिये जाते थे और हम इनमें किताबें रखते थे। कमलाने भी घरौंदा बनाया था लेकिन मिट्टीका। दो कोठेका घरौंदा था उसका जो दालानमें एक कोनेमें बना था। लम्बे-लम्बे ईंटे रखकर उसने दीवार बना ली थी, उस पर मिट्टी चढ़ा चूनाकारी भी हो गयी थी। बीच-बीचमें गेरू घोलकर उसने फूल-पत्तियाँ बनायी थीं। चाँद-सूरज-तारे आदि घरौंदेके ऊपर दीवार रूपी आकाशमें बने थे। उस दिन मेरे घर पता नहीं क्या था। तमाम औरतें आयी थीं। कमला, उसकी बड़ी बहन और माँ भी आयी थीं। सब लोग जब अपने-अपने काममें लगे थे, मैं कमलाको अपना घरौंदा दिखा रहा था और समझा रहा था, कैसे उसमें पीतलकी घंटी लगेगी, वह जब बजेगी तब भगवान्‌के खानेका समय होगा। भीतर कहाँ दीया जलेगा और कब ज़्यादा रात हो जाने पर भगवान् सोयेंगे। कहाँ लक्ष्मी जी सोयेंगी, कहाँ गणेश जी सोयेंगे। कौन-सा तकिया, चादर लक्ष्मी जी का है और कौन-सा गणेशजी का, आदि-आदि।

मेरे घरौंदेको देख-देख उसके मनमें अपना घरौंदा भी दिखलानेकी उत्कंठा बढ़ रही थी। उसके घरौंदेके लिए जब मिट्टी और गोबरका ढेर पड़ा था तब मैंने देखा था। उसके बादसे मैं उसके यहाँ नहीं गया था। स्कूलके बाद घरका काम करना पड़ता था। नौकर था नहीं। गली पार करके ही बाज़ार था अतः सुबह-शाम हल्दी-धनियाँ, नमक, कडुआ तेल, तरकारी आदि जो कम पड़ता था, लेने जाना पड़ता था। दुकानें परिचित थीं, ले आता था। शामको मास्टर और खाली समय घरौंदेमें जुटते थे। ऊपरसे माता-पिता कड़ी निगरानी रखते थे। घरसे बाहर निकलने नहीं देते थे। उनका ख्याल था इधर-उधरके लड़कोंके साथ खेलकर मैं खराब हो जाऊँगा, गाली सीख जाऊँगा इत्यादि। खैर, मैं कमलाका घरौंदा नहीं देख सका था। उसने कहा, "चलो मेरा घरौंदा देख आओ। तुमसे तो अच्छा नहीं है लेकिन मेरे गणेश जी तुम्हारेसे बहुत अच्छे हैं।" मैंने कहा, "चल"।

और हम लोग किसी तरह साँकल खोल घरमें, सुनसान अकेले घरमें घुस गये थे। घरौंदेके सामनेकी चारदीवारीमें एक बोरा बिछा था जिस पर उसने अपनी माँकी कोई फटी धोती डाल ली थी, उस पर हम लोग बैठे थे और मैं उसके गणेश जीको देख-देखकर हँस रहा था। कह रहा था, "गणेश है या घोंघामल, तोंद निकली है उसकी"। और उसकी मिट्टीकी घंटी बजा मैंने कुछ सन्ध्याके मन्त्र पढ़े जो मुझे सात वर्षकी उम्रमें ही रटा दिये गये थे। माता-पिता आर्यसमाजी थे, वैदिक सन्ध्या पूरी-पूरी रटा दी थी और मैं एक ईश्वर-भक्तकी तरह कड़े नियमसे छोटी घंटीमें पानी

रख पूजा करता था ! और उसके बाद दरवाजा खुला देख महरिन काम करने आयी थी और हम लोग उठकर चले गये थे। कुल इतनी ही बात थी। लेकिन उनके पिता मेरा "घरौंदा," उत्तर सुनकर ज़ोरसे चिल्लाये, "वह सब मैं जानता हूँ।" और फिर अपनी पत्नीसे बोले—

"वह तो मैं पहले ही जानता था। यह सब उसकी ही शरारत है, अभी दस वर्षमें ही उसके ये हाल हैं। बदमाश, चुड़ैल कहीं की। टांग तोड़ दो उसकी जो यह कलसे घरसे बाहर निकले।" उनकी माँ कुछ नहीं बोली, केवल मुझसे इतना कहा, "जाओ"। मैं मुक्ति पाये पंछीकी तरह भागा। एक लम्बा दालान पड़ता था दरवाज़े तक पहुँचनेमें। जब मैं दरवाज़े तक पहुँचा तो कमलाके चीखकर रोनेकी आवाज सुनाई दी। मैं रुक गया। मैंने उसके गाल पर पड़ी हुई ज़ोरकी चपतकी आवाज सुनी और उसके बाद उसके पिताकी ज़ोरसे गरज, "मैं पूँछता हूँ आखिर कोनेमें छिपी घरौंदेमें बैठी उसके साथ क्या कर रही थी"। इतना सुनकर मैं चला गया। मैं उस समय यह न समझ सका कि आखिर हमने क्या गुनाह किया था, उनका क्या मतलब था। पर आज बात समझमें आती है और उनकी बेवकूफ़ी पर तरस भी आता है। उसके बाद लगभग दस दिन बाद मेरी कमलाकी मुलाकात हुई, वह बहुत गम्भीर थी। उसकी चंचलता पता नहीं कहाँ उड़ गयी थी। वह माँ के पास अपनी बड़ी बहनके साथ कुछ लेने आयी थी। मेरे कमरेमें भी वह आयी। मैं नयी-नयी कापियों पर कागज़ चढ़ा रहा था। मेरे पास वह खड़ी रही चुपचाप खामोश। मैं भी चुप-

चाप था। यद्यपि उसे देखकर दिल उछल रहा था। उसने पूछा—

"तुम्हें तो नहीं मारा बाबूजीने।"

मैंने कहा, "नहीं।"

कुछ देर रुककर मैंने फिर पूछा—

"तुझे मारा क्यों था, कमला ?"

वह बोली—"पता नहीं क्यों ? कहते थे लड़कोंके साथ अकेले में नहीं खेलना चाहिए"। फिर वह चली गयी। मैंने उस दिन अपनी माँ से पूछा, उसने भी कहा—"लड़के लड़कियोंके साथ नहीं खेलते।" और तबसे लड़कियोंके साथ खेलते समय मैं सोचता यह बुरा है और अक्सर अपने साथ खेलने वाली लड़कियोंसे मैं कह देता, "मैं लड़का हूँ तुम्हारे साथ नहीं खेलूँगा।"

उसके बाद फिर कमलासे मुलाकात नहीं हुई। शायद वे लोग मकान छोड़कर किसी दूसरी तहसीलमें चले गये थे। बचपन के दिनोंमें साथी बनते और छूटते देर नहीं लगती। न जाने कितने साथी बनते हैं न जाने कितने छूट जाते हैं, भविष्यमें उसका कोई लेखा-जोखा हम नहीं रख पाते। फिर और नये-नये साथी बने; लेकिन कोई ऐसा साथी नहीं बना जो स्मृति रूपमें भी मेरे मस्तिष्क में ज़िन्दा रहता। इसका कारण मेरी गम्भीर प्रकृति थी। खेल-कूदसे मुझे विशेष शौक नहीं था, फिर ऐसे लड़कोंके और कम साथी होते भी हैं जो खेल-कूदमें भाग न लेते हों। चार-पाँच साल तक फिर कमलाका कोई पता न रहा। उसके बाद जब मैं नँवी क्लासमें था, कोई वकील थे उनके यहाँ एक शादी पड़ी। मुझे भी माँ के

साथ जाना पड़ा। माँ ने बताया, कमला और उसकी माँ भी आयी हैं। लड़केकी शादी थी। बारात कहीं बाहर गयी थी। घर पर रात-रात भर औरतें गाती-बजाती थीं। मैं बाहर लड़कोंमें बैठता था।

किसी कामसे मैं माँ के पास एक क्षणको भीतर गया। मैंने देखा, तमाम औरतें बैठी हैं और उनके बीचमें कमला नाच रही है। मुझे आज भी उसका वह रूप नहीं भूलता। गौरवर्ण, अत्यन्त सुन्दर, हँसमुख सूरत और ग़ज़बका शृंगार। उसे देखकर मैं फ़ौरन खिसक गया। एक लड़की जब नाच रही हो तब वहाँ खड़े होकर देखना मेरे संस्कारके विरुद्ध था। मैं कमरेके बाहर निकल आया। यद्यपि मेरा जी कमलाका नृत्य देखनेको करता था। इसीलिये कुछ देर दरवाज़ेकी दराज़को देखता रहा। उस समयकी दृष्टि आलोचना की नहीं प्रशंसाकी थी। लेकिन मजबूरीने मुझे वह नाच न देखने दिया। यह सोच कर कि लोग देखेंगे तो क्या कहेंगे? और फिर इसतरह लुक-छिप कर लड़कीका नाच देखते हुये। मैं चला आया। अपनेको कितना दबाया था मैंने, यह आज मुझे महसूस हो रहा है। दूसरे दिन माँ ने कहा—

"कमला तुझे पूछ रही थी।"

मैं ख़ामोश रहा। इसका जबाब ही क्या हो सकता है। वे फिर बोलीं, "सुना है तूने, कमला नाचती बहुत अच्छा है, पता नहीं उस देहातमें रह कर उसने यह सब कहाँसे सीखा है।" कुछ रुक कर बोलीं—

"गाती भी बहुत अच्छा है। मगर···बड़ी बेहया हो गयी है। शरम तो उसमें है ही नहीं। मैंने तो उसकी माँसे कह दिया

नाचना-गाना बुरा नहीं पर ज़्यादा मत उकसाओ नहीं तो बिगड़ जायगी।"

इसके बाद फिर पाँच साल तक कमला नहीं मिली। इन पाँच वर्षोंमें मेरी ज़िन्दगी बिल्कुल ही बदल गयी। मैं क्यासे क्या हो गया, इसका अनुमान भी लगाना कठिन है। ज़िन्दगीके नये-नये परदे खुले, नयी-नयी चीज़ें आयीं, उनका आकर्षण इतना प्रबल था कि मेरे हृदयमें कमलाका रहा-सहा अस्तित्व भी समाप्त हो गया। एक घटना याद आ रही है। मैं उस शहरमें गया हुआ था जहाँ कमलाके पिता बदल कर आ गये थे। उनके विभागमें हर दूसरे-तीसरे वर्ष बदली हुआ करती थी। मैं अपने चाचाके यहाँ ठहरा था। एक दिन साँझके समय उन्होंने कहा—"आओ चलो घूम आयें ?"

मैंने कहा, "कहाँ जायँगे ?"

वे बोले, "ब्रजकिशोरके यहाँ।"

"कौन ब्रजकिशोर ?" मैं कुछ सोचता हुआ बोला।

"तेरे घरके पड़ोसमें वे बहुत दिन रहे हैं, तू नहीं जानता ?" उन्होंने आश्चर्यसे कहा। मुझे याद आ गया ब्रजकिशोर कमलाके पिताका नाम है।

मैंने कहा, "कितनी दूर है उनका घर ?"

उन्होंने कहा "दो मील।"

मैंने कहा था "आप हो आइये। दो मील जानेकी मेरी हिम्मत नहीं। दो फर्लांग होता तो सोचता।"

आज मैं सोचता हूँ कमलाके लिए कुछ दूर चलने तककी तकलीफ़ मैं नहीं उठा सकता था। इतना भी स्नेह उसके लिए मेरे दिलमें नहीं था जब कि बेकार मैं न जाने कितना इधर-उधर घूमा करता था। चाचा चले गये और मैं पड़ा-पड़ा ग्रामोफ़ोन पर पिटे हुए रेकार्ड बजाता रहा। जैसे कमलाकी मुलाक़ातसे उन्हें बजाना ज्यादा क़ीमती हो।

दो महीने बाद मुझे फिर किन्हीं छुट्टियोंमें चाचाके पास जाना पड़ा। किसी बातके अवसर पर वह कहने लगे।

"उस बार तेरा ज़िक्र मैंने ब्रजकिशोरके यहाँ किया था। मैंने बताया राजन आया है पर कुछ थका हुआ था इसीलिए नहीं आया। वे लोग तो कुछ नहीं बोले। लेकिन उनकी लड़की कमला है न, वह जैसे तेरे न जानेसे कुछ चिढ़ी थी, कह रही थी—'हाँ साहब बड़े आदमी हैं। पैर न घिस जाते इतनी दूर तक आते हुए। अगर वह कल रहें तो उनको आप अवश्य भेज दीजियेगा नहीं तो जब फिर आयें तब कहियेगा कमलाने बुलाया है, अगर इस पर भी न आये तो मुझे इत्तला कीजियेगा मैं ख़ुद आऊँगी। यह क्या इन्सानियत है कि हज़ार बार वह यहाँ आ चुके लेकिन यहाँ एक बार भी नहीं आये। जैसे यह उनका घर ही न हो। हम लोगोंसे उन्हें कोई मतलब ही न हो'।" चाचा इतना कहकर ख़ामोश हो गये, कुछ और काम करने लग गये और मैं सोच रहा था कि कितनी आत्मीयता है इस सन्देशमें। चाचा चाचीसे कह रहे थे, "बड़ी मुँहफट लड़की है, ऐसी बातूनी लड़की तो मैंने कहीं देखी नहीं, काफ़ी इन्टेलीजेंट भी है।"

चाची बोलीं, "जो भी हो। मैंने तो उसकी बहुत बदनामी सुनी है। तमाम कालेजके लड़के उसके पीछे पड़े रहते हैं। उसकी माँ कह रही थी बड़ी आफ़त है इस लड़कीके मारे। कहीं शादी कर देती तो छुटकारा मिलता पर इनके बाप घर बैठे लड़का पाना चाहते हैं।"

चाचा बोले, "यहाँ मिस्टर ब्रजकिशोरकी गलती है। क्यों उसे इधर-उधर कानफ़रेंस वगैरहमें नाचने-गाने जाने देते हैं? जमाना नाजुक है, लड़कियोंको तनिक भी आजादी नहीं देनी चाहिए।"

चाची बोलीं "वे बिचारे तो नहीं चाहते पर उसके आगे किसीकी चलती नहीं।"

"लड़कोंके आगे माँ-बापकी न चले!" चाचा कह कर हँसने लगे। चाची बोलीं, "बात तो कुछ ऐसी ही है। वह बहस करने लगती है, माँ-बाप कोई जवाब नहीं दे पाते। फिर जवान लड़की पर सख्ती भी तो नहीं की जा सकती।"

मैंने चाचा-चाचीकी ये बातें सुनीं और सुनकर कमलाके प्रति मेरी श्रद्धा बढ़ गयी। क्योंकि मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि इस समाजमें एक बहुत बड़ा दल ऐसा है जिसका काम ही कुमारी लड़कियोंको बदनाम करना होता है। मुझे हर ऐसे आदमीसे नफ़रत है जो किसी लड़कीके बारेमें बात करते समय उसके चरित्र पर आक्षेप करता है। फिर अभी हमारे समाजमें आदमीके रूपमें कीड़े फूल रहे हैं। कला क्या है, इसे वे क्या समझें? कलाकी आड़में उनकी कुत्सित मनोवृत्तियाँ वह गन्दगी तलाश करती हैं जिसमें ये नरकके कीड़े रेंगते हैं। हमें तो आज ऐसे आदमी चाहिए जो

कलाकी उन्नति करें, किसी भी अवरोधकी परवाह न करें और उनको जो अपनी संकीर्णताके कारण कला या कलाकारका अपमान करते हैं ऐसी ठोकर मारें कि आँख खुलने पर गन्दगी-भरी दुनिया भी उन्हें फूलोंकी भरी लगने लगे।

मैंने उसी क्षण निश्चय किया कि मैं इस बार कमलासे अवश्य मिलूँगा। पर कुछ ऐसे कारण आ गये कि मुझे बिना मिले ही चला आना पड़ा। फिर पूरे एक वर्ष तक मैं चाचाके पास भी नहीं जा सका। इस बार यद्यपि कमलाको देखनेकी इच्छा थी। बी० ए० की परीक्षा देकर जब मैं गर्मीकी छुट्टियोंसे घर गया तो पिताने कहा, "तू पयानपुर चला जा। ब्रजकिशोरका निमन्त्रण आया है। खुद भी बेचारे कई बार कह चुके हैं। हम लोगोंके तो जानेमें बड़ी झंझट है पर किसीका जाना ज़रूरी है। उनकी लड़कीकी शादी है।" मैंने पूछा, "बड़ी लड़की की।" उन्होंने कहा, "नहीं, कमला की।"

मुझे आमतौरसे विवाह-शादीमें जानेसे तकलीफ़ होती है पर पता नहीं किस प्रेरणासे मैं वहाँ एक दिवस पहले ही पहुँच गया। वह एक तहसील थी। देहात और शहर दोनोंका मिश्रण। लोगोंने मुझे दस साल बाद देखा था, अतः जल्दी पहचाना नहीं। फिर तो बादमें अपनी प्रकृतिके कारण मैंने बहुतसे काम ओढ़ लिये। बरात लाहौरसे आयी थी। पूरी शादी ख़त्म हो गयी पर मैं कमलाको देख न सका। भाँवरोंके समय रात अधिक हो जानेसे सो गया और फिर जनवासेकी देख-भाल करनी मेरी ड्यूटी थी, अतः मुझे वहीं बना रहना पड़ा। चलते समय दोनों दलोंमें काफ़ी

झगड़ा-सा हो गया। लड़केवाले लड़की साथ ले जाना चाहते थे और लड़कीवालोंका कहना था कि बिदा नहीं होगी। लड़कीकी तबीअत खराब है, एक तो इतना लम्बा सफ़र फिर दवाका क्रम भंग हो जायगा, उसकी विदा फिर हो जायगी। उन्हें लड़कीको मारना नहीं है। लेकिन आखिरकार लड़केवालोंकी ही जीत हुई। कमलाकी बिदाई करनी ही पड़ी।

घरसे स्टेशन दो मील था। बारातको पहुँचाने मुझे भी स्टेशन जाना पड़ा। क्योंकि सामान अधिक था और उसी गाड़ीसे लाहौर 'बुक' करना था। स्टेशन पहुँच कर मालूम हुआ कि गाड़ी चार घंटे 'लेट' है। छोटा स्टेशन। स्टेशन मास्टरकी इच्छा पूरी कर देने पर वे स्वयं ये सब काम करने लगे। मैं मुक्त हो गया। स्टेशनके पीछे आमके घने छायादार वृक्ष थे। वहीं पर दरियाँ बिछीं। सुबह सात बजेका समय था। चार घंटे लेट होनेके कारण गाड़ी ग्यारह बजे आती। अतः सारे घराती, बरातियोंके भोजन आदिका प्रबन्ध करनेमें लग गये। बरातियोंमें कुछ स्नान करने, और लोग इन्तज़ाम करने और बाकी गप्प मारने बैठ गये। कमलाकी पालकी एक कोनेमें, एक पेड़की आड़में सबसे अलग दूर रक्खी थी। मेरे दिलमें रह-रह कर कमलासे इस चलती-चलाती बार मिल लेनेकी इच्छा उठ रही थी फिर वह बीमार भी तो थी। पर हिम्मत नहीं पड़ रही थी। उससे जो एक नव-वधू हो, उससे जो दुनियाकी नज़रोंमें गैर हो, बात करना मुझे एक गुनाह लगता था। तभी एक नौकरानीने जो पालकीके साथ आयी थी, आकर कहा, आपको

'बहिन' बुला रही हैं। मैं चला गया। समीप पहुँचते ही एक बड़ा धीमा और मीठा स्वर सुनायी दिया। उसने कहा—

"आओ, अब तो तुम बहुत बड़े हो गये।" और इतना कह कर उसने पालकीका एक तरफका पर्दा बिल्कुल उठा दिया और बोली, "आओ बैठ जाओ।" मैं झिझकते-झिझकते बैठ गया। उसने किसी प्रकारके आडम्बरका प्रदर्शन नहीं किया, नमस्कार तक नहीं। उसके इस पहले वाक्यने दस सालकी दूरी मिटा दी। मैं कुछ संयत होते हुए बोला—

"तुम्हीं कौन छोटी रह गयी हो।" वह एक फीकी हँसी हँस पड़ी। वह एक उम्दा सलवार और ओढ़नी पहने थी। बहुत दुबली, कमज़ोर और पीली लग रही थी। बधू की तरह वह तमाम आभूषणोंसे सजी थी। मैंने यों ही बात चलानेको कहा—

"सलवार कबसे पहनने लगी हो?"

"लाहौर की है," व्यंग्यसे वह बोली।

मैं चुप रहा। उसने नौकरानीको बुलाकर कहा—"उधर चली जाओ, किसीको इधर मत आने देना।" फिर बोली—

"दस साल बाद मिल रहे हो। लड़की न होती तो तब देखती कैसे नहीं मिलते?" मैं चुप रहा। मेरी आँखोंके सामने तमाम पिछली बातें नाचने लगीं।

"मेरे घरके पास तक आते थे पर मेरे यहाँ आनेमें तुम्हारे पैर थकते थे। बुलाया तब भी नहीं आये। आज भी अगर न बुलाती तो शायद नहीं आते?" मैं कुछ बोल न सका। इतने

स्नेहसे शिकायत करनेवाले भी जीवनमें कहाँ मिलते हैं ? वह फिर बोली—

"मेरी शादीमें कैसे आ गये । अच्छा हुआ चले आये । बहुत मानता मानी थी, तुम किसी तरह आ जाते, तुम्हें देख लेती चलती बार ।" यह 'चलती बार' उसने कितनी दर्द-भरी आवाज़में कहा था । वह कुछ रुक कर फिर कहने लगी—

"तुम जैसे ही आये मुझे मालूम हो गया । यद्यपि भीतर नहीं आये तुम । मिठाई भिजवाई थी । सोचा कौन जाने लोग काम-काजमें भूल जायँ और तुम शर्म और तकल्लुफ़की वजहसे योंही रह जाओ ।" मुझे याद आया, जब मैं आया था तब नाश्ता कर लेनेके बाद एक नाश्ता और आया था । नौकरानीने पूछने पर कहा था, "भीतरसे भेजा है । " मैंने समझा मौसी जी ने भेजा होगा । और यह भीतर वाला नाश्ता ही मैं ठीकसे कर सका था क्योंकि यह अच्छा था । विवाह आदिमें दो प्रकारकी चीज़ें बना करती हैं । कुछ मामूली और कुछ खास ढंगसे । वह कहती रही—

"समझमें नहीं आता तुममें इतनी शर्म क्यों है ? ईश्वरको चाहिए था तुमको लड़की बनाता, मुझको लड़का ।" इतना कहकर वह हँस पड़ी । पर मैं ख़ामोश ही रहा । उसने पूछा—

"ये सुस्ती क्यों ? कुछ उदास दिख रहे हो । तुम्हारे बारेमें तो सुना था तुम काफी खुशमिज़ाज हो ।"

मैंने कहा, "बचपनकी बातें याद आ रही हैं !" वह पुलक उठी "सच तुम्हें बचपनकी सब बातें याद हैं । मैं तो जानती थी

भूल गये होगे। तभी न जिन्दा रहकर भी तुम्हारे लिए कमला मर गयी थी।"

मैंने कहा, "चुप रहो, क्या बकती हो।"

वह बोली, "ग़लत कहती हूँ क्या ? या तो अपनेको बड़े आदमी समझते रहे होगे। सोचते होगे कालेजमें पढ़ता हूँ और वह एक मामूली पढ़ी-लिखी देहाती लड़की; उससे दूर ही रहना अच्छा। ज़्यादा पढ़ लेनेका तुम्हें घमंड हो गया है। यहाँ तो गँवार ही रह गयी। बहुत चाहा, बहुत सर पटका पर मेरी चली ही नहीं। काश, मैं भी कालेजमें पढ़ पाती !" इतना कहते-कहते उसकी आवाज़ डूब गयी। मैंने देखा जैसे वह व्यथासे भर उठी है।

मैंने कहा, "अच्छा चुप भी रहो, बहुत कह चुकी हो।" फिर जैसे वह सचमुच यह प्रसंग टालकर अपनेको हल्का करती हुई बोली—

"शादी कब करोगे ?"

मैंने कहा, "मैं शादी करूँगा ही नहीं।"

"क्यों क्या किसीसे मोहब्बत हो गयी है ?"

"नहीं तो।"

वह हँसते हुए बोली, "मैंने सोचा शायद कालेजमें किसीसे मोहब्बत हो गयी हो।"

मैं बोला, "क्या कालेज मोहब्बत करनेकी जगह है ?"

उसने कहा, "लड़के तो यही समझते हैं।" उसका यह जवाब सुनकर मैं चुप हो गया। थोड़ी देर बाद बोला—

"तुमने किसीसे मोहब्बत की है।"

"कोई इस लायक मिला ही नहीं।" वह मुसकराते हुए बोली। मैंने कहा, "मैंने तो सुना था तुम्हारी किसीसे मोहब्बत हो गयी है।"

उसने कुछ कड़ी आवाज़में कहा, "यह नहीं सुना मैं आवारा हूँ, बदमाश हूँ ? कि एक नहीं, न जाने कितने लड़कोंसे मेरा सम्बन्ध है ? इधर-उधर कानफ़्रेंसोंमें नाचती-गाती फिरती हूँ ?" मेरा चेहरा फक पड़ गया। मैंने उसके मुखकी ओर देखा जिसमें घोर उपेक्षा और घृणाके चिह्न थे। मैंने बात बदलनेकी ग़रज़से बड़े स्नेहसे पूछा, "तुमने नृत्य-कला कहाँसे सीखी ? कमला, मैंने तुम्हारे नृत्यकी बड़ी तारीफ़ सुनी है।" मेरी बात सुनकर वह न हँसी न मुसकरायी, वैसे ही गम्भीरतापूर्वक बोली—

"सीखा कहाँ है ? लेकिन सीखना चाहती थी। इतने ही पर तो यह हाल है—अगर सीखती तो क्या होता···अब उस जन्ममें सीखूँगी।" इतना कहते-कहते उसकी आवाज़ जैसे उदासीके समुद्रमें डूब गयी और वह इतनी पैनी दृष्टिसे शून्यमें देखने लगी कि मैं सहम गया। उसके चेहरे पर जैसे पत्थरकी छाती फाड़कर भी दिलका दर्द उमड़ आया था। मेरे मुखसे निकल पड़ा—

"कमला !"

उसने कहा, "कहो ?"

मैंने कहा, "तुम्हारी तबीयत खराब है—लेट जाओ।"

उसने कहा, "क्यों ? क्या लेटनेसे तबीयत अच्छी हो जायगी ?"

मैंने कहा, "हाँ आराम तो मिलेगा ही।"

वह बोली, "मुझे आराम नहीं चाहिए। और अगर लेटना ही होगा तो एक साथ चितामें ही लेटूँगी।" उसकी आँखें वैसी ही बनी रहीं निस्तेज, पैनी, शून्यको फाड़कर खा जानेकी प्रतीक्षामें। मैं घबरा उठा।

मैंने कहा, "कमला, गम्भीर मत बनो। थोड़ी देरके लिए तो मेरे सामने खुश रहो।" मेरा इतना कहना था कि वह खिल-खिलाकर हँस पड़ी। लेकिन ऐसी हँसी जिसके पीछे कोई अनुभूति नहीं। भयानक। हिस्टीरियाके हमले-सी। मैं सर झुका कर बैठ गया। मुझे परेशान देख वह कुछ शान्त होकर बोली—

"जानते हो मैं कहाँ जा रही हूँ।"

मैंने मुसकराकर कहा, "लाहौर।"

वह भी बोली कुछ मुसकराकर, "नहीं जी, मरने।"

मैंने कहा, "चुप रहो। क्या मरने-मरने लगायी। शुभ अवसरों पर ऐसी बातें नहीं की जातीं। तबीयत तो योंही खराब हो जाती है। वहाँ पहुँचोगी सब ठीक हो जावेगी।"

वह बोली, "यह तबीयत ठीक होनेके लिए खराब नहीं हुई है।"

मैंने कुछ झल्लाकर कहा, "कैसे ?"

उसने कहा, "मुझे टी० बी० है।"

मै चौंक उठा, पर संयत होकर बोला, "तो क्या हुआ ? हौसला रक्खो अच्छी हो जाओगी।"

वह बोली, "हौसला ही तो नहीं है। फिर एक गँवार और

देहाती बनकर जीनेसे मरना ही अच्छा।" कहकर वह एक फीकी हँसी हँसने लगी।

तभी अचानक उसके पति पर दृष्टि गयी जो कुछ दूर पर खड़े-खड़े किसीसे बातें कर रहे थे। नाटे और मोटे, सूट पहने हुए। बड़े भद्दे। कमला जितनी ही दुबली-पतली, सुन्दर थी, वह उतने ही नाटे-मोटे और भद्दे थे। पढ़े भी थे तो शायद हाई स्कूल फ़ेल। रुपया था, व्यापार करते थे।

मैंने पूँछा, "देखा उनको—पसन्द हैं?"

वह हँस पड़ी और मुँह बिचका कर बोली, "उस गणेश जी ऐसे हैं—मोटे धमधूसर।" मैं भी हँसने लगा।

मैंने कहा—"शादीके पहले नहीं देखा था?" उसने 'न' सूचक गर्दन हिलायी। फिर बोली—

"शादीमें लड़कियोंसे कौन पूछता है? फिर मुझसे किसकी हिम्मत थी, जानते ही थे मैं मना कर देती। खैर, बाबूजीके सर की बला टली। बेचारोंकी बड़ी बदनामी हो रही थी। ये लोग भी अच्छे ही हैं—केवल सूरत पसन्द की, दहेज-ओहेज भी नहीं लिया।"

तभी मुझे ऐसा लगा, जैसे कुछ लोग मुझे खोज रहे हैं क्योंकि गाड़ी आनेका समय हो गया था। मैं उठनेको हुआ। मेरा दिल भर आया था। उस थोड़ी देरकी बातचीतने मुझे दर्दसे भर दिया था।

मैंने पूछा, "मेरे लायक कोई सेवा।"

वह फिर फीकी हँसीमें बोली, "मेरे लिए? मेरे लिए अब

कुछ नहीं चाहिए। मैंने जो-जो चाहा मुझे नहीं मिला, मुझे नहीं दिया गया। और अब आखिरी वक्तमें ज़रूरत भी क्या ?" कुछ रुककर फिर बोली, "तुम्हारे चाचा कह रहे थे तुम लेखक हो रहे हो। अखबारोंमें काफ़ी लिखते-पढ़ते हो। मैं तो रह गयी। बहुत-सी चीज़ें कहना चाहती थी, लिखना चाहती थी, पर इस लायक नहीं हूँ। कुछ ऐसा करो कि यह दुनिया बदल सके, हम स्त्रियोंकी आवाज़ भी लोग सुनें और सुननेकी ज़रूरत समझें। काश ! मैं तुम्हारी तरह होती तो दुनियाको बताती कि ऐसी ज़िन्दगीसे लड़की का गला घोटकर मार डालना अच्छा है।"

मेरी आँखोंसे आँसू निकल पड़े और मैं एक क्षण भी अधिक ठहरनेमें अपनेको असमर्थ पाकर तेज़ीसे चला आया और काम करने लगा। गाड़ी चलते समय उसने इशारा किया। मैं डब्बेके साथ दौड़ने लगा। उसने कहा, "देखो भूलना नहीं चाहे कमला मर भी जाय।" और फफक कर रो पड़ी। मैं पीछे छूट गया और वह आँखोंसे खो गयी।

और आज कमला मर गयी। जीमें आता है मैं यह वाक्य 'कमला मर गयी' बार-बार दोहराऊँ। तब तक दोहराऊँ जबतक दुनिया उसे सुनकर यह न सोचने लगे कि आखिर वह क्यों मर गयी। एक पौधा था जिसे पनपने नहीं दिया गया, जिसे कुचला गया, जो अन्तिम साँस तक इस कुचले जानेके खिलाफ़ विद्रोह करता रहा और दुनिया जिस पर हँसती रही और आज जिसे भूल गयी। माँने इसकी ज़रूरत भी नहीं समझी कि कमलाका मरना दो लाइनमें लिख देती। कुछ ऐसा लिखती जिसमें कुछ

विचार होता, कुछ अनुभूति होती, कुछ संवेदना होती। पर यह 'कमला मर गयी'—विचार शून्य, हृदय शून्य, संवेदना शून्य-सा वाक्य—ऐसी तो न जाने कितनी 'कमलाएँ' रोज मरती हैं। कोई कहाँ तक सोचे। पर···पर कमला, जैसे लगता है तुम मर गयी तो कोई बात नहीं पर न मरती तो अच्छा था···ख़ैर अब तो कमला मर ही गयी। काश, वह अब भी जीती रहती। पर जीती कैसे ?



टूटे हुए पंख

मेरी आँखोंमें आजकी शाम जल रही है। भावनाएँ इस नदी की भाँति जिसके किनारे मैं एक टूटे हुए पत्थर पर बैठा हूँ, छलक उठी हैं। सूरज डूब रहा है। नदीकी लहरें लाल हो गयी हैं। दिनके सपनोंका क़फ़न बन कर ख़ामोशी चारों ओर छाने लगी है। नदीकी बीच धारामें एक बाँस पड़ा है, जिसपर कबूतरों की पंक्ति बैठी हुई जल-क्रीड़ा कर रही है। शायद इनके लिए ही यह बाँस डाल दिया गया है जो कि नीचे-ही-नीचे तार द्वारा घाटसे बँधा है। मेरी आँखें इन कबूतरोंपर जम-सी गयी हैं। डूबते हुए सूरजकी लाल रेशमी किरणें उनके फड़फड़ाते हुए पंखों पर झलमला रही हैं। ये कबूतर छोटे-छोटे गोल घेरोंमें उड़-उड़ कर लहरोंमें डुबकियाँ लेते हैं और बाँसपर आ बैठते हैं। उनके फड़फड़ाते हुए पंख ही इस ख़ामोशीको भंग कर रहे हैं। कितने प्यारे लगते हैं ये! ख़ुशीसे भरे हुए, मस्तीमें सराबोर। काश, आदमीकी ज़िन्दगी भी ऐसी ही होती, उसे भी दुनिया उतनी ही अच्छी लगती जितनी इन कबूतरोंको ये लहरें लग रही हैं। उसकी ज़िन्दगीमें भी कोई ऐसा आधार होता जहाँ वह जीवनके संघर्षों-में डुबकियाँ लगा शान्तिपूर्वक बैठ अपने पंख फड़फड़ा सकता। लगता है मैं ग़लत कह रहा हूँ। सबके जीवनमें एक निश्चित आधार है। सबको दुनिया अच्छी लगती है, ख़ुशीमें भरी हुई, मस्तीमें डूबी हुई।

तभी न उस दिन शीलासे यह पूछने पर कि ज़िन्दगी क्या है ? उसने जवाब दिया था 'मस्ती और आनन्द !' और इतना कहते-कहते वह शोख चुलबुली लड़की इतनी ज़ोरका ठहाका मार कर हँसी थी कि मेज़ पर रक्खा हुआ शीशेका गिलास नीचे जा गिरा था । ज़ोरसे कुर्सीको पीछे धक्का देती हुई एक अँगड़ाई लेकर वह उठ खड़ी हुई थी और एक मस्ती भरी लापरवाहीके साथ इतना कह कर चली गयी थी कि 'मैं उन्हें बेवकूफ़ समझती हूँ जो तुम्हारी तरह मुँह बनाये गम्भीर होकर सोचा करते हैं कि ज़िन्दगी क्या है ? ज़िन्दगी मस्ती है, मस्ती—एक गर्म-गर्म चायका प्याला ! खुद पियो; दूसरोंको पिलाओ ।' मैं अपनी बाक़ी चाय ख़त्म करते हुए उन ज़मीन पर बिखरे हुए काँचके टुकड़ोंको देख रहा था और ईश्वरसे मना रहा था कि मैं तो बरबाद होगया, जीवनको मस्ती मान लेनेकी पता नहीं क्यों इस दिलमें कोई उमंग ही नहीं उठती, शायद शीलाके शब्दोंमें बेवकूफ़ होऊँ, पर यह लड़की, कुछ ऐसा कर कि, जीवन भर ज़िन्दगीके बारेमें यही सोचती रहे, ख़ुश रहे एक ख़ुशनसीब बुलबुलकी तरह ज़िन्दगी की वासन्ती डाल पर चहका करे । उसके हर स्वरमें प्रसन्नताके ऐसे ही इन्द्र-धनुष लहराते रहें, उसकी हर अदासे ज़िन्दगीकी मिठास ऐसे ही झाँका करे, उसकी हर उड़ान शबनम पर सोयी गुदगुदी-सी हो, वह ऐसी ही चंचल—मुजस्सिम शरारत बनी रहे; खुद हँसे दूसरोंको हँसाये ।

शीलाके पिता एक धनी आदमी थे । आरामके सभी साधन उसके पैरोंके नीचे पावड़ों-से बिछे थे । दुख-दर्द क्या है, उसने

जाना ही नहीं था, आँसू भी निकले थे तो खुशीसे भरे हुए। वह एक ऐसी तितली थी जिसके चारों ओर फूलोंके भारसे लदी हुई वसन्तकी जवानी झूल रही थी, पतझड़की कल्पना भी शायद उसके लिए दूभर थी। मुझे कभी-कभी लगता था जैसे ज़िन्दगीको मस्ती माननेके लिए वह मजबूर है।

एक वर्ष बाद उसकी शादी होगयी। लड़का पढ़ा-लिखा, सुशील और अच्छी नौकरीपर था। उसकी खुशी इन कबूतरोंके धुले हुए पंखोंकी तरह और निखर आयी थी। उसके भाग्यपर लोग ईर्षा करते थे और वह सरलहृदया मस्तीकी गुलाबी पंखुरियोंके ढेरपर बैठी हुई खुशीकी धूपमें अपने सतरंगे पंख सुखा रही थी। मैं उन दिनों उसके पड़ोसमें रहा करता था। उसके यहाँ मैं बहुधा आया-जाया करता था। एक दिनकी बात याद आती है—मैं जब उसके यहाँ पहुँचा तो उसकी माँकी आँखें भरी-भरी-सी थीं। पूछने पर पता चला कि उनका कहना शीला बिल्कुल नहीं मानती। उनका कहना है अब वह बड़ी हुई, शादी होगयी, कुछ गम्भीर रहना सीखे, चञ्चलता छोड़ दे, शरारत न करे। इस तरह वह अपनी ज़िन्दगी कैसे चलावेगी? लेकिन वह जैसे सुनती ही नहीं, हर समय ऊधम मचाया करती है। मुझे लगा जैसे ज़िन्दगीके लिए गम्भीरता दुनिया ज़रूरी समझती है। कितनी नासमझ है दुनिया? यह चञ्चलता और शरारत भी बड़े भाग्यसे मिलती है, जितने दिन यह जीवनमें रहे उतना ही अच्छा। उधर शीला और मस्त थी। उसकी आँखोंसे लगता जैसे वह कह रही हो—'ऊँह कहने दो दुनियाको—उसकी परवाह ही क्यों करें हम।' उसकी शरारतोंकी

पाँखें खुली हुई थीं और उसकी किलकारियोंसे घर गूँज रहा था।

अब यह घटना यहीं खत्म-सी हो रही है। चाहूँ तो कुछ और सोच सकता हूँ पर पता नहीं क्यों जी नहीं करता। यों खुशीकी बातें मुझे ज़्यादा याद भी नहीं रहतीं। फिर यह घटना हुए भी तो लगभग दस वर्ष हो गये। मुझे आश्चर्य हो रहा है कि इस समय मुझे शीलाकी याद कैसे आ गयी ? अच्छा होता उसकी याद इस समय न आती। यह साँझ, यह डूबा-डूबा-सा सूरज, यह छलका-छलका-सा अँधेरा, यह सूनापन, यह खामोशी और यह एक-एक करके कबूतरोंका उड़-उड़कर नदीके तटपर बने ऊँचे-ऊँचे मकानोंके मोखोंमें जा-जाकर बैठना यह क्या कम है मुझे उदासीसे भरनेके लिए ? खैर, मैं भी इस एक कबूतरकी तरह, जो सबको वहीं बाँसपर छोड़ नदीके किनारेके इस ऊँचे मकानके उस मोखेमें दुबककर बैठ गया है, शीलाको अल्मोड़ेमें छोड़ चला आया था। पिताकी बदली हो गयी थी आगरे, और मैं उनके साथ फिर आगरेमें ही बस गया। अल्मोड़ा छूट-सा गया, आगरेके ही निवासी-से माने जाने लगे हम लोग।

अल्मोड़ा छूटा, शीला छूटी। फिर ज़िन्दगीमें कौन एक दूसरेकी याद करता है। आज-कलकी दुनियामें सब अपने-अपनेमें ही लगे हैं। सगे-सम्बन्धी तक तो अगर दूर-दूर शहरोंमें पड़ गये तो एक-दूसरेको याद नहीं करते; फिर पास-पड़ोस और ऐसी मामूली जान-पहिचानकी मुहब्बत कै दिनकी होती है! उनसे पत्र-व्यवहारका होना तो एक बहुत बड़ी बात है। यही हुआ शीलाके साथ। इन

दस वर्षों तक उसके बारेमें कुछ पता नहीं लगा। कोई ज़रूरत भी नहीं थी पता लगानेकी। उसकी अपनी दुनिया थी, वह भी हर तरहसे भरी-पुरी, फिर क्या करना था। एकदम भूल इसलिए नहीं पाया कि उस जैसी शोख़ और मस्त लड़की मैंने अभी तक दूसरी नहीं देखी।

इधर दो महीने पूर्व ऐसा हुआ कि मुझे मंसूरी जाना पड़ा। योंही एक रईस मित्रका निमन्त्रण था, फिर किसी पर्वतीय स्थानमें कुछ दिन रहनेका लालच मेरे लिए बहुत बड़ी चीज़ है। एक दिन ऐसा हुआ कि घूमकर हम लोग लौट रहे थे, थक बहुत ज़्यादा गये थे; मित्रने कहा—"चलो पासमें ही एक रेस्तराँ है वहीं चाय पीलें।'

मैंने कहा 'ना भाई, घर ही चलो। फिर अगर चाय ही पीनी है तो अपने शाहजीके रेस्तराँमें पियेंगे!'

वह आँख दबाकर बोला—'चलो भी वहाँ तितलियाँ सर्व करती हैं।'

उस समय मुझे कुछ अच्छा नहीं लग रहा था। थक इतना गया था कि ज़्यादा कुछ कहने या झगड़नेकी भी हिम्मत नहीं रह गयी थी। मैं चला गया। रेस्तराँ बिल्कुल नया था और करीनेसे सजा था। मालिकने चलानेके लिए दो लड़कियाँ रख ली थीं शायद उनमेंसे एक ऐंग्लो-इण्डियन भी थी। दोस्त साहब बोले—"भई, मुझे तो एक पेग ह्रिस्की ले लेने दो, मेरे लिए तो ज़िन्दगी वही है।"

मैंने कोई आना-कानी नहीं की। कुछ सुस्त-सा ख़ामोश बैठा रहा। चाय लेकर वह ऐंग्लो-इण्डियन मिस आयी। मेरे सामने ट्रे

रखते हुए वह मुसकराते हुए उनसे बोली जिसका अर्थ था—'ओफ़ ओ, बहुत दिनोंके बाद तशरीफ़ ला रहे हैं।'

दोस्त बोले, "क्या करूँ इधर आनेका इत्तफ़ाक ही नहीं हुआ, यों तुम्हारी जादू-भरी मुसकान बहुत याद आती रही।'

मैंने इसी बीच आँख उठाकर उसकी ओर देखा। मुझे वह इतनी बदसूरत लगी कि दुबारा मेरी आँख ही नहीं उठी और मैं चुपचाप चाय बनाने लगा। मेरे दोस्त पूछने लगे, वह नयीवाली छोकरी कहाँ है? उसे सिखाओ—वह बहुत शर्माती है। मेरा सामान उसीके हाथ भेजना।"

और वह 'ओ गाड!' कहती हुई चली गयी थी। थोड़ी देर बाद वह लड़की आयी। सफ़ेद सलवार और सफ़ेद ओढ़नी पहने। गम्भीर और सुन्दर पवित्रता अङ्ग-अङ्गसे टपकती थी। मेरे दोस्त एकटक उसकी ओर देखते रहे। कुछ मुसकराये, कुछ बोले, लेकिन वह चुपचाप उनका सामान रखकर चली गयी। उसके जानेके बाद शायद अपनी झेंप मिटानेके लिए वे मुझसे बोले–"बड़ी गम्भीर लड़की है, ज़रा-सा भी लिफ़्ट नहीं देती। रेस्तराँमें ऐसी लड़कीको रखना ही नहीं चाहिए। यहाँ तो मस्त पुरलुत्फ़ आदमी चाहिए। इतनी हसीन और इतनी मुर्दानगी! कुछ समझमें नहीं आता।"

मैं सोचता रहा, आदमी अगर अपनेसे हटकर दूसरेकी ओरसे सोचने लगे तो दुनियामें किसीको भी समझनेमें ग़लती न करे। पता नहीं उसकी ज़िन्दगीका यह कौन-सा परिच्छेद हो, उसके दिलपर क्या बीत रही हो, हम क्या जानें?

हम लोग काफ़ी देर तक बैठे रहे। वह नहीं आयी, केवल वह

ऐंग्लो-इण्डियन मिस कई बार आयी और पूछती रही, और मेरे दोस्त से हँसी-मज़ाक भी करती रही। मैं चुपचाप चाय पीता रहा और सोचता रहा, वह इस मिसकी तरह मस्त क्यों नहीं रह पाती ? वह इतनी गम्भीर क्यों है ? शायद उसे रेस्तराँका वातावरण पसन्द नहीं। अगर नहीं है तो वह किसलिए काम करनेको मजबूर है ? मेरे दिलमें उसके लिए एक सहानुभूति घर कर गयी। जितना ही मैं सोचता था वह सहानुभूति उतनी ही घनी होती जा रही थी। और मनमें उसके हर रहस्य जान लेनेकी उत्कण्ठा उमड़ पड़ी। कभी-कभी उसका चेहरा आँखोंके आगे झूल जाता, लगता कुछ परिचित-सा है पर यह विचार बननेके पहले ही मिट जाता।

उस दिन हम लोग चाय पीकर चले गये। रास्तेमें उसीके बारेमें बात-चीत चलती रही। दोस्तने बताया उसका नाम शीला है। वह अल्मोड़ाके किसी अच्छे परिवारकी लड़की है। मुझे अचानक उस शीलाकी याद आयी। मेरा दिल बुरी तरह काँप उठा। नस-नस सिहर उठी पर मैंने अपनेको धैर्य बँधाया यह सोच-कर कि अल्मोड़े भरमें कोई एक ही शीला तो होगी नहीं। पर जाने क्यों उस दिन दिल बेचैन रहा; रातको ठीकसे सो भी न सका। बार-बार उसका ख़्याल आता रहा और उसकी वह शोख़ी-मस्ती इस शीलाकी उदासी और गम्भीरतासे टकराती रही।

दूसरे दिन सुबह होते ही मैं कोई बहाना निकाल अकेले ही रेस्तराँमें पहुँच गया और चुपचाप एक कोनेमें बैठ गया। वह चाय लेकर आयी। मैं सर झुकाये कुछ लिख रहा था। मेरे मुखसे यका-यक निकल पड़ा, 'अगर कुछ तकलीफ़ न हो तो बना दीजिए !'

वह खड़ी चाय बनाती रही और मैं लिखता रहा। बीचमें इस बहाने कि 'चीनी एक ही चम्मच डालियेगा' मेरी निगाह ऊपर उठ गयी और उसका चेहरा मेरी आँखोंमें उतर आया। उसके इस चेहरेमें शीलाका शोखी और चुलबुलाहटवाला रूप नाच-नाचकर हट जाता था। मैं उलझ गया था, बड़े पशोपेशमें था। मैं लिखता रहा यद्यपि लिखनेमें जी नहीं लगा। वह कबकी चली जा चुकी थी। मैं बहुत देर तक बैठा काम करता रहा। वह दुबारा चाय लायी और बनाने लगी। मैं पूछ ही बैठा—

"तुम्हारा नाम शीला है?" वह कुछ बोली नहीं। चुपचाप चाय प्यालेमें डालती रही। मैंने फिर पूछा—

"तुम अल्मोड़ेके...मैनेजर साहबकी लड़की हो न?" वह चुप रही; लेकिन मैंने देखा जैसे उसका चेहरा फक पड़ गया है। जल्दीसे दूध डाल रही है और भागना चाहती है। मेरे मुखसे उसकी बेचैनी देख सहसा निकल पड़ा—

"तुम मुझे पहचान नहीं रही हो, मैं प्रकाश हूँ—तुम्हारे पड़ोस वाला बेवकूफ़ प्रकाश! वह बिना चीनी डाले ही तेज़ीसे चली गयी। मैं सहम उठा, मुझे लगा जैसे मैंने उसके दिलको चोट पहुँचायी है? मेरा सारा शरीर झनझनाने लगा। दिमाग़ चक्कर खाने लगा। आँखें बरबस छलछला आयीं। चायके प्यालेसे उठती हुई गर्म-गर्म भापमें मुझे उसकी पहलेकी शोखी और चुलबुलाहट नाचती हुई दिखाई दी और मेरे दिमाग़में तेज़ीसे वे शब्द बिजलीकी तरह टूटने लगे। 'ज़िन्दगी मस्ती है मस्ती—एक गर्म-गर्म चायका प्याला...खुद पियो दूसरोंको पिलाओ'...और मैं सोचने लगा यह

सब कितना आज सच होगया। फिर वह उस दिन मेरे सामने नहीं आयी। मैं दो-तीन दिन तक लगातार गया लेकिन वह मेरी निगाहसे भी बचनेकी कोशिश करती रही। इधर मेरी छुट्टियाँ ख़त्म हो रही थीं। मैं केवल एक बार उससे मिलकर माफ़ी माँग लेना चाहता था। उससे पूछना चाहता था, आख़िर यह सब क्या हुआ ? यह सारा परिवर्तन उसमें, उसकी दुनियामें, उसके स्वभावमें, मेरी समझमें कुछ नहीं आता था। चौथे दिन मैं उदास-सा एक कोनेमें बैठा था। वह एंग्लो-इण्डियन मिस शायद छुट्टी पर थी। वह चाय लेकर आयीं ही। उसे देखकर मेरी आँखें छलछला आयीं।

मैंने कहा—"शीला यह सब क्या हुआ ?"

वह कुछ नहीं बोली। चाय बनाती रही और उसकी आँखों से टप-टप आँसू गिरते रहे। मैं कुछ पूछ नहीं सका। वह सिर नीचा किये ही बोली—

"तुम कलसे यहाँ मत आया करो।" और चली गयी। मुझे लगा जैसे इतना कहनेमें ही उसे कितना कष्ट हुआ हो, उसे दर्दके कितने घने बादल चीरने पड़े हों।

उस दिनसे फिर मैं वहाँ न जा सका। इच्छा न रहते हुए भी छुट्टी ख़त्म होनेके कारण यहाँ चला आना पड़ा। फिर अपनी उलझनें ही इतने जटिल रूपसे सामने आयीं कि उतना याद न रख सका।

आनेके बाद आजसे दो मास पूर्व दोस्तका ख़त आया। लिखा था, शीलाने उससे मेरे बारेमें पूछा था और रो रही थी,

कह रही थी वह अब इस रेस्तराँमें काम नहीं करेगी। मालिक ज़्यादती करता है। उसे उसका अपमान करनेका क्या हक़ है? वह खत्रीकी औलाद है, अपना अपमान नहीं सह सकती है। उसे भी मारेगी और ख़ुद भी मर जायगी।

मैंने सोचा, अच्छा ही है वह यह काम छोड़ दे। थोड़ा-सा पढ़ी ही है, किसी तरह कुछ और पढ़ कर स्कूल आदिमें हो जावे। हमारे समाजका वातावरण अभी ऐसा नहीं बन पाया है कि कोई शरीफ़ लड़की रेस्तराँमें काम करे। स्कूल, अस्पताल आदिकी नौकरी फिर भी कुछ खप जाती है यद्यपि इनमें काम करने वालियोंको भी लोग बुरा कहनेसे बाज़ नहीं आते। फिर भी रेस्तराँकी नौकरीसे खुदा बचाये।

लेकिन पन्द्रह दिन बाद दोस्तका फिर ख़त आया था। लिखा था, शायद अब छोड़ दे, अभी तक तो उसने किसी तरह कर लिया। इसके बाद जो ख़त आया उसमें लिखा था—'वह ख़ुश तो नहीं है लेकिन लगता है जैसे वह छोड़नेसे मजबूर है।'

और आज ख़त आया था—'अब वह कुछ ख़ुश रहती है। उसका कहना है कि किसी तरह ज़िन्दगी काटनी है। वह काम नहीं छोड़ेगी, जैसे चलता जा रहा है... चलता जा रहा है।'

इस समय घना अन्धकार छा गया है। कुछ स्पष्ट नहीं। केवल लहरें चमक उठती हैं। यही अवस्था मेरे मस्तिष्ककी है। कुछ समझमें नहीं आता दुनिया क्या है? हम क्या हैं? ज़िन्दगी क्या है? सूरज डूब गया है। चारों ओरसे अँधेरा बढ़ता हुआ मेरे क़रीब आ रहा है। सारे कबूतर उड़-उड़ कर अपने-अपने घोंसलेमें

आकर बैठ गये हैं और इस बाँस पर अकेला एक कबूतर बैठा है। मुझे लगता है यह वही कबूतर है जिसका एक पंख टूट गया है—यह उड़नेमें मजबूर है। अभी एक घण्टे पूर्व किसी शरारती लड़केने जो नदीमें नहा रहा था, नीचे ही नीचे जाकर उसे पकड़ लिया था। उसका एक ही पंख उसके हाथमें आया और वह फड़फड़ा कर निकल भागा पर उसका पंख जैसे बेकाम हो गया। लड़का डरके मारे उसे वैसा ही छोड़ भाग आया था। मैं तबसे देख रहा हूँ वह चुपचाप बैठा है। उसकी मस्ती, उसका खेल सब बन्द। वह अकेला है, तनहा अकेला—कोई भी उसके पास नहीं। पंख वालोंके साथ सभी उड़ान भर लेते हैं लेकिन जिसके पंख टूट जाते हैं उसका कोई साथ नहीं देता। वह अपने सारे साथियोंको मस्तीसे डुबकियाँ लगाते हुए देखता रहा है और अब सबके चले जाने पर अपनी मजबूरी पर आँखें भर रहा है। वह बार-बार पर फड़फड़ाता है और उड़ कर तटके मकानके मोखे में आ बैठना चाहता है। वह कोशिश कई बार कर चुका है, बालिश्त आध बालिश्त उठ भी चुका है पर जी मसोस कर रह गया है। शीला भी है इस कबूतर-सी। उसके भी पर किसी अदृश्य शक्तिने तोड़ दिये हैं। वह भी चुपचाप जहाँ बैठ गयी है···बैठ गयी है। तभी तो वह कहती है—'किसी तरह ज़िन्दगी काटनी है, जैसे चलता जा रहा है चलता जा रहा है।' आजको वह है, हो सकता है कलको वह निराधार हो जाय। इस छोटेसे आधारका ही क्या भरोसा? जब माता-पिता पति सब छोड़ कर चले गये और आज उसका कोई नहीं। अकेली है अकेली। इतना धन

होनेपर भी आज वह एक पाईको मोहताज है। और ऐसी असहायावस्थामें उसकी मस्ती और उसकी मुसकान भी उसका साथ छोड़ कर चली गयी। मेरा दिल भर उठा है, आँखें छलछला आयी हैं। अभी वह कबूतर दो-तीन फुट तक उड़ आया था। मैं खुश था कि किनारे तक आ जायगा पर वह लहरोंमें ही गिर पड़ा और अब निराधार बहता चला जा रहा है। शीला बह रही है, मैं बह रहा हूँ, हम सब बह रहे हैं। उफ़ जीवन भी क्या है ? एक मजबूरी, घेर-घेर कर मजबूरी; यहाँ हम हँसते हैं मजबूरीके ही कारण, रोते हैं मजबूरीके ही कारण। मजबूरी केवल मजबूरी, घेर-घेर कर मजबूरी। और कुछ नहीं है ज़िन्दगी क्या ?



बेबसी

संसारमें अपना-पराया कोई नहीं, जो अपना समझे वही अपना है और जो पराया समझे, वह अपना होनेपर भी पराया है। इसी आधारपर ही दुनियामें किसीको अपना मान पाता हूँ। इसीलिए समाज-द्वारा निर्मित रिश्तोंकी दीवारें मुझे बाँध नहीं पातीं यदि वे केवल नामकी हैं, यदि उनमें कोई गर्मी नहीं, स्नेह नहीं।

मेरी एक साली हैं, नाम है मधु। यों साली और जीजाका रिश्ता एक मज़ाकका रिश्ता होता है, उनका स्नेह भी एक मज़ाक का आवरण लिये होता है, कहीं कोई गम्भीरता इस रिश्तेका नाम लेते समय हमारे सामने नहीं आती। लेकिन मेरे गम्भीर स्वभावने लगता है मज़ाकको पनपने नहीं दिया, मज़ाककी खींच-तानके कारण इस सम्बन्धमें कभी ज्वार-भाटा नहीं आया, कभी चढ़ाव-उतार नहीं दिखाई दिया। वह किसी छोटे जलाशयकी तरह स्नेह की चाँदनीमें चुपचाप एक-सा बना रहा। शादीके पहलेकी एक बात याद आती है जब लड़केवालोंकी ओरसे सगाईकी रस्म होती है; उसी समय मेरी इनसे मुलाक़ात हुई थी और तभी मुझे एक नये अपरिचित व्यक्तिके स्नेहमें बलात् बँध जाना पड़ा था।

सुबहका समय था। दालानके खम्भोंपर फैली हुई देशी अंगूर की लतासे छनकर रेशमी धूप आ रही थी। रात भर ट्रेनमें जागने के कारण मैं काफ़ी थका-सा बैठा था। नहा-धो लेनेपर भी नींदकी

खुमारी नहीं गयी थी। तभी वह एक गुलाबी साड़ीमें लिपटी हुई आयीं और मेरे पास नमस्ते करके बैठ गयीं। नींद आते समय हम किसी प्यारे सपनेका स्वागत जैसे बिना हिले-डुले करते हैं, वैसे ही मैंने उनका स्वागत किया। एक तो नींदमें भरे होनेके कारण, दूसरे वह सारा वातावरण एक मकड़ीके जालेकी तरह लगने के कारण, जो मुझे हर क्षण लपेटता जा रहा हो, मैं बिना हिले-डुले उस आरामकुर्सीपर कुछ सोचता-सा आँखें बन्द किये बैठा रहा। वह कितनी देर बैठी रहीं यह मुझे याद नहीं। मुझे खामोश देखकर उन्हें स्वयं ही बोलना पड़ा।

"नींद भरी है आपकी आँखों में। आप भीतर जाकर सो जाइये नहीं तो तबीयत खराब हो जावेगी। जब नाश्ता वग़ैरह हो जायगा तब मैं जगा दूँगी।"

किसी नये व्यक्तिके मुखसे इतनी आत्मीयता-भरे वाक्य सुनने को कम मिलते हैं। इस पहले वाक्यने ही हृदयके पासके किसी अनजाने तारको झनझना दिया। मैं सोना चाहता तो ज़रूर था पर उस समय बड़ा भद्दा लग रहा था। मैंने यों ही लापरवाहीसे कहा, "ऊँह, जाने दीजिए, फिर देखा जायगा।" लेकिन मेरे बार-बार मना करने पर भी वह मानीं नहीं और मुझे भीतर कमरेमें जाकर सो ही जाना पड़ा। यह ज़िद मुझे अच्छी लगी। कभी-कभी हम भीतरसे चाहते तो कुछ हैं और बाहरसे कहते कुछ हैं। उस समय भीतरी इच्छाके अनुकूलकी गयी ज़िद हमें सदैव अच्छी लगती है और वास्तवमें भीतर और बाहरका यह अन्तर बहुत व्यवहार-कुशल व्यक्ति ही समझ पाते हैं। जब तक मैं सोता रहा

वह बाहर दालानमें बैठी इस बातकी निगरानी करती रहीं कि कहीं कोई आकर मुझे जगा न दे। कहीं कोई शोर न हो कि मेरी नींद टूट जाय। लगभग दो घण्टे बाद किसी खटपटसे मेरी आँख खुल गयी। मैंने देखा कि वह पास ही मेज़ पर नाश्ता लगाये खड़ी हैं और मुसकराते हुए कह रही हैं:—

"अभी नींद पूरी नहीं हुई—नाश्ता कर लीजिए तब फिर सो जाइयेगा। आपसे मिलने बहुतसे लोग आये थे, मैंने सबको मना कर दिया।" उस सारे वातावरणमें मुझे यही एक ऐसा प्राणी दीख पड़ा जिसे बिना किसी बनावटके मेरे आरामकी चिन्ता हो। मैं नाश्ता करता रहा और मेरे महज़ एक ही बारके कहने पर वह भी मेरे साथ खाने लगीं। जैसे वह जानती हों कि मुझसे अकेले खाया नहीं जायगा और दो बार कहनेकी मेरी आदत न हो।

मैं मिर्च बिल्कुल नहीं खाता, उसने उस थोड़ी ही देरमें जान लिया। समोसेके प्लेटमें हाथ लगाते ही वह बोली, "इन दो को मत खाइयेगा", और उसने उन्हें अलग कर दिया। बादमें मालूम हुआ उसमें केवल मज़ाकके लिए मिर्च ही मिर्च भरी है। पता नहीं क्यों मैंने उनमेंसे एक झपटकर उठा लिया और उसे यह कहते हुए मुँहसे लगा लिया, "जब आपने मेरे लिए खासतौरसे बनाया है तब मैं ज़रूर खाऊँगा।" लेकिन इसके पहले कि मैं उसे मुखमें रख सकूँ उसने मुँहसे छीन लिया और प्लेट दूर रखती हुई बोली, "मिर्चें बहुत तेज़ हैं। आपको तकलीफ़ होगी।"

मैं सोचने लगा, अपने मज़ाकके आनन्दसे इसे मेरी तकलीफ़का

ज़्यादा ख्याल है। जहाँ स्नेह होता है वहाँ व्यक्ति मज़ाक भी ऐसा ही करना चाहता है जिससे दूसरेको आराम पहुँचे तकलीफ़ नहीं।

मैंने कहा, "लेकिन मज़ाक तो खत्म हो गया। आपकी सारी मेहनत भी बेकार गयी।"

मेरे इस कथनसे उसका चेहरा शर्मसे लाल हो गया। और वह अपनी झेंप मिटाती हुई बोली, "तो क्या हुआ ?"

मैं चुप रहा। कुछ देर बाद बोला :

"आप बहुत अच्छी हैं। आपका नाम क्या है ?"

वह बोली, "मधु।"

मैंने पूछा, "आपको गाना आता है ?"

उसने कहा, "हाँ, थोड़ा-बहुत।"

मैं बोला, "सुनाइयेगा ?"

उसने कोई आनाकानी नहीं की। चुपचाप हारमोनियम ले आयी और गाने लगी। एक गाना गाकर वह बोली, "नीचे बहुत काम करना है। मैं अब जाती हूँ। आप बुरा न मानें तो आपको फिर सुना दूँगी। आप तब तक ग्रामोफ़ोन बजाइये।" और वह रेकार्ड लगा कर चली गयी। मैं सोचने लगा, इस समय मेरा कहना वह बड़ी आसानीसे टाल सकती थी। लोग ऐसे अवसरों पर चूकते नहीं।

इन चन्द क्षणोंमें अपने स्नेहमय व्यवहारके कारण ही उसने मुझे अपना बना लिया। मेरे ऐसे भावुक आदमी स्नेहके हाथों बड़ी जल्दी बिक जाते हैं। उस दिन दोपहरको सब काम

जल्दी-जल्दी ख़तम करनेके बाद वह मेरे पास ही बैठी रही। कहती रही :—

"आपको देखकर ऐसा लगता है जैसे कि मैं आपको बरसोंसे जानती होऊँ।" और फिर अपने मन की, अपनी ज़िन्दगी की बहुत-सी बातें कहीं। उसके सामीप्यने समयकी लम्बाईका अनुभव ही नहीं होने दिया। रातको भूख नहीं थी। मैंने उसे मना किया कि मैं खाऊँगा नहीं पर वह मानी नहीं। जिसने मेरा थोड़ा भी ख़्याल किया हो उसकी कोई भी बात टाल देना, मेरे बूतेकी बात नहीं। वह खाना ले आयी।

मैंने कहा—"खा लूँगा तुम्हारा कहना मान कर, पर एक भी पूड़ी रखने की पेटमें जगह नहीं है।" मैं खाने लगा और आख़िरकार उसने ही अपना हाथ रोक लिया और बोली, "अब आप मत खाइये।"

मैंने कहा, "तुम समझी लेकिन देरमें—बेकार खिला दिया तुमने! कहीं तबीयत खराब हो गयी तो ?"

वह दृढ़तापूर्वक बोली–"नहीं होगी।" और उसने एक छोटे शीशेके गिलासमें शराबके रंगवाली कोई लाल दवा दी और मैं मुसकराते हुए पीकर सो गया। उसके उस समयके विश्वास-भरे अटल स्नेहके प्रतीकके रूपमें वह शीशेका गिलास और वह लाल दवा बहुत दिनों तक मेरी आँखोंके सामने नाचते रहे।

चलते समय वह बहुत रोती रही। घर भर उसका मज़ाक बनाते रहे। मेरा भी जी भरा-भरा-सा था। मैं नहीं जानता था कि एक दिनके ही अन्दर स्नेहका बन्धन इतना मज़बूत भी

हो सकता है। फिर दो मास बाद उसकी शादी हो गयी। मेरी शादी उसकी शादीके एक महीने बाद हुई।

यह उससे दूसरी मुलाक़ातका अवसर था। इस बार भी वह मुझे वैसी ही लगी। उसकी सूनी माँगमें सिन्दूरकी एक मोटी रेखा को छोड़कर उसमें और कोई परिवर्तन जैसे मुझे नहीं दिखाई दिया। किन्हीं अप्रत्याशित घटनाओंके कारण बारात विलम्बसे पहुँची। सबकी शिकायतोंके पहाड़ खड़े हो गये। सबने स्वागत किया लेकिन एक खिन्न मनसे। मेरा हृदय उस सारे ढोंग और बनावटसे हटकर कोई एक ऐसा आधार चाहता था जहाँ सच्ची सहानुभूति हो, सच्चा स्नेह हो। वह मिला भाँवरोंके बाद उसकी आँखोंमें। उसने पूर्ववत् मुसकराकर मेरा स्वागत किया और बिना शिकायतका एक वाक्य कहे हुए ही मुझे पसीनेसे तर देखकर उसने पंखा हाँकना शुरू किया और बोली, "आजकलका सफ़र बड़ा तकलीफ़देह होता है। रास्तेमें कोई तकलीफ़ तो नहीं हुई आप लोगोंको ?"

मैंने पके हुए दिलसे कहा, "आपको भी कोई शिकायत करनी है क्या ?"

वह बोली, "शिकायत कैसी ? एक तो लगनके दिन, इतनी बारातें चलती हैं। फिर दो-दो तीन-तीन जगह गाड़ी बदलनी होती है। गाड़ीका छूट जाना भी कोई असम्भव तो नहीं।"

मैंने कहा, "तुम ऐसा सोचती हो न, लोग तो नहीं सोचते।" वह चुप रही। मैं भीतर औरतोंमें बैठा था। घरमें तमाम औरतें थीं, सबोंने मीठे-खट्टे उलाहने दिये ही—पर वह जैसे लगता था अपने

स्नेहमय व्यवहारके कोमल स्पर्शसे इन उलाहनोंकी चोटको सहला रही हो। नर-नारीसे भरे हुए उस मकानमें मेरे निराधार मनको ऐसा लगता जैसे यही मेरी अपनी हो, और सब पराये। तभी तो छोटेसे लेकर बड़े तकका कहना टाल देनेपर भी उसका कहना मानकर मुझे खाना पड़ा और यह बात दूसरोंसे दिलपर चोट भी कर गयी। फिर तो घर भरकी इच्छा उसीके माध्यमसे मुझ तक पहुँची। मैंने भी कोई आपत्ति नहीं की। इस बार हम लोग और करीब आ गये। कहीं कोई दूरी, कहीं कोई दुराव जैसे रह ही नहीं गया। आडम्बरहीन, प्रदर्शनहीन सम्बन्ध। ऐसा सम्बन्ध, जहाँ अपने मनकी हर बात कही जा सके, जहाँ एक दूसरेका हर क्षण ख्याल रक्खा जाय, जहाँ स्वयं तकलीफ़ उठा लेनेपर भी दूसरेको आराम देनेकी इच्छा उमड़ पड़े। वह हर क्षण मेरे पास रही और समयका बोझ फूल-सा हल्का हो गया। और इस बार चलते समय हम दोनोंको दुगुनी तकलीफ़ हुई।

तीसरी मुलाक़ात गौनेके अवसर पर हुई, लगभग एक वर्ष बाद; और तीसरी मुलाक़ात ही ऐसी थी कि मुझे कुछ लिखना पड़ा।

इस बार उसके पति महोदय भी आये थे। उसके बहुत-से पत्र आये थे जिनमें लिखा रहता था कि 'वे' मुझसे मिलनेके लिए बहुत उत्सुक हैं। वे बार-बार मुझसे मिलनेके लिए पूरी तैयारी कर लेते हैं पर किन्हीं ख़ास अड़चनोंके कारण मजबूर रह जाते हैं पर अबकी इस अवसरपर उनसे ज़रूर मुलाक़ात होगी। मैं भी थोड़ा बहुत उत्सुक था, यद्यपि नये-नये आदमियोंसे मिलनेकी उत्सुकता मेरे दिलमें कभी नहीं उठती। ख़ैर! वे पश्चिमी साँचेमें ढले हुए

व्यक्ति थे। पूरे अप-टू-डेट। घरपर भी सूट पहननेवाले। हर क्षण अँगरेज़ी ही बोलते थे। सिगरेट इतनी पीते थे कि उसका तारतम्य ही नहीं टूटने पाता था। मुझसे उनका परिचय हुआ। वे बहुत देरतक कश्मीर-समस्या पर बात करते रहे और मैं चुप-चाप सुनता रहा।

थोड़ी देर बाद जब वे नीचे चले गये तब मधुसे मेरी मुलाक़ात हुई। वह आयी कुछ उदास-सी। मैंने पूछा—"तुम अबतक कहाँ थीं मधु? मेरी आँखें तुम्हें खोजते-खोजते थक गयी।"

वह बोली—"नीचे उनके कपड़े वग़ैरह ठीक कर रही थी।"

मैं सोचने लगा, कितना अजीब है यह कि मैं एक घण्टेसे आकर बैठा हूँ और वह नीचे कपड़े ठीक करनेमें लगी थी जब कि उसके ख़तोंसे लगता था कि उसे एक-एक क्षणकी देर असह्य है, मुझे वह फ़ौरन देखना चाहती है।

मुझे मालूम हुआ कि वे दिनमें दस बार कपड़े बदलते थे और उसे हर बार उनको ठीकसे तह करनी पड़ती थी।

मैंने कहा—"चलो अच्छी ड्यूटी है।"

वह कुछ मुसकरा दी।

वह दो मिनट बैठी भी न थी कि हड़बड़ा कर यह कहते हुए उठ गयी, "चलूँ उनके नहानेका इन्तज़ाम करना है।" मुझे उसका इस तरह फ़ौरन चला जाना कुछ अच्छा नहीं लगा। फिर वह दो तीन घण्टे तक उन्हें नहलाती-धुलाती और सजाती-सँवारती रही और फिर वह ऊपर मेरे कमरेमें एक नया सूट पहने, मुँहमें सिगरेट

दबाये और हाथमें एक पूरा 'थ्री कासल्स' का डिब्बा लिये हुए आ पहुँचे और बोले—अँगरेज़ीमें !

"आपको यह जगह कैसी लगी ?"

मैंने कहा—"मुझे तो वह हर जगह अच्छी लगती है जहाँ कोई अपना हो।"

उन्होंने कहा—"यहाँ बिजली नहीं, पानी नहीं, दिलचस्पीके लिए सिनेमा वग़ैरह भी नहीं। मैं तो यहाँ एक दिन भी नहीं रह सकता। बड़ी परेशानी है। सोचता हूँ, बिना फ़ैनके दोपहरमें सोऊँगा कैसे ?"

मैं कहता ही क्या ? यही सोचता रहा कि उनकी भी मजबूरी है, आदत पड़ गयी है क्या करें ?

भोजनके समय उन्होंने मधुको ड्यूटी दी कि वह बराबर उन पर पंखा झले, नहीं तो वह खा न सकेंगे। वह बेचारी पंखा झलती रही लेकिन जैसे कुछ बेमनसे और मैं सोचता रहा उसे भी मेरे साथ खाना चाहिए था। भोजनके उपरान्त वह फिर उनमें लग गई। शायद वे नीचे सोते रहे और वह बैठी पंखा झलती रही। मैं भी ऊपरके कमरेमें पड़ा सोचता रहा—"अच्छा ही है, पत्नी होती ही है इसीलिए कि पतिको आराम दे। फिर इतना स्नेह करनेवाली पत्नी मिलती ही कहाँ है ?"

लगभग तीन बजेके मेरी आँख लग ही रही थी कि ये लोग ऊपर बगलके कमरेमें आ डटे और ज़ोर-ज़ोरसे गप्प मारते और खिलखिलाते रहे। मेरी नींद जो आ भी रही थी, भाग गयी। रात भर गाड़ीमें यों भी नहीं सोया था, सिरमें दर्द होने लगा। पर उन

लोगोंका शोर कम न हुआ। उनके पतिके कहकहे दीवारों तकको कँपा देते थे। मैंने कई बार सुना कि वह कह रही है:—

"ज़रा धीरे-धीरे उस कमरेमें वह सो रहे हैं।" पर जैसे उन्हें इसकी परवाह ही न हो। उनके कहकहे और उनकी खिलखिलाहट आती ही रही। मधु भी बीच-बीचमें जोरसे हँस पड़ती थी और मैं सोचता था उस दिनकी बात जिस दिन वह मुझे सोता देख किसीको भी आने तक न देती थी। आधे घण्टे तक लगातार करवटें बदलनेपर भी मैं सो न सका। सोचने लगा पड़ा-पड़ा क्या करूँगा, स्टेशन चला चलूँ, कुछ सामान बुक कराना है, उसका इन्तज़ाम कर दूँ। मैं उठ खड़ा हुआ। कुरता डाल चल पड़ा। उन्होंने जाते देख पूछा—"कहाँ भाई साहब ?"

मैंने कहा—"स्टेशन; चलते हैं आप भी ? एक घण्टेमें आ जायँगे।"

वे बोले—"ओ गाड, इतनी धूपमें मैं नहीं जा सकूँगा।"

मैंने मधुकी ओर देखा, उसकी दृष्टिमें बड़ी बेबसी दिखाई दी। जैसे यह जो कुछ हुआ सब उसकी अनिच्छासे और वह समझ रही हो कि मैं सो पानेमें असमर्थ होनेके कारण ही जा रहा हूँ। उसके ओठ काँपे। कुछ उसने कहना चाहा, पर रह गयी।

मैं चला गया। डेढ़ घण्टे बाद वापस आया। सिरमें बड़ी जोरका दर्द हो रहा था। वह किसी तरह मेरे पास आयी। मुझे देखते ही बोली—

"सिरमें दर्द हो रहा है क्या ?"

मैंने हाँ सूचक गरदन हिला दी।

वह बोली—"मैं अभी तेल लेकर आती हूँ।"

मैं ऊपर बड़ी देर तक बैठा प्रतीक्षा करता रहा। आधे घण्टे बाद वह आयी, कपड़े बदले हुए कहीं जानेकी तैयारीमें। उसे देखते ही मेरे मुखसे निकल पड़ा—

"मैंने समझा था तुम तेल ला रही हो।"

उसकी आँखें नीची हो गयीं। मुसकान उदासीमें बदल गयी। लाचारीके चिह्न उसके मुखपर अङ्कित हो गये और मैं उसके उदास चेहरेको देखकर सोचता रहा—"जीवनमें सफलता चाहते हो तो अभिनय-कला सीखो। अभी यही नीचे किलकारियाँ मार रही थी और अब···। कैसा अच्छा अभिनय है?"

वह डूबती-सी आवाज़में बोली।

"एक बात कहूँ?"

मैंने कहा—"कहो न।"

वह बोली—"आपकी तबीयत नहीं लग रही है—चलिए आपको नदीकी तरफ़ घुमा लायें। वो भी चल रहे हैं।"

मैंने कहा—"तुम लोग हो आओ, मैं नहीं जाऊँगा।"

मेरे इस उत्तरसे मैंने देखा वह बहुत उदास हो गयी है। अतः मैं कपड़े पहनने लगा और सोचने लगा बेचारी फँस गई होगी किसी काममें, नहीं आ सकी। मन कहता था यह बिलकुल ग़लत है। नीचे जाकर वह पतिके आगे सब कुछ भूल गयी। उसे मेरी चिन्ता ही क्यों हो? पर उसकी बेबसी-भरी आँखें बार-बार खिंच जाती थीं और मुझे इस निष्कर्ष पर पहुँचने नहीं देती थीं। मैं तैयार हुआ ही था कि किसीने बाहर आवाज़ दी। मैं नीचे चला

गया। मधुसे कहता गया कि एक साहब आ गये हैं, मैं उन्हें पाँच मिनटमें विदा करके आया। इत्तफ़ाक़से उनको विदा करते-करते दस मिनट हो गये। मैं तेज़ीसे घरकी ओर बढ़ा। घरपर पता चला, पति और पत्नी पाँच मिनट तक इन्तज़ार करके चले गये।

मैंने सोचा, हाँ देर तो हो ही गयी, चलो रास्तेमें पकड़ लेंगे। पर न जाने क्यों दिमाग़में एक बात गूँज जाती थी। स्नेहका आधिक्य समयकी पाबन्दी जैसी श्रृंखला हमेशा तोड़ देता है, फिर पाँच मिनटकी जगहपर पचीस मिनट भी इन्तज़ारी की जाती है!

मेरे साथ वहाँके रिश्तेके कोई भाई थे, वे भी हो लिये। हम लोगोंने तेज़ीसे अपने क़दम बढ़ाये ताकि इन्हें पकड़ लें, पर बहुत दूर तक इनका पता न चला। सूरज डूब गया था। साँझका धुँधलका चारों ओर फैल गया था। उस कच्चे निर्जन रास्तेपर, जो दोनों ओर घने पेड़ोंसे ढका था, काफ़ी अँधेरा छा गया था। हम लोग बातें कम करते थे और केवल यह सोचते हुए कि इतनी जल्दी कितनी दूर निकल गये, तेज़ीसे चले जा रहे थे।

भाई बोले—"अँधेरेके कारण दूर तक तो दिखाई नहीं देता। टार्च होती तो देखते, शायद आगे जा रहे हों।"

मैंने पूछा—"कोई दूसरा रास्ता तो नहीं?"

उन्होंने कहा—"है तो, लेकिन बहुत गन्दा। उधरसे शायद नहीं गये होंगे।"

तभी दो काली आकृतियाँ सामने जाती हुई दिखाई दीं। हम लोगोंने सोचा, हो सकता है कोई दूसरे लोग हों, अतः पास जाकर निश्चित कर लेनेपर ही टोंकना उचित होगा।

पास जानेपर बिल्कुल साफ़ मालूम हो गया कि वही हैं।

उन्होंने कहा—"बुलायें ?"

मैंने कहा—"शायद कोई प्राइवेट बात कर रहे हों। हम लोग रुकावट क्यों बनें ? वे ज़रूरत समझेंगे तो ख़ुद साथ हो लेंगे।" हम लोग भी बात करते हुए बगलसे निकल गये। मधुने मुझे देखा भी, पर वह बोली नहीं। मैंने सोचा, पति-पत्नी हैं, बहुत-सी बातें रहती हैं, कोई मामला चल रहा है, हस्तक्षेप करना उचित नहीं। नदीके तीर तक शायद उन लोगोंकी बातें ख़तम हो जायँ, फिर वहाँ हम लोग साथ हो लेंगे। हम लोग जल्दीसे क़दम बढ़ाकर ढालपर जाकर बैठ गये पर वे लोग दिखाई ही न दिये। उस समय पूर्णमासीका चाँद आकाश पर निकल आया था। दूध-सी चाँदनी चारों ओर फैल गयी थी। नदीके किनारे बड़ी ऊबड़-खाबड़ ज़मीन थी जिसमें खरबूज़े और तरबूज़के खेत थे। ऊँचे-ऊँचे टीलों पर मूँज और सरपतके सूखे झाड़ सोये हुए थे। हवा धीरे-धीरे बह रही थी। गर्मीके कारण नदी सिमट कर एक नाले-सी हो गयी थी। उसका पाट बड़ा चौड़ा था। लगता था बरसातमें काफ़ी बढ़ जाती होगी। नदीकी ढालपर उतरते ही एक शिवाला था, पास ही एक कुआँ जिसकी जगत सफ़ेद थी। ढाल बहुत ज़्यादा था, नीचे बहुत दूर गहराईमें नदी बहती थी। वे लोग ऊपर कुएँकी जगतपर ही बैठ गये। हम लोग एक बार फिर बगलसे ही निकल गये। उन लोगोंने देखा भी, पर जैसे हम लोग कोई अजनबी हों, उन्हें हमसे कोई मतलब ही न हो। ढालसे उतरकर हम लोग नदीके तीरपर पानीके

पास एक टूटे पत्थरपर बैठ गये। पानीमें लम्बी-लम्बी घास हिल रही थी, जिसपर चाँदकी किरणें फिसल-फिसलकर अन्धकारसे लुका-छिपी खेल रही थीं। दूर नदीका ऊँचा कगारा स्तब्ध खड़ा था। चाँदके एक कोणमें होनेके कारण उसकी काली परछाईं उस ठंढी बालूपर सिमटी हुई बड़ी भली मालूम पड़ रही थी। हवाकी लहरोंसे सरपतकी ऊँची-ऊँची बिखरी हुई प्रतिमाएँ ऊबड़-खाबड़ ज़मीनकी मुँडेरोंपर हिल उठती थीं और उनके बीचमें छिपे हुए छोटे-छोटे खरबूज़ोंके खेत आँखोंमें झूल उठते थे। आकाशके तारोंकी तरह नदीकी उगी घासमें कुछ इधर-उधर सफेद फूल खिल रहे थे। कोई चिड़िया तेज़ीसे बार-बार नदीकी लहरोंको छूती हुई चक्कर काट जाती थी, उस ख़ामोश चाँदनीमें, सोये हुए वातावरणमें एक सूँकी आवाज़ भर होती थी और वह निगाहोंकी पकड़के बाहर हो जाती थी।

कितना भला लग रहा था यह साराका सारा वातावरण; और मैं सोच रहा था यह सुखद मनोरम रम्यस्थली कल दोपहरको कितनी भयानक हो जावेगी। चाँदकी शीतल किरणोंकी जगह आग बरसेगी, रेशमसे लहराते हुए सरपतके पीले-पीले ढेर लपटोंसे धधक उठेंगे। यह ठण्ढी बालू पागल होकर, अपनी हिंस्र बाहें खोले, ज़मीनसे आसमान तक हर चीज़को भून देनेकी इच्छा लिये उड़ती फिरेगी, उस मासूम कगारेके अधर सूखकर फट जावेंगे, यह ठण्ढा जल खौलने लगेगा। यह पानीकी घास जो इस समय सीधी हरी ओढ़नी ओढ़े खड़ी है, झुलस कर पानीमें गिर पड़ेगी। यह सारी ज़िन्दगी मौतमें बदल जावेगी। यह मनोरम रम्यस्थली

जिसे इस समय एक क्षण भी छोड़नेको जी नहीं चाहता, इतनी भयानक हो उठेगी कि एक क्षण भी यहाँ खड़ा नहीं हुआ जा सकेगा। दुनिया कितनी जल्दी बदलती है! फिर अगर मधु भी बदल गयी तो बुरा क्या? यह तो सृष्टिका नियम है।

रात अधिक हो रही थी। बारह बजेकी गाड़ीसे जाना था। हम लोग वापस चल पड़े। चलते समय हम लोगोंने देखा कि वे लोग अभी बातें ही कर रहे हैं। शायद वे लोग लौटने तकका मेरा साथ नहीं चाहते।

मेरी तबीयत उखड़ गयी थी। एक क्षण भी उस जगह रह पाना अब मेरे लिए भार था। नस-नसमें एक तूफ़ान उमड़ रहा था। ऐसा तूफ़ान जिसमें मैं सब कुछ भूल जाता हूँ। एक मशीन-सा मैं घर आकर जानेकी तैयारी करता रहा और सोचता रहा, दुनिया कितनी जल्दी बदलती है, अपने कितनी जल्दी पराये हो जाते हैं, बर्फ़ कितनी जल्दी पानी हो जाता है और पानी कितनी जल्दी भाप हो जाता है। ओफ़! सब बदलता है!

मैं चलनेकी तैयारी कर रहा था। ज़मीन घूमती-सी लग रही थी। कभी-कभी स्मृतियोंकी घटाओंसे इक्के-दुक्के वाक्य तेज़ बिजलीसे कड़कड़ा कर दिमाग़में चमक उठते थे। और भयानक शोरमें मुझे सुनाई दे जाती थीं कुछ ऐसी बातें जिन्हें मैंने अनसुनी कर दी थी। कोई कह रहा था—"माधुरीको तो अब अपने मियाँको छोड़कर और कोई काम ही नहीं।" कोई कहता, "उसके साहब तो एक मिनट उसे छोड़ते ही नहीं, बेचारी करे तो क्या करे?" और ऐसे ही न जाने कितने।

चलते समय मधु फिर दिखाई दी। मुझमें उसकी ओर देखने तक की इच्छा न थी। मैंने पेटके दर्दका बहाना करके खाना कम खाया था और शायद इसीलिए वह दवा लिये खड़ी थी और पास ही वह शीशेका गिलास ज़मीन पर गिर कर टूटा हुआ पड़ा था। शायद उसके पति महोदयकी छीना-झपटीमें वह ख़तम हो गया था। उसकी आँखसे आँसू टप-टप गिर रहे थे। मैं सोच रहा था दवा है, लेकिन गिलास टूट गया है। मधु है, लेकिन वह माध्यम जिससे वह मेरी अपनी बन गयी थी, अब नहीं रहा। उस माध्यम को तोड़ देनेका कारण कौन है? स्वयं मधु या उसके पति, कौन जाने?

मैं चला आया था भारी मन लिये हुए। मुझे कुछ भी याद नहीं कि मैं कैसे स्टेशन पर पहुँचा, कैसे गाड़ीमें बैठा। मेरी चेतना जैसे लुप्त-सी हो रही थी। दर्दके घने धुँधले बादल मेरी नस-नसमें छा गये थे। बिजलियाँ कौंध रही थीं। मैं रह-रह कर काँप उठता था। मेरे हाथ-पैर चलते थे, सब रखता-उठाता भी था, सबसे बोलता-चालता भी था, पर एक यन्त्रकी तरह जीवन-हीन।

गाड़ी चल पड़ी थी। कुलीको पैसे देते समय एक काग़ज़ जेबमें पड़ा मिला था। हवाके तेज़ ठंढे झोकोंके कारण कुछ चेतना आयी, वह कुहासा कुछ फटा-सा। मैंने वह काग़ज़ निकाला, पढ़ा। उसमें लिखा था "···मैं अब भी वही हूँ, मुझमें कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ है, मैं कहीं भी बदली नहीं हूँ, लेकिन आज परवश हूँ, बेबस हूँ, निरुपाय हूँ···।"

मैं सोचता हूँ, क्या सचमुच वह परवश थी? अगर थी भी तो क्या यह उचित था? पतिके आगे क्या नारीको अपना व्यक्तित्व मसल देना चाहिए, अपनी आवाज़ घोंट देनी चाहिए? मैं क्या जवाब दूँ? और अगर कोई जवाब देता हूँ तो दुनिया उसे मानेगी ही कब?



प्रेम-विवाह

ऊदे-ऊदे काले धुँघुआरे बादलोंको हटाकर चाँद इस समय आकाशकी नीली घाटीमें तेज़ीसे भाग रहा है। नीचे वर्षासे भींगे हुए पेड़-पल्लव अन्धकारके धुँधले आवरणमें ख़ामोश खोये-खोये सिर झुकाये, मेरी आँखोंके सामनेसे तेज़ीसे गुज़रते जा रहे हैं। डब्बेमें पूर्णतया ख़ामोशी है। सब उल्टे-सीधे पड़े ऊँघ रहे हैं। स्थानाभावके कारण मैं नीचे ट्रंक पर ही बैठ गया हूँ और मेरे बगलकी बर्थ पर अपने नन्हें सुन्दर बच्चेको लिये वह सो रही है। खिड़कीसे झपटकर आते हुए ठंडी हवाके झोंके उसके रेशम-से बालोंको आहिस्ता-आहिस्ता वेणीके कठोर बन्धनसे मुक्त कर रहे हैं और दो-चार हल्के बाल काले रेशमके बारीक धागों-से उनके गोरे मुखपर लहरा रहे हैं। खिड़कीकी ओरौनीपर मोतीकी झालर-सी लटकी पानीकी बूँदे कभी-कभी किसी सख़्त हवाके झोंकेसे टूट जाती हैं और उड़कर चाँदकी किरणोंको हटाती हुई, उनके मुखपर जा गिरती हैं। उस शान्त मुखमण्डलपर एक हल्की-सी कँपकँपी लहरा जाती है।

मैं इस सौन्दर्यमें डूब-सा गया हूँ। लगता है तन-मन और प्राणपर एक नशा-सा छा गया है। हवाके इन झोंकोंकी तरह विचारोंके हल्के-हल्के झोंके मेरे मस्तिष्कमें भी किसी अनजान देशसे न जाने कितनी मस्ती और नशीली सुगन्धि चुराये हुए आ रहे हैं। कभी-कभी किसी सख़्त झोंकेसे इस खिड़कीकी ओरौनीपर

लटकी हुई जलकी बूँदोंकी तरह ही मेरी नाज़ुक भावनाएँ टूट जाती हैं। एक सिहरन होती है और बस फिर वही क्रम। कितना सुन्दर चाँद है ?

क्या प्यार इस चाँद-सा नहीं है जो निराशा और एकाकीपन के कजरारे बादलोंको हटा आदमीकी ज़िन्दगीकी नीली आसमानी घाटीमें चमक उठता है ? क्या कामनाओं और इच्छाओंकी संघर्ष-भरी दुनिया इन भीगे हुए पेड़-पल्लवोंकी भाँति ही ख़ामोश सिर झुकाये सो नहीं जाती, तृप्ति बन-बनकर बरसती हुई इन शीतल किरणों में ? ज़िन्दगीकी फूलों-भरी अँधेरी घाटीमें क्या प्यारको चाँदकी किरणें सुनहरी तितलियों-सी बरस नहीं पड़तीं और सपनोंकी हर पाँखुरीपर मंगलमयी आकांक्षाओंकी किरणें थिरक नहीं उठतीं ? प्यारकी चाँदनी कितनी मधुर है, प्यारके हर झोंकेमें कितना नशा है, प्यारकी रागिनीमें कितनी मस्ती है। मेरे इन विचारोंमें कुछ व्यवधान पड़ रहा है। इस नम ठंढी हवामें काँपती हुई एक संगीतकी मीठी लहर आ रही है। बग़लके डब्बेमें कोई मस्तीमें भरा हुआ गा रहा है :

अपने पिया सन बोली गुजरिया
हमें लागेली नीक उजरिया ना—

इस गानेमें इस वातावरणमें चारों ओर नींदका सरूर है। चारों ओर सब नींदके नशेमें झूम रहे हैं। लगता है जैसे मैं भी जो कुछ सोच रहा हूँ वह नींदमें और ऐसी नींदमें जिसमें बहुत प्यारे-प्यारे सपने इन्द्र-धनुष-से पंख पसार कर छा जाते हैं। क्योंकि यह सब ग़लत है। मेरे इन विचारोंमें कल्पना ही कल्पना है। जिनसे मुझे

चिढ़ है यद्यपि मेरे बेहोशीके क्षणोंमें ये मुझपर ऐसी छा जाती हैं कि मैं सारी वास्तविकता भूल जाता हूँ।

मेरे बग़लमें जो सो रही हैं, यह मेरी दूरके रिश्तेकी बड़ी बहन हैं। उनकी ओर देखते ही विचारोंका एक सख्त झोंका आ जाता है। और प्यारके प्रति कल्पनासे सँवारी हुई मेरी मासूम नाज़ुक भावना टूट-सी जाती है। आजसे चार वर्ष पहले उन्होंने भी किसी को प्यार किया था। मैं सोच सकता हूँ, स्त्री होनेके नाते और विश्वविद्यालयकी उच्चतम कक्षामें साहित्यकी विद्यार्थिनी होनेके नाते प्यारके प्रति उनके भी सपने बड़े रंगीन रहे होंगे। उनकी रंगीनी तितलीके पंखों या इन्द्र-धनुषके रंगों-सी क्षणिक नहीं रही होगी। तभी तो उन्होंने अपने प्यारके मासूम सुकुमार दीपकको समाजकी आँधीमें रख दिया। सोनेकी चमकमें खोयी हुई धनवान् पिताकी आँखोंमें भी धूलकी ढेरीकी ओर देखना पड़ा, जिसमें उनकी प्यारी लाड़ली बेटीकी मुसकान चमक रही थी। लखपती लड़केको छोड़कर उसी लड़केसे उन्हें शादी करनी पड़ी। उनका विवाह हो गया—प्रेम विवाह।

मुझे याद आती है विवाहके पहलेकी एक रात, जब डाइनिंग टेबिल पर सब बैठे थे। पिताने शराबकी घूँट गलेके नीचे उतारते हुए इनकी ओर घूर कर देखा था और बड़े दुःखी स्वरमें बोले थे, "पछताओगी रूपा। प्यार आत्मिक सम्बन्ध हो सकता है पर विवाह आर्थिक सम्बन्ध है। प्यार नहीं, रुपया ज़रूरी है विवाहके लिए। तुम्हें आगे चलकर रुपयेकी कमी खलेगी और तब यही प्यार खोखला लगने लगेगा। यह एक क्षणिक भावुकता है

जिसमें आकर तुम सब चीज़ पर ठोकर मार रही हो। आज तक कोई भी 'लव मैरिज' मेरे सामने ऐसी नहीं आयी है जिसका अन्त असफल या दुखान्त न हुआ हो।"

इन्होंने उत्तर दिया था, "हो सकता है, पिता जी; लेकिन मेरा विश्वास है कि प्यार अभावोंमें भी सुखी रह सकता है। मैं हर परिस्थितिमें रह लूँगी और आप मुझे प्रसन्न ही देखेंगे। धनके बन्धनमें विवाहको बाँधना विवाहका अपमान करना है। विवाहके लिए धन नहीं प्यारकी जरूरत है। आप मुझे क्षमा करेंगे।"

इसके आगे वे कुछ बोले नहीं थे। इतना कहते हुए उठ गये थे कि "तुम सिद्धान्त कह रही हो—क्रियात्मक जगत्में यह सब ऐसा नहीं होता।"

मुझे लगता है जैसे वास्तवमें क्रियात्मक जगत्में ऐसा नहीं होता। प्यारका नशा भावुकताकी मदिराका परिणाम है। भावुकता समाप्त होते ही प्यारका नशा उखड़ जाता है। भावुकता चिरस्थायी नहीं होती। उसका निर्माण और अन्त हर क्षण प्रत्याशित है। इसीलिए प्यारके अस्तित्व पर विश्वास नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि अनेकानेक प्रेम-विवाह कुछ सालों बाद रूखे-सूखे विवाह रह जाते हैं। ऐसे विवाह जो गलेमें मौतके फन्दे-से लगते हैं। बहुत-से ऐसे विवाह भी उदाहरणार्थ मेरी आँखोंके सामने आना चाहते हैं, जहाँ प्रारम्भका प्रेम अन्तमें इतनी घृणामें परिवर्तित हो गया कि एक दूसरे पर जान दे देनेके स्थान पर जान ले लेनेकी बात तक सोची जाने लगी। लेकिन मैं यह सब विचार अपनी आँखोंके सामने आने नहीं देना चाहता। मानता

हूँ यह मेरी कमज़ोरी है क्योंकि प्यारके लिए मेरे हृदयमें एक इतना कोमल पहलू है जो किसी तरह भी उसका भयंकर उड़ा हुआ झुर्रीदार बदसूरत रूप देखना नहीं चाहता और न उस पर यक़ीन ही कर सकता है। फिर भी उनका वास्तविक रूप मेरे दिमाग़में खिंचा हुआ है। इस समय मेरी अवस्था ऐसी नहीं है कि मैं इसपर निश्चित रूपसे कुछ सोच सकूँ। मैं घबरा रहा हूँ। एक ओर तो मेरा हृदय पक्ष बहुत प्रबल हो गया है और दूसरी ओर कुछ ताज़ी घटनाओंके कारण मेरा मस्तिष्क पक्ष भी प्रबल है। मैं नहीं चाहता कि मैं इस समय बिल्कुल भी इस विषय पर सोचूँ लेकिन न चाहने पर तो विचार और भी तेज़ीसे आते हैं। मेरे एक मित्र हैं जो स्वभावसे बहुत कुछ कवि हैं। स्वच्छन्द लापरवाह प्रकृतिके। ईश्वर की कृपासे धनका अभाव उनके पास नहीं। चित्रकलाके प्रशंसक हैं और चित्रकारीसे कुछ शौक़ भी है उन्हें। उनका प्रेम-विवाह हुआ। उनकी पत्नीकी प्रकृति ठीक उनकी-सी है। वह एक कुशल संगीतज्ञा और वादिका हैं। स्वच्छन्दता और लापरवाही उनकी नस-नसमें भरी है। बहुत दिनोंसे मैं यह जाननेकी कोशिशमें था कि आख़िर उनका प्यार कहाँसे शुरू होता है। वह कौन-सा स्थान है जहाँ वे दोनों एक दूसरेको प्यार करते हों। क्योंकि मेरे सामने वे हमेशा झगड़ते थे। उनके झगड़े ऐसे नहीं होते थे जिसकी तहमें प्यार हो, अपितु भयानक उपेक्षा होती थी उनकी तहमें। उनके इस तरहके व्यवहारसे मैं बहुत दिनों तक बहुत परेशान रहा, क्योंकि उन दिनों मैं सोचता था कि प्रेम-विवाहोंकी असफलताका कारण आर्थिक है। लेकिन यहाँ तो उसका प्रश्न ही

न उठता था। इधर एक दिन मुझे मालूम हुआ कि वे दोनों अलग हो गये हैं और अलग-अलग रहने लगे हैं। इतना मनमुटाव बढ़ जानेपर आश्चर्य हुआ। उनसे मैं फ़ौरन मिला। कुछ अनजान बनते हुए मैंने पूछा, "भाभी कहाँ हैं?"

"उनकी बात मत कर, रज्जन", उन्होंने बहुत दुखी और खिन्न होते हुए कहा।

"क्यों? क्या अब वह जो विवाहके पहले थीं नहीं हैं? जिनके ऊपर तुम तन, मन, धन सब निछावर किये हुए थे। जिनके एक दर्शनके हेतु तुम स्वर्गके देवताओंको भी ठुकरा सकते थे! वह प्यारकी अमरता जिसपर अखंड विश्वास था क्या एक कोरा सपना ही था?"

"यह अजीब बात मैं तेरे मुँहसे सुन रहा हूँ!" वह क्षण-भर चुप रहे फिर बोले: "पर अजीब नहीं, सत्य है यह। उन्हें अब मुझमें बिलकुल रुचि नहीं रह गयी थी। मेरी बिल्कुल परवाह उन्हें न थी! विवाहके पहले वह अपनेसे अधिक मुझे प्यार करती थीं और अब वह मुझसे अधिक अपनेको प्यार करती हैं। उन्हें मेरा ख्याल बिलकुल नहीं रह गया है। वह अपनी धुनमें ही मस्त रहती हैं, अपनेसे हटकर शायद वह और कुछ ख़्याल करना भी नहीं चाहतीं।"

मैं कुछ समझ न सका। कुछ ही दिनों बाद मैं उनकी पत्नीसे मिला। वह चित्र इस समय मेरी आँखोंके सामने इतना स्पष्ट खिंच गया है कि इस वातावरणका प्रभाव धूमिल-सा हो गया है। एक पर्वतीय स्थानपर उन्होंने एक सुन्दर-सा बँगला ले रखा था जो

चारों ओर फूलों और लताओंसे ढँका हुआ था। उस समय रात हो चुकी थी जब मैं उनके पास पहुँचा। कमरेमें हरी रोशनी थी और वह सितारपर कोई मीठी धुन बजा रही थी। हलके बैंगनी रंगकी साड़ी पहने हुए। मुझे देखकर उनमें तनिक भी परिवर्तन न आया। मैंने बहुत हिचकते-हिचकते कहा :

"भाभी, भैय्याको भूल गयीं ?" लगा जैसे वह तैयार बैठी थीं मेरे इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिए। छूटते ही बोलीं— "भैय्याको छोड़कर और कोई बात करना चाहते हो तो कर सकते हो।" लगा जैसे भैय्याके नामसे चिढ़ थी। उनके इस उत्तरपर मुझे कुछ दुःख-सा हुआ। मैं ख़ामोश हो गया। मेरी ख़ामोशीमें निहित मेरे कष्टका अन्दाज़ लगाकर वह बोलीं :

"मैं जानती हूँ तुम्हें मेरे इस कथनपर दुःख हुआ है पर मैं सचमुच इस विषयपर कुछ कहना नहीं चाहती। मुझे कष्ट होता है। फिर अगर मैं कुछ कहूँ भी तो तुम उसे सच थोड़े ही मानोगे। तुम तो अपने भैय्याके सगे हो। मेरी बातें तो सब ग़लत होंगी ही।"

मैंने निश्चय किया कि जिसके दिलमें ऐसे विचार हों उससे बातें न करना ही ठीक है। फिर भी चलते समय उन्होंने कहा ही, "मै बिल्कुल मजबूर थी रज्जन। शादीके पहले वह मुझे जितना प्यार करते थे इधर वह उतना ही मुझसे घृणा करने लगे थे। मेरे एक-एक कामकी आलोचना करते थे। लगता है जैसे अच्छा कहने लायक मुझमें कुछ हो ही नहीं। मेरे संगीत-प्रेम तकसे उन्हें नफ़रत हो

गयी। इन चन्द सालोंमें ही उनका मन भर गया मुझसे। लगता है उन्हें मुझसे नहीं, मेरे रूपसे प्यार था।"

मैं अधिक देर नहीं बैठ सका। चला आया, उन टेढ़ी-मेढ़ी पहाड़ी पगडण्डियोंपर यह सोचते हुए कि कितने मजबूर हैं ये लोग। प्रकृतिकी समानता जहाँ प्रेमके लिए सफल सिद्ध हुई, वहीं विवाहके लिए असफल। प्रेमके लिए तो समान प्रकृतिका होना आवश्यक है पर विवाहके लिए पति-पत्नीको एक दूसरेका पूरक होना चाहिए, समान प्रकृतिका नहीं। यहाँ दोनों ही स्वच्छन्द और लापरवाह थे। दोनोंकी कमज़ोरियाँ समान थीं। फिर सफलता-पूर्वक निभ सकना कितना मुश्किल था।

इस समय चाँद हल्के झीने बादलोंमें छिप गया है। लगता है प्यार भी भावनाओंके निरभ्र आकाशमें चमकता है और क्रियात्मक जीवनकी बदलीमें खो जाता है। मेरा जी भारी हो रहा है। मैं उन निष्कर्षोंपर पहुँच रहा हूँ जहाँ मैं पहुँचना नहीं चाहता। सृष्टिके आरम्भसे ही प्यारकी महत्ता और अमरता पर कितना साहित्य रचा जा रहा है। इसी अखण्ड प्यारकी स्मृतिमें कितनी कलाका सृजन हुआ है। पर आखिर यह प्यार क्या है?

मेरे एक मित्र थे। विज्ञानके विद्यार्थी। लेकिन विचारोंमें शायद कला थी उनके। आदर्शवादी प्रेमके पोषक थे। इस समय उनकी स्मृति मैं चाहता हूँ न आये। मेरा रोम-रोम सिहर उठता है पर आँखोंके सामने एक चित्र तेज़ीसे नाच जाता है।

आधी रातका समय था। पिक्चर देखकर मैं लौट रहा था। रास्तेमें उनका घर पड़ता था। मेरे जीमें यों ही एक कुतूहल-सा

हुआ कि मैं देखूँ वह क्या कर रहे हैं। मेरा उस समय उनके पास जाना अप्रत्याशित था। शायद उन्हें भी विश्वास था कि इस समय कोई भला आदमी न आवेगा। उनके कमरेमें प्रकाश था। खिड़कीसे झाँक कर मैंने देखा, वह मेज़पर दोनों हाथोंसे सिर पकड़े बैठे हैं। उनके सामने सुनहले फ्रेममें जड़ा हुआ एक लड़कीका चित्र था। जुहीकी एक पतली माला उस चित्रपर पड़ी थी। कुछ रंग-बिरंगे फल सामने रखे थे। और वह एकटक उस ओर देख रहे थे। मैं बहुत देर तक खड़ा रहा पर उनकी समाधि न टूटी। आखिरकार मैं बोल ही उठा—

"शाबाश मेरे पुजारी—अच्छा मानसिक व्यभिचार हो रहा है!"

वह चौंक उठा। बहुत अनिच्छासे उसने दरवाज़ा खोल दिया। मैंने कहा, "घबराओ मत, तुम्हारी पूजामें विघ्न नहीं डालूँगा। पर एक बात बता दो, यार—कौन है यह? है भाई बलाकी हसीन।" वह मेरी ओर घूरकर देखने लगा। लगता था खूनका घूँट पीकर रह गया हो। मैंने एक तीर और मारना उचित समझा। बोला, "यार, कहाँ से फाँसी है?"

यह सुनकर लगा जैसे वह भीतर ही भीतर उबल पड़ा हो। आवाज़ दबाकर बहुत गम्भीर होकर दृढ़तापूर्वक वह बोला, "ऐसी बातें मत करो, राजेन्द्र। यह देवी हैं। मैं इनकी पूजा करता हूँ। तुम तो कवि हो, तुम्हारी दृष्टि इतनी ओछी और तुच्छ नहीं होनी चाहिए।"

मैं खामोश हो गया। परिस्थितिकी गंभीरता अब मुझे ज्ञात हुई। रुककर बोला :

"भई माफ़ कर। मैंने तो इसे आजकी दुनियाका साधारण रोमांस समझा था।" उसने बड़ी बेबसी और दृढ़तासे कहा—"नहीं। मैं प्यार करता हूँ रञ्जन! यद्यपि आजकी दुनियाने प्यारको बदनाम कर रक्खा है। यों प्यारका आधार पवित्रता और संयम है, उद्देश्य त्याग और बलिदान। रञ्जन, मुझे यक़ीन है तुम समझते हो—और दुनियाके हल्के आदमियोंकी भाँति तुम ऐसे सम्बन्धका मज़ाक नहीं उड़ाओगे। सच मानो वासनाका आभास भी मुझे नहीं होता। लगता है जैसे पूर्व जन्मका सम्बन्ध रहा हो। इस जन्ममें फिर दोनों आत्माओंका मिलन हुआ है। यह आत्मिक बन्धन है रञ्जन, नीच निकृष्ट शारीरिक बन्धन नहीं। मैं उसकी पूजा करूँगा, जीवन पर्यन्त पूजा करूँगा। वह देवी है।" उसकी आँखें भक्तिकी प्रबलतासे डबडबा आयी थीं।

मैं चला गया था। और उस दिन फिर प्यारके प्रति मेरा बचा विश्वास सजग हो गया था। जी करता है इस चित्रको आँखोंके सामने बाँधे रहूँ और इस समय चाँदकी इन मधुर किरणोंके सहारे उसे आकाशके उस बड़े नीले पर्देके पार छिपा दूँ, जहाँ इस पर कोई आँच न आ सके।

लेकिन प्यारकी इस चाँदनीको हटाकर ग्रीष्म ऋतुके बवंडरकी तरह एक चित्र नाच रहा है।

सर्दीका महीना था! चारों ओर प्यारी-प्यारी धूप सो रही थी। उस मकानके सामने उस छोटेसे लानकी हरी-हरी घासपर

पैर रखते ही मैंने देखा, एक कोमल नारी घासपर पड़ी सिसकियाँ ले रही है और समीप ही ग़ुस्सेसे तमतमाये हुए मुट्ठियाँ बाँधे मेरे वही दोस्त, जो उस दिन देवीकी पूजा कर रहे थे, काँपते हुए खड़े हैं ! वह देहरादूनमें सिविल इञ्जीनियर होकर चले गये थे। बीच-बीचमें उनसे इधर-उधर मुलाकात होती थी और एक बार उन्होंने यह बताया भी था कि अब उनका जीवन स्वर्ग है। उन्होंने संसारसे लड़कर उस देवीसे शादी कर ली है। मैं कभी भी देहरादून आकर उनके हाथसे ही अपनी दावत खा सकता हूँ। एक वर्ष बाद कहीं देहरादून जानेका अवसर हुआ तब मैंने यह दृश्य देखा। आवाज़ दी—विनोद। वह फ़ौरन उसे घासपर सिसकती ही छोड़कर मुझे लेकर ड्राइंगरूममें आ बैठा। अब भी उसकी हलचल शान्त न हुई थी, वह ग़ुस्सेसे काँप रहा था। मैंने कहा, "तुम बड़े क्रोधी हो गये हो, अगर मैं न आता तो तुम उस नौकरानीको मार ही डालते। औरतोंपर हाथ नहीं उठाना चाहिए।"

"नौकरानी नहीं, तुम्हारी भाभी थी।" उसने कुछ संयत होकर कहा। यद्यपि उसके ओठ काँप रहे थे। मैं जैसे आकाशसे ज़मीनपर गिर पड़ा होऊँ।

"भाभी !"—आश्चर्यसे मेरे मुखसे एक चीख़-सी निकल गयी।

उसने कहा, "हाँ-हाँ। अब उन्होंने बड़े नये-नये गुल खिलाये हैं। नहीं जानता था, यह ज़हरमें बुझी हुई है। ओफ़, आदमी ऊपरसे जितना अच्छा होता है काश भीतरसे भी उतना ही अच्छा होता ! नहीं जानता था प्यारसे सिरपर चढ़ जायगी। कर्कश,

झगड़ालू, चिड़चिड़ी, बेवकूफ, आलसी, नीच डाइन है वह…" उनके विशेषणोंको ख़तम करनेके लिए मैंने कहा "चुप, देवीको ऐसा नहीं कहते !" वह आपेसे बाहर हो ज़ोरसे चिल्ला पड़ा :

"भाड़में जाय देवी, चुड़ैल है, चुड़ैल !" मैं उसे निकालकर दम लूँगा, दूसरी शादी करूँगा !" मैंने कुछ ज़्यादा बोलना उचित न समझा। फिर मिलनेको कहकर भाग आया। कुछ दिनों बाद मैंने सुना उन्होंने दूसरी शादी कर ली है और उससे सम्बन्ध त्याग कर दिया है।

समाचार पाते ही मुझे लगा जैसे प्यार करते समय हम व्यक्ति में चारों ओर गुण ही गुण देखते हैं पर विवाहके बाद व्यक्तिके अवगुण भी हमारे सामने आते हैं। और तब हमारी आशाओंपर कठोर आघात होता है, हम पछताते हैं, तबाह हो जाते हैं। प्यार हमें व्यक्तिका ऊपरी सौन्दर्य दिखाता है और विवाह भयानक कङ्काल।

फिर एक मधुर आशाके स्थानपर इतनी भयानक निराशा पाकर हम टूटते हैं, बुरी तरह टूटते हैं। साधारण विवाहसे तो कोई आशा होती ही नहीं। अगर होती भी है तो इतनी हल्की जिसका निराशामें बदल जाना भाग्यको ही कोसकर समाप्त हो जाता है, पर प्रेम-विवाहमें एक अटूट दृढ़ विश्वास जब टूटता है, तब प्रलय हो जाता है।

ओफ़ कितनी भयानक है यह सत्यता। आकाशका एक हल्का-सा तारा टूटता है तो कितना भयानक लगता है। और अगर यह चाँद जो इन हल्के-हल्के बादलोंसे आँखमिचौनी खेल

रहा है टूट जाय, तब ! मैं काँप रहा हूँ : लगता है यह सोचना कितना भयानक पाप है और फिर प्यारको टूटते हुए देखना क्या इससे भी बढ़कर भयंकर पाप नहीं है।

लगता है मुझे नींद आवेगी। मैं दरवाज़ेसे पीठ लगाकर सो भी सकता हूँ। आँखें कभी-कभी झपक जाती हैं पर यह तूफ़ान मस्तिष्कमें हलचल मचाये हुए है। इस समय चाँद क्षितिजकी ओर और झुक गया है। उसकी गति तेज़ है। अपनी पीली-पीली सुनहरी किरणोंसे कजरारे बादलोंको हटाता हुआ वह तेज़ीसे भाग रहा है। कितना उन्मुक्त है यह चाँद ? क्या इसे किसी बन्धनमें बाँधा जा सकता है ? फिर प्यारको ही कैसे लोग बन्धनमें बाँधते हैं ! प्यार उन्मुक्त आकाशका स्वच्छन्द चाँद है। प्रेम-विवाह वही करते हैं जो प्रकृतिसे पूर्णतया स्वच्छन्द होते हैं; तभी तो समाजके बन्धनोंको तोड़कर, लोकाचार और रूढ़ियोंकी भित्ति गिराकर, और सम्बन्धियोंकी उपेक्षा करके भी वे अपना मनचाहा सम्बन्ध करते हैं। इतनी स्वच्छन्द प्रकृति, जो समाज के उस चिरन्तन कठोर बन्धन तक में नहीं बँध सकी, अपने ही द्वारा बनाये हुए विवाहके बन्धनमें कैसे बँध सकती है। तभी वे विवाहका बन्धन स्वीकार नहीं कर पाते और वह अस्वीकृति आगे चलकर असफलता बन जाती है।

× × ×

इस समय गाड़ी बड़ी ज़ोरसे सीटी दे रही थी। बच्चा सोतेसे चौंक पड़ा और रोने लगा। उनकी भी नींद टूट गयी, अपनी नींद-भरी भारी पलकोंको दो-एक बार खोलकर जिससे उनकी काली-

काली बड़ी सपनों-भरी पुतलियाँ चमक उठीं और बच्चोंको छातीसे चिपकाकर वे फिर सोने-सी लग गयीं। बच्चा भी लगता है माता की समीपताका विश्वास पाकर चुप हो सो गया है। कितना मधुर लगता है यह जीवन। कितनी शान्ति-भरी लगती है माँ और बच्चे की यह निश्चिन्त निद्रा! माँकी रेशमी उँगलियाँ बच्चेकी धड़कती हुई छातीपर कवच है। मेरी दृष्टि उनकी कमलकी पंखुरियों सदृश पलकोंपर जम-सी गयी है। इन नीरव पलकोंके भीतर कितना तूफ़ान प्रबल तूफ़ान ख़ामोश है मैं सोच रहा हूँ। उनकी इस प्रेमकी दुनियामें मैं दो दिन रहकर लौटा आ रहा हूँ। स्मृतियाँ इतनी ताज़ी हैं, दर्द और अशान्तिका इतना घना कोहरा उनपर छाया हुआ है कि मैं चेष्टा करके भी अपनेको सँभाल नहीं पा रहा हूँ।

× × ×

शामका समय था। अँधेरा छाने लगा था। उस छोटेसे मकानके छोटे आँगनमें चारपाई पर मैं इनके पतिके साथ बैठा बेलका शरबत पी रहा था। बग़लके दालानमें एक नौकर खाना बना रहा था और दूसरा बच्चेको बाहर गाड़ीपर घुमाने ले गया था। ये आँगनसे सटे हुए कमरेके दरवाज़ेके चौखटपर कुछ उदास-सी बैठी थीं। गर्मीकी उमस घरकी उन चहारदीवारियोंमें और तड़प उठती थी। इनके पतिने कहा—"बहुत सुस्त हो, आओ चलो घूम आयें। कुछ तबियत बदल जावेगी, छोटा क़स्बा है, यहाँ जी बहलानेका और कोई साधन तो है ही नहीं।" इतना कहकर वे मेरी ओर भी देखने लगे जैसे मेरी इच्छा जानना चाहते हों।

मैंने सिर हिलाकर अपनी स्वीकृति दे दी। पर वह कुछ बोलीं नहीं। सिर लटकाये बैठी रहीं। कुछ देर रुककर वे फिर बोले :

"बड़ी ख़ामोश हो, बोलीं नहीं तुम, सिर दर्द कर रहा है क्या ?" परन्तु इसका उत्तर भी उन्हें नहीं मिला।

कुछ देर बाद उनसे न रहा गया। ख़ामोशी असह्य हो गयी। पास जाकर हाथसे उठाते हुए बड़े प्यारसे बोले—"चलो उठो साड़ी बदल लो।" इन्होंने बहुत रूखे ढंगसे जवाब दिया, "आप लोग हो आइये, मैं नहीं जाऊँगी।"

वह चुपचाप चारपाईपर आकर बैठ गये। मुखपर उदासीके पंखोंकी काली छाया घिर गयी। और बड़ी देर तक चिन्तित मुद्रामें बैठे रहे। घरमें एक अजीब ख़ामोशी-सी थी; केवल मसाला भूँजने और बीच-बीचमें पतीली पर करछुलकी खटखटकी आवाज़ हो उठती थी। काफी देर तक यह ख़ामोशी छायी रही और आखिरकार किसी नदीकी निस्तब्ध छातीपर अचानक कगारा टूटकर गिरनेकी दर्द भरी कराहकी तरह वह बोल पड़े—"तुम्हें क्या हो गया है इधर ? यह उदासी अच्छी नहीं है। इसका स्वास्थ्यपर बुरा असर पड़ेगा। तुम अपने चारों तरफ़ इतना उदास, ख़ामोश वातावरण घेरे रहती हो कि मुझे भय लगता है। इस तरह ज़िन्दगी कितने दिन चलेगी ? सोचता था यह ज़िन्दगी हम तुम साथ रहकर हँसी-ख़ुशीसे काट देंगे पर लगता है वह भी नसीबमें नहीं।"

उन्होंने अपनी आवाज़के रूखेपनको भरसक कम करते हुए कहा—"आप लोग हो आइये, मैं रोकती थोड़े ही हूँ, मेरी जानेकी

तबीयत नहीं।" इतना कहकर वह ऊपर छतपर जाकर लेट रहीं।

मुझे भी उनकी यह उपेक्षा खली। इतने भारी वातावरणमें रहनेका मैं आदी नहीं। और उन चन्द घण्टोंसे जबसे मैं उस घरमें था, इतना भारी उदास वातावरण मैंने देखा कि मैं घबरा गया। एक क्षण भी रहना असह्य हो गया। मुक्तिके लिए मैं तड़प उठा। पता नहीं कैसी एक घुटती-सी छाया उस घरपर घर किये थी। उस घरकी दीवारें, ज़मीन, आकाश सब जैसे किसी अभिशापसे उदास और भारी हों। ट्रेन चली गयी थी; लौटा जा नहीं सकता था; रातभर रहना था। सोचने लगा, पता नहीं कैसे रात कटेगी! इतनेमें ही वह बोल उठे :—"भाई साहब, आप क्यों ख़ामोश हो गये?"

मैंने कहा—"आपलोगोंके बारेमें सोच रहा था।"

उन्होंने कहा—"अरे कुछ अच्छा नहीं लगता है, कुछ जी अच्छा नहीं है उनका।" मैं समझ गया यह बात कितनी बनाकर कही जा रही है।

मैंने पूछा "कुछ कहा-सुनी तो नहीं हो गयी आप लोगोंमें?"

उन्होंने कहा "नहीं, जबसे यहाँ आयी हैं तबसे ऐसी ही रहती हैं, कुछ उखड़ी-उखड़ी-सी। यहाँके वातावरणके अनुसार ये अपनेको बना नहीं सकी हैं। छोटा-सा शहर है। आमोद-प्रमोदका कोई साधन है ही नहीं। मकान भी कोई अच्छा नहीं मिल सका। बड़ी कठिनाइयों-से यह मकान मिला है, सो आप देख ही रहे हैं—कच्चा सीलनसे भरा हुआ। बिजली यहाँ है नहीं। पानी कुएँसे आता है। दो नौकर हैं, एक तो बच्चेपर लगा रहता है। दूसरा

बाज़ार-हाट दौड़ा करता है। यों चौका-बर्तनके लिए कहार है। महाराजिन है ऐसी बदमाश कि महीनेमें पन्द्रह दिन आती ही नहीं ? खाना भी फिर इन्हीं नौकरोंके सिर पड़ता है; लेकिन मैं तो हर अवस्थामें ख़ुश रहना अच्छा समझता हूँ। अगर ग़ौरसे देखिए तो हम दो आदमियोंके लिए इतना बहुत है। मैं तो प्यारसे एक झोपड़ीमें भी दिन काट सकता हूँ। लेकिन लगता है इन्हें तक़लीफ़ है। समझाता हूँ इन्हें तक़लीफ़ माननेसे ही होती है। फिर इनकी भी मजबूरी समझता हूँ, यह बचपनसे ऐसे वातावरणमें पली हैं कि उसे भुला पाना इनके लिए असम्भव है। यहाँ उतना आराम इन्हें कहाँ मिल सकता है।" और इतना कहते-कहते उनकी आवाज़ उदासीके सागरमें डूब गयी।

कुछ देर बाद वह फिर बोले—

"मैं तो प्यारको ही सब कुछ मानता हूँ। प्यारके बिना सारे आराम बेकार हैं। मैं तो इनके साथ जंगलोंमें भी सुखी रह सकता हूँ। मेरे लिए अपनी यही छोटी-सी दुनिया सब कुछ है। अब कुछ नहीं चाहिए। सौ रुपये ये पाती हैं। डेढ़ सौ मैं पाता हूँ। दो आदमियोंके लिए बहुत है। फिर हमें औरोंसे मुक़ाबला करनेकी क्या ज़रूरत है। हमारे पास जो कुछ है वही बहुत। मैं अपने अभावसे ही सन्तुष्ट हूँ। और प्रेम तो अभावोंको ग्रस लेता है अभाव रहते ही कहाँ हैं।"

इतना कहते-कहते वह उठ बैठे और बोले—"चलो ऊपर चलें, देखें तबीयत तो नहीं ख़राब है।" मैंने कहा, 'आप जाइये मैं आता

हूँ।' वह चले गये और मैं पड़ा बहुत कुछ सोचता रहा। सोचता रहा दोनों एक दूसरेको प्यार करते हैं पर विवाह करके सुखी नहीं हैं। इसका कारण यही है कि एक अपने प्रेममें आदर्शवादी और दूसरा भौतिकवादी। एक झोपड़ीमें सुखी रह सकता है, दूसरेको बँगला चाहिए। एक अभावोंको देख ही नहीं पाता, दूसरेकी आँखों में वे काँटोंसे गड़ते हैं।

थोड़ी देर बाद हम छत पर खाने बैठे। सुबहका थोड़ा-सा दूध बच रहा था। नौकरने उसमें मेवा डालकर खीर कर दी थी और एक छोटी कटोरीमें दे गया था। मुझे ऐसी खीर पसन्द नहीं— मैंने कटोरी अपनी थालीसे निकाल दी। फिर पति-पत्नीमें एक अच्छा खासा झगड़ा-सा रहा। हर एक खुद न खाकर दूसरेको खिलाना चाहता था! आधा-आधा बाँट लेनेका प्रस्ताव मैंने रखा पर वह स्वीकृत नहीं हुआ और खीर पड़ी रह गयी। मुझे दोनोंके हृदयमें छिपे प्यारके दर्शन हुए। पर यह झगड़ा भी एक अजीब उदासीसे भरा था। ख़ामोश झगड़ा, जीवन-हीन। ऐसा लगता था जैसे प्रेमकी सुन्दर दुनिया पर उदासीका घना कोहरा छा गया है, उसकी साँसें घुट रही हों और वह दबा-दबा अपने अन्तकी घड़ियाँ देख रहा हो।

खाना समाप्त हुआ। चारपाइयाँ छत पर ही बिछीं। उस समय चाँद मुँडेरी परसे ऊपर उठ रहा था। बग़लकी नीमकी पत्तियोंसे ठंडी हवा आ रही थी। उन्होंने ग्रामोफ़ोन पर रेकार्ड लगाये और कुछ प्यार-भरे गीत बजने लगे। मैं आँख मींचकर पड़ रहा। ठंडी-ठंडी हवा, शीतल चाँदनी, प्रेमके रेकार्ड और

प्यार-भरी दुनिया—सब कितनी अच्छी थीं। बीच-बीचमें वह मजाक करते थे, हँसना-हँसाना चाहते थे पर यह ख़ामोश चारपाई पर पड़ी थीं, शायद वर्तमानसे आँख बन्द कर अतीतमें कुछ खोज रही थीं। कितनी बेबसी थी उनकी परिस्थितिमें। एक अभावोंकी दुनियामें मुसकान बरसाता था और दूसरा मुसकानोंकी दुनियामें अभावके आँसू बरसाता था! बीच-बीचमें कई बार उन्होंने पूछा, सिर तो नहीं दर्द कर रहा है ? और फिर मैं सो गया, कुछसोचता हुआ। अचानक किसी सपनेके झटकेसे आँख खुल गयी। उस समय आधी रात थी, चाँद आकाशपर चढ़ गया था। चारपाईपर वह सो रही थीं और वे सिरहाने बैठे माथे पर ओ-डि-कोलोन की पट्टियाँ भिगो-भिगो कर बदल रहे थे।

सुबह हुई। मैं चलने लगा। यह बोलीं, "चार दिनकी छुट्टियाँ हैं, कहो तो रज्जनके साथ घर हो आऊँ। बाबूजी की तबीयत कुछ ठीक नहीं है।" वह बोले, "अभी तो तुम हो आयी हो, फिर भी तुम्हारी जैसी इच्छा! उन्होंने तैय्यारी की और वह उदास बैठे रहे। शायद सोचते रहे जैसे तेज़ आवाज़के बाद अचानक खामोशी भयानक लगने लगती है वैसे ही वहाँसे आने पर उन्हें फिर यह अभावों की दुनिया खलेगी···हमलोग चल दिये। मुझे लगा जैसे एकको भौतिक जगत्की चमक तेज़ीसे खींच रही है जब कि दूसरा अपने प्रेमकी आदर्शवादी भुजाएँ फैलाये लकवेके मरीज़की तरह चुपचाप बैठा है। कब तक बाँधकर रख सकेंगी ये! भविष्यके बारेमें सोच मैं काँप उठता हूँ। देखता हूँ दोनोंके बीच एक दरार पड़ गयी है और जल्द ही एक खाई बन जावेगी। दोनों एक दूसरेको प्यार

करते हैं, फिर भी धीरे-धीरे दोनों अलग हो रहे हैं। कैसी विडम्बना है—कैसी मजबूरी।

इस समय भी चाँद आकाशकी उसी नीली घाटीमें, उतनी ही तेज़ीसे भागा जा रहा है। हवाके नम झोंके उतने ही तेज़ीसे आ रहे हैं। नीचे पेड़-पल्लव भी उतनी ही तेज़ीसे भाग रहे हैं। गाड़ीकी गति अभी उतनी ही तेज़ है। और बगलके डब्बेका मुसाफ़िर उतनी ही मस्तीसे गा रहा है।

बारे बलम मोरी तरसत तरसत
बीती सारी उमरिया न।

पर अभी थोड़ी देर बाद यह चाँद नहीं रहेगा। हवाके झोंके ख़ामोश हो जायँगे। पेड़-पल्लव, गाड़ी सब गतिहीन हो जायगी। और यह मस्ती-भरा गीत किसी अन्धकारमें खो जावेगा। सबकी एक चरम सीमा है और फिर उसके बाद नाश! प्रेमकी भी चरम-सीमा है और वह है विवाह, फिर विवाहके बाद प्रेम कहाँ? फिर तो नाश! नाश···मैं काँप उठा हूँ। मैं यह क्या सोच रहा हूँ। नहीं ऐसा नहीं हो सकता, नहीं होना चाहिए। प्रेम—विवाह, चाँदनी—अँधेरा···



मौतकी छाया

शीतकालकी अँधेरी रात थी वह। चैथम लाइनकी उस सुनसान सड़क पर जिसके एक ओर खामोशीकी मदिरा पिये हुए वह विस्तृत मैदान आँख फाड़े देख रहा था और दूसरी ओर कोहरेका एक धुँधला आवरण डाले छोटे-बड़े बंगले अपनी सारी सुषमा समेटे हुए खामोशीसे ऊँघ रहे थे, मेरी बिना ब्रेककी सायकिल तेज़ीसे चली जा रही थी। नीचे लम्बी ढाल वाली सड़क थी, और ऊपर अन्धकारमय वृक्षोंकी छाया। मैं अपनी सायकिलके पैडल और तेज़ीसे चलाने लगा ताकि उस तिमिरमय प्रदेशको पार करके शीघ्र ही मिस्टर डेके बंगलेके सम्मुख वाले विद्युत्-स्तम्भ तक पहुँच सकूँ। मिस्टर डेके उस विशाल बंगलेके बड़े अहातेमें एक कोने पर बने हुए एक छोटेसे मकानमें मैं अपने मित्रोंके साथ रहता था। मेरे मकानके पीछे मीलों तक फ़ौजी बारकें थीं। इलाहाबादकी फ़ौजी छावनी यही थी। चारों ओर अंगरेज़ फ़ौजी अफ़सरोंके बंगले थे जिनके बच्चे दिन भर अपने बड़े-बड़े कुत्ते लिये हुए हमारे अहातेमें अमरूद तोड़ा करते थे या गुलेलसे चिड़ियोंका निशाना लगाया करते थे। अफ़सर रातमें शराब पी कर अपनी-अपनी प्रेयसियोंके साथ बुरी तरह अट्टहास करते या पियानो पर बेसुरे चीखते-चिल्लाते। उस समय हम लोगोंको ज़बरदस्ती अपनी किताबें बन्द कर देनी पड़ती। तब या तो हम लोग सो जाते या स्वयं भी बाहर निकल कर उनकी नकल करते। कभी-कभी पचासोंकी तादादमें ये टामी

शराबके नशेमें, मैदानके पार प्रोफ़ेसर दासके मकानके समीपस्थ क्लबसे आती हुई सड़क पर बुरी तरह ऊधम मचाते। उस समय इनके रास्तेमें पड़ना खतरेसे खाली नहीं रहता। एक बार एक अनजान सायकिल वाले पर इन लोगोंने बुरी तरह कंकड़ चलाये, उसकी सायकिल तोड़ डाली। पता नहीं बेचारा कैसे हम लोगोंके अहातेमें घुस आया तब उसकी जान बची।

अतः हम लोग रातमें चलते समय हमेशा इस बातका ख़याल रखते थे कि कहीं इनसे मुठभेड़ न हो जाय। उस रात भी मेरे मनमें अन्य विचारोंके साथ-साथ यह विचार भी था। बंगलेके सम्मुख पहुँच कर उस प्रकाश-स्तम्भके पास ज्योंही मैंने सायकिल घुमानी चाही त्योंही शरीर भरमें एक अजीब-सी कँपकँपी फैल गयी। मैं बेहोश-सा सायकिल पर से कूद पड़ा। मेरे सामने सोलह सत्रह वर्षकी एक नवयौवना हाथ, पैर, मुँह सबको एक साथ समेटे एक अजीब मुद्रामें बैठी थी। उसके गोरे रंगके शरीर पर बिजलीके प्रकाशकी किरणें झर रही थीं। मैं कुछ देर उसकी ओर देखता रहा। उसने अपने दोनों घुटने अच्छी तरह चिपका कर उन पर मुँह टेक रक्खा था और अपनी टाँगोंको हाथसे कस कर बाँधे हुए थी। मुझे केवल उसके मिट्टीसे लिपटे हुए काले बाल, गेहुएँ रंगकी पीठ, बाँहें और घुटनेसे नीचे तककी टाँगें दिखाई दे रही थीं। अचानक उसके नग्न होनेका ख्याल आते ही शरीर भर में एक प्रकारकी कँपकँपी-सी दौड़ गयी। मैंने चारों ओर दृष्टि दौड़ा कर देखा, कहीं कोई है तो नहीं। परन्तु चारों ओर भयानक खामोशी। सर्दीकी अधिकताने सबको और मजबूर कर रक्खा था

कि वे अपने घरमें दुबके बैठे रहें। मैं कुछ देर तक भय, आश्चर्य, कुतूहल—अनेक भावनाओंमें बँधा हुआ किंकर्तव्यविमूढ़-सा उसके समीप खड़ा रहा। अचानक ठंडी हवाका एक तेज़ झोंका शरीर में सैकड़ों तीर-सा चुभाता हुआ निकल गया। मैं काँप उठा। मेरी आँखें स्वभावत: उसकी ओर यह देखनेके लिए घूमीं कि क्या वह भी काँप रही है। परन्तु वह निश्चेष्ट, ज्ञानरहित जड़वत् बैठी थी। एक बार फिर उसके नग्न होनेकी कल्पना कर मैं सिहरा। हवाके कारण समीपवर्ती पेड़के पत्ते खड़खड़ाये। मैंने चौंक कर देखा कोई आ तो नहीं रहा है। पता नहीं क्यों, मेरे अन्दर यह भय घर कर गया था। उन चन्द क्षणोंमें मेरी मानसिक स्थिति सैकड़ों करवटें बदल रही थी। एक निर्बलताने मुझे विवश किया कि मैं भाग जाऊँ। मैंने सायकिलके पैडिल पर पैर रक्खा और चोर-सा चारों ओर देख कर, मानो मैं कोई भयानक पाप कर रहा हूँ, भागने ही वाला था कि दयाने रोक दिया। मनमें एक विचार आया कि इस भयानक सर्दीमें कहीं यह मर न जाय। इस आशंका ने मुझे करुणासे भर दिया। मैंने उसकी ओर रुख किया और पूछा—"तुम्हें सर्दी लग रही है?" मुझे आज हँसी आती है इस प्रश्न पर। कितना निरर्थक प्रश्न है यह! परन्तु न जाने किस अनजान घबराहटने मुझे विवश कर दिया था। मुझे अच्छी तरह याद है कि इस प्रश्नके समय मेरी आवाज़ काँप उठी थी और अपने आप वह इतनी धीमी हो गयी थी कि उसके अतिरिक्त कुछ दूर पर खड़ा हुआ कोई व्यक्ति भी उसे नहीं सुन सकता था। प्रत्युत्तरमें मुझे एक धीमी खिलखिलाहट सुनाई दी। वह खिलखिला

कर हँस पड़ी। मुझे ऐसा लगा जैसे यह खिलखिलाहट मेरे प्रश्न के प्रत्युत्तरमें नहीं अपितु उसके मस्तिष्कमें चलती हुई किसी छेड़खानीके नाटकके उत्तरमें था। उस एक खिलखिलाहटने उसकी सारी मानसिक स्थिति मेरे सामने स्पष्ट कर दी। मैंने समझ लिया कि उसका मस्तिष्क विकृत हो चला है। क्यों ? कैसे ? इन सब प्रश्नोंकी उधेड़बुन करता हुआ मैं फ़ौरन सायकिल पर बैठ बंगले में घुस गया। मैंने यह निश्चय किया कि उसे कुछ कपड़े दिये जायँ—उसे इस प्रकार सर्दीमें ठिठुर कर मरने देना उचित नहीं। मैं अपने 'लाज' के सम्मुख सायकिलसे उतरा। सारी कोठरियाँ बन्द थीं। मेरे मित्रगण सो रहे थे। अपनी कोठरी खोल बटन दबा मैंने प्रकाश किया और कुछ देर एक अजीब मानसिक स्थितिमें पड़ा यह सोचता रहा कि पुनः उसके पास चला जाय या नहीं। मेरी निर्बलताने टालना चाहा, एक प्रश्न सामने रक्खा—"कोई देख ले तो ?" और फिर इस प्रश्नके उत्तरकी ओर मेरी कल्पनाने जबर-दस्ती विचार करना प्रारम्भ किया। बहुत बुरे-बुरे परिणाम सामने आये। मैं सिहर उठा। मैंने एक क्षणके लिए निश्चय किया कि मैं नहीं जाऊँगा; यह भारतवर्ष है, न जाने कितने नंगे-भूखे मरा करते हैं। परन्तु पता नहीं कैसे इन्हीं विचारोंकी भीड़को चीरता हुआ मेरे अन्दरका पुरुष कुछ झिझकता हुआ आगे बढ़ा—नारी···निपट भयावह स्थितिमें···फटे हाल···और वह निर्जनता···। मैं फिर काँप उठा— इस बार भयसे नहीं घृणासे। आत्मा बड़े ज़ोरसे काँप कर चिल्ला उठी "नीच !" और मेरे अन्दरका वह पुरुष पता नहीं कहाँ सहम कर विचारोंकी उस भीड़में

लुप्त हो गया। किसीने उसीमें से चिल्ला कर कहा—"दूसरों का जीवन, इस प्रकारकी निरर्थक निर्बलताका दास बन कर नष्ट करना पाप है।" मैं उठ कर खड़ा हो गया। चारों ओर देखने लगा कौन-सा कपड़ा दिया जा सकता। मेरे पास एक भी धोती न थी। मैं पायजामे और पैंट ही पहना करता था। और उनकी संख्या भी मेरे पास इतनी कम थी कि अगर धोबी सातवें रोज कपड़े न ला पाता तो मुझे गन्दे कपड़े ही पहने यूनिवर्सिटी जाना पड़ता। मैं क्या करूँ? यह एक समस्या थी। उसे नंगा पड़ा रहने देना ठीक नहीं। फिर क्या करूँ? कुल चार पायजामे। एक दे देनेका अर्थ तीनका बचना, फिर···हिसाब नहीं बैठता था। आखिरकार मैंने निश्चय किया कि उसे एक पायजामा देना ही पड़ेगा। मैंने खूँटी परसे सबसे अधिक फटा पायजामा उतारा और उसे लेकर फ़ौरन कमरेके बाहर निकल आया। उस समय एक अजीब उत्साह-सा था मेरे अन्दर। इसका कारण शायद यही था कि मेरी भावनाओंको ज्ञात हो गया था कि मैं परोपकार करने जा रहा हूँ। मैं बहुत तेज़ीसे डग बढ़ाता हुआ आगे बढ़ा, परन्तु इस डरने कि कहीं कोई देख कर यह न समझे कि मैं छेड़खानी कर रहा हूँ मेरे पैर एकदम रुक गये। मैं लौट पड़ा। अपने अत्यन्त निकटवर्ती मित्र लक्ष्मणके कमरे पर मैंने दो-चार बार हल्की-सी थाप दी। शायद उसकी आँख लग ही रही थी, क्योंकि वह बिना अधिक परिश्रम किये ही उठ गया। "क्या है?" उसने पास आ कर आँख झपकाते हुए कहा। मैंने कहा—"मेरे साथ चलो, एक लड़की सड़क पर अजीब दशामें पड़ी है। उसकी रक्षा करें नहीं तो मर

जायगी।" कुतूहलवश वह मेरे साथ चल पड़ा। हम लोग रास्तेमें बिना कोई बात किये सीधे बंगला पार कर सड़क पर निकल आये। उसके पैर नींदके कारण कई बार लड़खड़ाये, पर फिर वह संयत हो गया। वहाँ पहुँच कर मैंने देखा कि वह उसी प्रकार जड़वत् गठरी बनी बैठी है। दो होनेके कारण अब मेरा भय पहलेसे कुछ कम हो गया था। मैंने उसके ऊपर पायजामा फेंका और कहा—"लो इसे पहन लो।" पर उसने सुना नहीं। कुछ देर मैं इस प्रतीक्षामें खड़ा रहा कि शायद वह स्वयं पहन ले। पर वह हिली-डुली तक नहीं। मैंने सोचा कहीं वह संज्ञाहीन न हो गयी हो। उसे छूनेकी मेरी हिम्मत नहीं पड़ रही थी। आखिरकार मैंने बहुत साहस कर अपने पैरसे उसे जोरसे हिलाया। मेरे ऐसा करनेसे वह एक बार फिर जोरसे खिलखिलाकर हँस पड़ी। मैंने फिर कहा—"लो इसे पहन लो।" मेरी आवाज पर अबकी बार उसने घुटने परसे सर ऊपर उठाया। उसने खड़े होनेकी चेष्टाकी पर उठ न सकी। हम लोगोंने समझ लिया वह जाड़ेके कारण बुरी तरह जकड़ गयी है, इसीलिए उठ नहीं पा रही है। मैंने लक्ष्मणको इशारा किया उसने उसे उठा कर खड़ा किया। वह खड़ी हो गयी। एक क्षणमें ही अपने आप आँखें बन्द हो गईं। उन्होंने नारीका वह अधखुला वीभत्स रूप देखना अस्वीकृत कर दिया। मैं परेशान हो गया। उसके उस नग्न रूपको पलकों परसे मिटानेके लिए मैं जोरसे चिल्लाया—"पहन लो उसको।" और कुछ देर बाद जब मैंने आँख खोली तो देखा कि उसने दोनों पैर पायजामेके एक ही घेरेमें डाल रक्खे हैं। मैं काफी चौड़ी मोरीके पायजामे पहनता हूँ,

अतः उसके दुबले-पतले पैर चले तो गये थे, परन्तु बुरी तरह फँस गये थे। वह कुछ अजीब सिकुड़ी-सिमटी खड़ी थी। मैं समझ नहीं पाया कि यह लज्जाके कारण था या जाड़ेके कारण। लक्ष्मणने कहा—"इसे भूख लगी होगी।" और फिर उससे पूछते ही बोला था कि वह फिर खिलखिलाने लगी और ज़ोरसे बोली—"हम खीर खायी।" मैंने कहा—"आओ तुम्हें खीर दें।" परन्तु शायद उसने हम लोगोंकी बात सुननेकी परवाह न की और बकती रही—"हम खीर खायी, हम खीर खायी।" मैं सोचने लगा—"इतने कष्टके समयमें वह अपने विकृत मस्तिष्कके कारण कितनी सुखी है। वह ऐसे ढंगसे खिलखिलाती है मानो उसे कोई गुदगुदा रहा हो, उसे खीर याद आ रही है, मानो वह कोई दावत खा रही हो। कितना अच्छा है कि वह एक काल्पनिक स्वर्गमें है। मैं बँगलेमें घुसने लगा। उसने चलनेका संकेत किया। उसने पैर बढ़ाये पर वह असमर्थ थी। मैंने लक्ष्मणसे कहा—"उसका हाथ पकड़ लो नहीं तो वह गिर जायगी।" लक्ष्मणने उसका हाथ पकड़ा, परन्तु हाथ पकड़ते ही वह ज़ोरसे चिल्ला उठी "हट।" उस नीरव रात्रिमें यह शब्द बड़े ज़ोरसे गूँजा। लक्ष्मण काँप उठा, उसने हाथ छोड़ दिया। परन्तु मेरे संकेत पर उसने फिर उसका हाथ पकड़ लिया। वह पैर कसे होनेके कारण धीरे-धीरे रेंगने लगी। काफ़ी देरमें वह फाटकके अन्दर तक घुस पायी। फाटकके अन्दर काफ़ी अँधेरा था, क्योंकि बत्तियाँ रातमें सोते समय बुझा दी जाती थीं। केवल पोर्टिकोमें एक बल्ब रात भर जलता रहता था। अचानक वह रुक गयी। लक्ष्मणने कहा, पजामा ठीकसे न पहन सकनेके कारण वह

चल नहीं पा रही है। मैंने कहा—"पहना दो।" लक्ष्मणने शायद उसे पजामा ज़बरदस्ती पहनाना शुरू किया। अँधेरेके कारण मैं कुछ देख नहीं पा रहा था, यद्यपि मैं बिलकुल पास ही खड़ा था। कुछ देरमें वह पाजामा पहना चुका था। बीचमें वह बड़ी ज़ोर-ज़ोरसे 'हट' 'हट' चिल्लायी। मैं सोचने लगा—"पागल स्त्रीके अन्दर पागल पुरुषसे अधिक लज्जा रहती है।" कुछ देर बाद हम लोग अन्धकारमय रास्ता पार कर पोर्टिकोके सामने प्रकाशमें आ गये थे। लक्ष्मणने उसका हाथ छोड़ दिया था वह मेरा लम्बा पाजामा जमीनमें घसीटती हुई तेज़ीसे चल रही थी। वह पोर्टिकोके भीतर घुस गयी और बंगलेके दीवारके किनारे-किनारे चलने लगी। हम लोग उससे दूर उसीका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए अलग चल रहे थे। आखिरकार वह वहाँ पहुँच गयी जहाँ अस्तबल था। वहाँ पहुँच कर वह घोड़े की नादके पास जमीन पर पड़े हुए दाने उठा-उठा कर खाने लगी। उसकी आहट सुन कर कोचवानकी आँख खुल गयी। शायद वह सो नहीं रहा था। उसने उसे बड़ी ज़ोरसे डाँटा। "धत्! ये सब पागल, चोर होते हैं।" और उसने उठकर उसे मारना चाहा था कि मैंने आवाज़ दी—"कोचवान, उसे इधर ले आओ। शायद भूखी है, खाना दे दो।" वह उसे बड़ी बेरहमीसे घसीटता हुआ ले आया। और ले आकर मेरे मकानके दालानमें छोड़ गया।

मैंने महाराजको जगाया और उससे कहा—"मेसमें अगर कुछ रोटियाँ बची हों तो बाहर एक पगली बैठी है उसे दे आओ।" महाराज बड़ा दयावान् था। वह जाड़ेमें काँपता हुआ उठा, और

रोटियाँ ले जा कर रख आया। वह भूखे भेड़ियेकी तरह खाने लगी। मेरे कमरेमें एक बड़ा-सा टाट था, उसे मैंने दालानमें बिछवा दिया और एक बोरा मेससे उसके ओढ़नेको भेज दिया। महाराजने शायद उसके पास कुछ आग भी जला दी। उसके बाद मैं अपने बिस्तरेमें जा कर पड़ रहा। सर्दीके कारण जो मैंने रज़ाई लपेटी तो मस्तिष्कके तूफ़ानकी बिना परवाह किये हुऐ ही सो रहा। प्रातः काल जब मैं उठा तो बाहर आ कर मैंने देखा। मेरा पाजामा फटा हुआ पड़ा है, बोरा और टाट इधर फेंका हुआ है, और वह लड़की वहाँ नहीं है। मैं बड़े आश्चर्यमें पड़ा। चारों ओर पृथ्वी ओसके कारण गीली दिखाई दे रही थी। बहुत ठंडी हवा चल रही थी। शायद रात कुछ बूँदाबाँदी भी हुई थी। सुबहका धुँधलका कोहरेकी सघनताके कारण और बढ़ गया था और मैं खामोश सोच रहा था ऐसी ठंडकमें वह कहाँ होगी।

दो चार दिनों बाद एक दिन सायंकाल अपना उचाट मन बहलानेके लिए मैं फाफामऊकी ओर निकल गया। गंगाकी निर्मल धारा, जलकी लहरियोंमें झूलता हुआ पुलका प्रतिबिम्ब, तट पर बालुका-राशिमें अन्धकारकी लुका-छिपी, पार दूर-दूर पर चित्र-सी खिंची हुई गाँवोंकी झोपड़ियों पर कोहरेका जाल, चारों ओर अखंड नीरवता और निर्जनता, यह सब मुझे हमेशा मदहोश-सा कर देते और मैं अपनी चिन्ताएँ कुछ देरको भूल जाता।

उस दिन तटके किनारे-किनारे मैं कुछ सोचता हुआ मनुष्योंकी आबादीसे बहुत दूर निकल गया। सूर्य अस्त हो चुका था। अन्ध-कार छा रहा था, परन्तु लौटनेकी बात जैसे मैं भूल चुका था। अचा-

नक बगल ही में एक भयानक खिलखिलाहट सुनाई दी। इस अप्रत्याशित स्वरसे मैं चौंक उठा। मैंने देखा लहरोंमें आधी भीगती हुई वह लड़की फटे हाल पड़ी है। मैं रुक गया। उसकी अर्थहीन दृष्टिसे ऐसा लगा जैसे वह कुछ कहना चाहती है। परन्तु वह मौन ही रही। अचानक उसका मुख-मंडल क्रोधसे विकृत हो गया। ज़ोरसे चिल्लायी वह—"गोरा है तू···गोरा···कमीना !" मैं इस वाक्यका अर्थ सोचने लगा और यह जी में आया कि इसे पानीसे खिसका दें। सर्दीमें जकड़ जायगी। पर हिम्मत न पड़ी। मैंने कहा—"इधर आ जाओ। वह चिल्ला पड़ी—"हट जा ! मर जा कुत्ता !" और इतना कह कर उसने एक ज़ोरकी करवट ली। उसका सारा शरीर जलमग्न हो गया। किसी अनजान प्रेरणावश मैंने उसे निकालना चाहा। पानीमें काफ़ी दूर तक उसकी खोजकी परन्तु उसकी लाशका पता न था।

मैं लौट पड़ा। अन्धकारमें पथ दिखाई नहीं पड़ रहा था। लड़खड़ाता हुआ मैं जितनी तेज़ीसे चल सकता था चल रहा था। क्योंकि उसकी भयानक आवाज—"गोरा है तू गोरा—कमीना !" मुझे अविराम सुनाई दे रही थी और मौतकी एक डरावनी छाया पीछा-सा करती दिखलाई दे रही थी।



स्नेह और स्वाभिमान

गाड़ी उस समय गंगाके पुल पर थी। पश्चिममें दूर क्षितिज पर सिमटी-सी अरुणाई अनायास ही नील लहरों पर कुछ गुलाबी रंग फेंक गयी थी जो पिघल कर धूमिल होता जा रहा था। पूर्वमें कुहासेसे आवृत क्षितिजकी धुँधली स्पष्ट नील बाहें गंगाकी लहरोंको बाँधे हुए थीं। उनमें पार्थक्यकी एक रेखा खींचना अत्यन्त दूभर लग रहा था। ऊँघती हुई साँझकी यह समस्त सुषमा मैं अपनी बर्थ पर बैठा-बैठा देख रहा था। गाड़ी धीरे-धीरे आगे बढ़ती जा रही थी, उस शान्त वातावरणमें एक कर्णकटु संगीतकी लहर बहाती हुई।

मेरी यह दो मिनटकी खामोशी भी मेरे बातूनी सहयात्रीसे न देखी गयी। अब तक वह मुझसे बातें करता चला आ रहा था। अचानक मेरा प्रकृतिमें रम जाना उसे खलने लगा। उसने सिगरेट जला एक घना-सा धुआँ लापरवाहीसे मेरे मुखकी ओर फेंकते हुए कहा—"आप चाहे जो कुछ कहें, पंजाबियोंके घमण्डने ही उनका नाश किया है।"

मैं सिगरेट नहीं पीता। अचानक नाकमें धुआँ पहुँच जानेसे मुझे ज़ोरसे खाँसी आ गयी। मन-ही-मन उसकी अक्लकी प्रशंसा करते हुए मैंने डिब्बेमें देखा। बाहर नील लहरों पर कुहरके झीने धुँधले बादल और भीतर डब्बेमें तम्बाकूकी बदबू लेकर गूँजता हुआ धुआँ।

"आप ठीक कहते हैं। पंजाबियोंमें जातीय स्वाभिमान मैंने अधिक पाया है, बंगालियोंकी भाँति निम्नकोटिकी प्रान्तीयता नहीं। और सच तो यह है कि बाहरसे आप उसे जितना बुरा समझते हैं वस्तुतः वह उतना बुरा नहीं है।" मैंने ठण्डी हवाके कारण अपने उस मोटे कोटका कालर खड़ा करके कानों तक खींचते हुए कहा।

वह बोला—"जातीय स्वाभिमान नहीं जनाब! उन्हें अपने धन और ऐश्वर्यका घमंड था। अन्य प्रान्तवालोंको वह नीची निगाहसे देखते थे। उनकी स्त्रियाँ अकड़कर चलती थीं। बात-बातमें आपेसे बाहर हो जाती थीं। मैंने तो अपनी आँखोंसे बहुत ऐसी घटनाएँ देखी हैं। आजसे दो साल पूर्व शिमलामें एक पंजाबी छोकरीने बड़ी निर्लज्जतासे चिल्ला-चिल्लाकर बीच बाज़ारमें तमाम आदमियोंके सामने एक ग़रीब रिक्शेवालेको पीटा······।"

वह कुछ ऐसी और घटनाएँ कहता रहा। मैंने उसकी इन अनोखी दलीलोंके आगे कुछ न कहना ही उचित समझा। कुछ कहनेके अर्थ थे बहस बढ़ाना और मैं बहसका आदी नहीं।

उसकी मूर्खता पर मुझे मनमें कुछ चोट अवश्य पहुँची। सोचने लगा—दो चार हल्की-फुल्की घटनाओंको लेकर किसी जातिका चरित्र घोषित कर देना कहाँ तक न्यायसंगत है। फिर भी मेरे मुखसे यह अवश्य निकल पड़ा—

"इसी एक दोषके कारण क्या उनके उजड़ जाने पर, तबाह हो जाने पर आपको ख़ुशी है?"

वह चिल्ला कर बोले—"ख़ुशी क्या है? लेकिन अब भी तो

उनकी ऐंठ नहीं गयी। गाड़ीमें बैठेंगे तो ज़्यादासे ज़्यादा जगह लेकर। बोलो तो गुर्रायेंगे। हमारे ही पैसोंसे दूकान लगायेंगे और हमसे ही 'कम्पटीशन' करेंगे। मेरी स्त्री एक बार उनके कैम्पमें उन्हें कुछ पढ़ाई-सिलाई सिखलाने गयीं, जैसी कि इन लोगोंकी योजना थी। उनकी औरतें उससे कहने लगीं—"तेरे ऐसे-ऐसे तो मेरे नौकर थे। अभी उस दिन त्रिवेणी जी पर एक सीधे-सादे पंडे पर एक पंजाबी छुरा लेकर पिल पड़ा······।"

मैं कुछ बोला नहीं और वे ऐसे ही न जाने कितने उदाहरण देते रहे। मैं सोचने लगा—"क्या इनकी हर क्रिया एक प्रति-क्रियाके कारण नहीं है। आज हम किसी शरणार्थीको देखकर अपनी दयाका प्रदर्शन करने लगते हैं। वह आपकी इस दयाके प्रदर्शनको, जो वास्तवमें दया नहीं है, अस्वीकार करता है। उसने कौन-सा अपराध किया है जो वह यह अव्यक्त तिरस्कार सहे? आप शरणार्थीको भिखारी समझते हैं, वह अपनेको भिखारी नहीं समझने देना चाहता। यह उसका जातीय स्वाभिमान है। यह उसके उज्ज्वल अतीतकी उस पर मुहर है। आप उसको एक भिखारीकी तरह रोटी और कपड़ा देना चाहते हैं, उसको एक आश्रितकी तरह लिखना-पढ़ना सिखलाना चाहते हैं, उस पर यह छाप डालते हुए कि आप उस पर दया कर रहे हैं। और वह एक भाईकी भाँति रोटी और कपड़ा प्राप्त करनेके साधनमें आपका स्नेहमय सहयोग चाहता है। एक मित्रकी भाँति आपसे सब कुछ सीखना चाहता है, यही उसका दोष है। शरणार्थी आपसे दया नहीं चाहता, सहायता चाहता है, बराबरीके दावे पर।" पर मैं

कहता क्या ? मैं खामोश रहा। पुल समाप्त हो गया था। झूसी स्टेशन आ रहा था। गाड़ीकी रफ़्तार प्रतिपल धीमी होती जा रही थी। मैंने कहा—"आप लोग उनके भाग्यका मजाक़ करते हैं जो असहनीय है।"

वह कुछ बिगड़ने ही वाले थे कि प्लेटफ़ार्म आ गया। गाड़ी खड़ी हो गयी। यात्रियोंकी एक हल्की-सी भीड़ चढ़ने-उतरने लगी। उन दिनों झूसीमें कुछ शरणार्थी ठहरे हुए थे। वे लोग स्टेशन पर फल, मेवे और मूँगफलियाँ बेचा करते थे। अक्टूबर का महीना समाप्त हो रहा था। हल्की सर्दी प्रारम्भ हो गयी थी। मैं सिर निकाल कर प्लेटफ़ार्मकी चहल-पहल देखने लगा। तमाम पंजाबी अमरूद, केले और सन्तरे बेच रहे थे। स्टेशनके पुराने खोंचेवाले अपनी रोज़ीमें धक्का लगते देख उनसे बात-बात पर झगड़ पड़ते थे। मेरे बगलके डब्बेके सामने मूँगफली तौलते हुए एक रेलवे खोंचेवाला बड़े ज़ोरसे चिल्लाया—"क्यों सबके सब यहीं टूटे पड़ रहे हो ? जाओ, आगे जाओ, यहाँ तो मैं हूँ ही।" बेचारे पंजाबी झिड़कीसे आहत होकर हट गये। मैं सोचने लगा, अपने व्यक्तित्वको स्थापित रखनेके लिए कितना संघर्ष करना पड़ता है। तभी मुझे एक अत्यन्त मधुर पतली लहराती हुई आवाज़ सुनायी दी।

"लीजिए सन्तरा लीजिए, बाबूजी !" एक निष्कपट सरल-सा आग्रह, जैसा मुझे बहुधा अपने घर पर मिलता है। मैंने देखा एक नन्हा-सा गोरा-गोरा हाथ, एक सन्तरा थामे हुए मेरी ओर बढ़ा है। उलझे हुए मटमैले केश। दैन्यकी छापसे कुछ धूमिल, गौरवर्ण

एक छोटा-सा सुन्दर मुखमंडल; निरीह उत्सुक आँखें मेरी ओर देख रही हैं। तभी एक हट्टा-कट्टा ऊँचा-सा रेलवेका लैसेंसदार खोंचे-वाला ख़ाकी कोट पहने और ख़ाकी पगड़ी बाँधे हुए बिल्कुल मेरे सामने आकर खड़ा हो गया। उसकी उस बड़ी आकृतिके पीछे वह छोटी-सी दस वर्षीय बालिका खो-सी गयी। अपने बड़ेसे हाथमें चार सन्तरे थाम कर मेरे मुँहके सामने करता हुआ बोला—"आजकल सन्तरे बहुत सस्ते हैं बाबूजी। इनसे न खरीदिए, ये लोग ठग हैं!" मैं एक क्षणको अप्रतिभ-सा हो गया, फिर बोला—"मैंने खरीद लिया है तुम जाओ।" वह मुझे एक अजीब दृष्टिसे देखता हुआ दूसरी खिड़की की ओर सरक गया।

"की भाऽ दित्ते ने ?" (क्या भाव दिये हैं ?) मैंने बड़े स्नेहसे पूछा।

"छे-छे पैसे !" उसने अपने उसी सुरीले स्वरसे उत्तर दिया। उसके कहनेके ढंगसे ऐसा लगा मानो छः पैसे बहुत कम हैं। मैंने उसकी छोटी-सी डलियाकी ओर देखा; उसमें दस-बारह सन्तरे थे। जीमें आया सब ले लूँ। यों मैं शामको सन्तरे बिलकुल नहीं खाता—विशेषतया सर्दीके दिनोंमें। फिर भी मैंने सोचा घर पर कुछ लेकर जाना ज़्यादा अच्छा है।

"अच्छा दस दे दे !" वह मेरी ओर आश्चर्यसे देखने लगी और बिना कुछ कहे हुए चुपचाप अपनी डलियामेंसे एक-एक सन्तरा निकाल कर मुझे पकड़ाने लगी। मैं उससे सन्तरे ले-लेकर भीतर अपने बर्थ पर रखता जाता था और गिनता जाता था "एक···दो···तीन···दस।"

दस पूरे हो गये और उसकी डलिया भी ख़ाली हो गयी। मैंने एक रुपया उसके हाथ पर रख दिया। उसने अपने उस सफ़ेद गन्दे रेशमी सलवार पर लटकते हुए उस गन्दे रेशमी कुरते की जेबमें, जो शायद उसके बीते सुखके दिनोंका साथी था और आज भी अपनी ख़ामोश ज़बानसे उसकी अमीरीकी दास्तान कह रहा था, हाथ डाला—लेकिन उसमें पैसा न था।

उसने कुछ करुण स्वरमें कहा—"पैसा नहीं है" और मेरी ओर आशंकाकी दृष्टिसे देखने लगी कि कहीं मैं सन्तरे लौटा न दूँ। उसकी यह परेशानी मुझसे न सही गयी। भीतरसे द्रवित होकर मैंने कहा—"तू रक्ख ले।"

एक क्षणमें मैंने देखा उसकी उन सरल आँखोंमें एक स्वाभिमान झलक आया है। उसके मुख पर कुछ विकृत रेखाएँ खिंच गयी हैं। मुझे लगा मानो वह मेरी इस दयाको अस्वीकार करना चाहती है। परन्तु उसे कुछ कहनेका अवसर न देकर मैंने तुरन्त अत्यन्त स्नेहमय स्वरमें कहा—

"तू मेरी भैन होन्नी एँ ना!" (तू मेरी बहिन होती है न!) और उसके उस तूफ़ानके घटनेकी प्रतीक्षामें उसकी ओर देखने लगा। उसने एक अजीब प्यारकी दृष्टिसे मुझे देखा जो मैं आज भी भूल नहीं सकता—जैसे कोई रोगी दवाको पीकर कष्ट कम हो जाने पर डाक्टरकी ओर देखता है। वह चली गयी और मैं बर्थ पर बिखरे उन सन्तरोंको सँभालने लगा। मेरे उन्हीं सहयात्रीने एक सन्तरा सूँघते हुए कहा—"खट्टा लगता है। आप ठग गये। बाज़ारमें यही चार-चार पैसे मिलते हैं। ये सब बड़े होशियार होते

हैं। क्या आप समझते हैं उसके पास पैसे नहीं रहे होंगे ? ज़रूर रहे होंगे। आपको दयावान् समझकर ही उसने नहीं दिये। नीच हैं ये सब। हमेशा लूटना चाहते हैं।"

उसकी ये बातें सुनकर मुझे आवश्यकतासे अधिक क्रोध आ गया। जीमें आया ऐसे हृदयहीन पशुको खींचकर एक झापड़ मारूँ। परन्तु संयत हो गया क्योंकि मेरा ध्यान गाड़ीकी ओर बँट गया जो चल पड़ी थी। तभी बाहरसे वही परिचित आवाज़ आयी—"लीजिए ! मैंने हाथ बाहर निकाला। उसने एक सन्तरा मेरे हाथमें थमा दिया। गाड़ी खिसक रही थी। मेरे मुखसे निकल पड़ा—"एदा की है ?" (इसका क्या)

उसने बड़े प्यारसे अपनी उसी मीठी आवाज़में कहा—"तुसीं मेरे वीर होये ना, तूसीं लै जाओ।" (तुम मेरे भाई होते हो ना। तुम ले जाओ।)

गाड़ीकी रफ़्तार बढ़ती जा रही थी और मैं उमड़े हुए हृदयसे उसकी ओर एकटक देख रहा था। उसकी आँखोंमें स्वाभिमान था। हवाके कारण उसके बाल और उसकी गन्दी ओढ़नी उड़ रही थी। उसके पतले-पतले अधरों पर एक स्नेहसे भीगी हुई मुसकान। मैंने स्नेह और स्वाभिमानके प्रतीक उस सन्तरेकी ओर एक क्षणको देखा और दूसरे क्षण उस बालिकाकी ओर जो प्रतिपल बढ़ती हुई दूरीके कारण अस्पष्ट होती जा रही थी। मेरे कानोंमें कोकिलके कंठों-सी मिठास भरी वह स्वरलहरी अब भी गूँज रही थी—"तुसीं मेरे वीर होये ना, तुसीं लै जाव।"



पत्थर के फूल

"मानू"

"क्या है मीना ?"

"तुम जानते हो झीलके पार क्या है ?"

"हाँ।"

"क्या ?"

"फूल।"

"कैसे फूल ?"

"कमलके।"

"कमलके फूल कैसे होते हैं मानू ?"

"बहुत अच्छे, बहुत बड़े-बड़े।"

"कितने बड़े ?"

"बहुत बड़े, तुमने कभी नहीं देखा ?"

"न।"

"अच्छा मैं कल तुम्हें ला दूँगा।"

"सच ?"

"हाँ।"

"कैसे जाओगे तुम ?"

"नावसे।"

"तुम नाव चला लेते हो ?"

"और क्या ? कोई लड़की हूँ !"

"डरते नहीं ?"

"क्यों ?"

"माँ कहती है, छोटे लड़के पानीसे नहीं खेलते, डूब जाते हैं।"

"मैं छोटा कहाँ हूँ ?"

"चलो-चलो, बहुत बड़े बने हैं। पत्थर पर चढ़कर कोई थोड़े ही बड़ा हो जाता है। नीचे उतरो भाई, नहीं गिर पड़ोगे।"

"डरपोक !"

"अच्छा-अच्छा कूदना मत !"

"......"

"माने नहीं, चोट लग जाती तो ?"

"पत्थरको पत्थरसे चोट नहीं लगती।"

"वाह रे पत्थर !"

"हँसती हो ? सच, बापू कहता है पत्थर है, पत्थर—कितना भी मारो कोई असर नहीं।"

"तुम्हारा बापू तुम्हें बहुत मारता है ?"

"मेरा बापू है कहाँ ?"

"तुम्हारा बापू कहाँ गया ?"

"माँके पास।"

"माँ कहाँ है ?"

"कहीं होगी—मैं नहीं जानता।"

"डाँटते क्यों हो ?"

"अब नहीं डाटूँगा।"

"तुम रोने लग गये ?"

"मैं जाता हूँ।"

"क्यों ?"

"बापू बिगड़ेगा, इतनी देर क्यों लगायी ?"

"और अगर न जाओ ?"

"मारेगा, निकाल देगा।"

"फिर ?"

"फिर तुम कल आना।"

"फूल लेने ?"

"हाँ, ज़रूर, भूलना मत !"

"अच्छा।"

× × ×

"तुम बैठो, मैं अभी आता हूँ।"

"कितनी देर लगेगी ?"

"अरे, आध घंटा, बस !"

"लेकिन मानू—"

"लेकिन क्या ?"

"कुछ नहीं।"

"बताओ न।"

"..........."

"डरो मत, मैं अच्छी तरह नाव चला लेता हूँ, डूबूँगा थोड़े ही !"

"यह बात नहीं..."

"अच्छा-अच्छा, जाना मत !"

× × ×

"मानू—मानू !"

"..........."

"बोलो, तुम चुप क्यों हो ?"

"......."

"अरे तुम कीचड़में कैसे सने हो !"

".........."

"गुस्सा हो ? जाओ···"

"नहीं, मैं तो तुम्हारे लिए कमलके फूल···"

"देखो न, मेरे कानोंके ये फूल—मानू, कितने अच्छे हैं।"

".........."

"तुम तो बोलते ही नहीं।"

"हाँ, अच्छे हैं।"

"ये सोनेके हैं मानू !"

".........."

"सोना बड़ा क़ीमती होता है।"

".........."

"बहुत रुपये लगे हैं इसमें मानू !"

"होगा।"

"तुम उधर गये मानू, इधर बापूकी गाड़ी आ गयी।"

"......."

"बापू शहर गया था न, मेरे लिए कानके फूल लेने।"

"सो तुम चली गयीं।"

"हाँ मानू, मेरा फूल माँ, भाभी, जीजी सबसे अच्छा है देखो न!"

"देख लिया।"

"तुम कीचड़में कैसे सन गये?"

"जो कमलका फूल लेने जायगा कीचड़में ज़रूर सनेगा।"

"क्यों?"

"कमल कीचड़में जो होता है।"

"तुम कपड़े बदलने घर भी नहीं गये, तबसे यहीं हो?"

"अब नहीं जाऊँगा"

"क्यों?"

"बापूने निकाल दिया।"

"........."

"मुझे आने नहीं दे रहा था, मैं चला जो आया।"

"अब क्या होगा?"

"मैं सोनेका फूल बनाऊँगा, तुम्हारे इस फूलसे कहीं अच्छा।"

"सच, तुम बना लोगे?"

"हाँ?"

"लेकिन तुम......"

"तो क्या हुआ? जब बड़ा हो जाऊँगा तब बनाऊँगा?"

× × ×

"तुम?"

"हाँ, मैं मानू, पहचाना नहीं?"

"पहचानती कैसे, तुम इतने बड़े जो हो गये !"

"दस साल बाद भी मैं उतना ही छोटा बना रहता !"

"......"

"तुम भी तो बहुत बड़ी हो गयी हो, लेकिन मैंने तुम्हें पहचान लिया।"

"......"

"तुम तो बहुत अच्छी हो गयी हो मीना, बहुत अच्छी !"

"चलो हटो।"

"हटा तो हूँ ही, तुम्हारे रास्ते पर हूँ ही कहाँ, तभी न आज दस साल बाद मुलाकात हो रही है।"

"मैं क्या करूँ ? मैं तो बाट जोहती रही, तुम्हीं न जाने कहाँ चले गये थे।"

"वैसी ही बाट जोही होगी जैसी उस दिन जब मैं कमल लेने गया था जोही थी।"

"......"

"तुम्हारी परसों शादी है न, मैं तो तुम्हारे लिए सोनेके फूल..."

"......"

"हाँ मानू, जिनसे मेरी शादी हो रही है वे बहुत धनी हैं।"

"......"

"बहुतसे गहने उन्होंने भेजे हैं मेरे लिए।"

"........."

"देखो न, मेरे कानोंके ये फूल।"

".........."

"ये हीरेके हैं मानू, हीरा बहुत क़ीमती होता है, सोनेसे कहीं ज़्यादा।"

"ठीक है।"

"तुम्हें पसन्द नहीं आया, मानू।"

"हाँ, अच्छा है।"

"तुमने तो बहुत अच्छे-अच्छे कपड़े पहन रक्खे हैं।"

"हाँ, जो सोनेके फूल लेने जाता है, उसे अच्छे-अच्छे कपड़े पहनने ही होते हैं।"

"क्यों ?"

"सोनेका फूल कीचड़में थोड़े ही न होता है, तिजोरियोंमें होता है।"

"अरे जा रहे हो मानू ?"

"हाँ।"

"क्यों।"

तुम्हारे लिए अब हीरेके फूलसे भी अच्छे फूल लेने।"

"सच।"

"हाँ।"

"ओह, मेरे बड़े अच्छे मानू।"

"शादीसे दो घंटे पहले मिलना।"

"अच्छा।"

× × ×

"ये लो।"

"आ हा ! मानू !"

"पसन्द आया ?"

"बहुत—बहुत ज़्यादा ! यह तो बहुत बड़ा है मानू। इतना सोना तुम्हें कहाँसे मिला ?"

"यह सोनेका नहीं है।"

"फिर !"

"पत्थरका फूल है, जिस पर सोनेका पानी चढ़ा है।"

"..........."

"मीना ! तुम बिल्कुल ऐसी ही हो, तुम पर कितना खिलेगा यह।"

"लेकिन···"

"कुछ नहीं, यह मेरा पहला और अन्तिम उपहार है, इसे सँभाल कर रक्खो।"

"ये तो···। ये तो मुझसे उठेगा भी नहीं, मैं इसे कहाँ-कहाँ ढोऊँगी ?"

"क्यों ?" मैं तुम्हें कैसे उठाये हूँ ? मैं तुम्हें कैसे ढो रहा हूँ ?"

"मानू !"

"......"

"मानू, थोड़ा रुको तो !"

"अब नहीं मीना, अब नहीं !"



वह चित्र

साँझकी लालिमा ढल चुकी थी। उदासीके चित्र बिखेरता हुआ अन्धकार घना हो रहा था। चारों ओर मृत्युसे भी भयानक निस्तब्धता छा रही थी। आजसे पच्चीस वर्ष पूर्व फ्रांसका अमर चित्रकार कोरो एक छोटे-से कमरेमें चिन्तित-सा बैठा था। मोम-बत्तीके हल्के प्रकाशमें उसकी नीली आँखोंकी रोशनी झिलमिला उठती थी। सामने एक चित्र था, जिसे तीन मासके अविराम प्रयत्नके बाद आज वह पूर्ण कर पाया था।

कोरो सोच रहा था 'काश मदाम रोज़ इसे देख पाती!' अपने प्रारम्भिक दिनोंमें जब वह एक मामूली-सा चित्रकार भी नहीं माना जाता था, रोज़ा नित्य उसके पास आकर बैठती और उसकी रेखाओंकी वक्र गतिके साथ घंटों अपनी भावनाके गीत मिलानेकी चेष्टा करती। बीच-बीचमें कभी वह खुशीसे भरकर चिल्ला पड़ती: "बहुत सुन्दर; तुम्हारी इस एक रेखाने पूरे चित्रमें जीवन डाल दिया है।" वह मुसकरा उठता और अधिक तन्मयतासे चित्रकी समाप्तिमें लगा रहता। उसे अच्छी तरह याद है कि किस प्रकार वह रात-रात भर उसके पास बैठी रहती। उसके सुर्ख गाल थकानसे नीले-से पड़ने लगते, उसकी नीली आँखोंमें कुहरा-सा छा जाता। क्यों? केवल इसलिए कि वह उसके बैठे बिना चित्र नहीं बना सकता। उस दिन तीरसे अधिक तेज़ ठण्डी हवा चल रही

थी। मनुष्यकी क्या छोटे-छोटे परिन्दे तक अपने घोंसलेमें दुबके बैठे थे। कोरो 'बिबली' नामक चित्र पूरा करनेको था। इसमें सूर्यास्तके समय वनके उत्तरोत्तर बढ़ते हुए तिमिर प्रदेशमें वन-देवियोंका नृत्य दिखाया गया था। हाथमें तूलिका लिये वह बड़ी व्यग्रतासे कमरेमें चारों ओर घूमता हुआ रोज़ाकी प्रतीक्षा कर रहा था। और रोज़ा आयी भी थी। ठंडकसे उसकी सारी देह जकड़ गयी थी। पालेके कारण वह एक दम नहा चुकी थी। उसके सारे वस्त्र बुरी तरह भीग गये थे। आते ही कोरोके विशाल बाहुओंमें वह बेहोश होकर गिर पड़ी। कोरोने उसके अधरों पर अधर रखकर देखा कि वे बर्फ़से भी अधिक ठण्डे थे। उसकी आँखसे आँसू निकल पड़े थे। भूखी-प्यासी वह सदैव उसके चित्रके निकट बैठती और उसे उत्साह दिया करती। आज कोरो एक प्रसिद्ध चित्रकार था। उसका एक चित्र पचहत्तर हज़ार फ्रांक तककी कीमत रखता। यह सब किसके कारण? उसकी विकलता सीमा पर पहुँच गयी थी। उसकी आँखोंसे टप्टप् आँसू चूने लगे।

क्रिसमसकी प्रात बेलामें एक बार जब वह एक यूनानी लड़कीका चित्र उपहार स्वरूप देनेके लिए रोज़ाके पास पहुँचा, रोज़ाने उसे छातीसे लगा लिया था, यद्यपि उसकी रेखाएँ भद्दी और भावोंको स्पष्ट करनेमें अशक्त थीं। उसकी आँखोंमें आँखें डालकर उसने कहा था: 'चित्र सुन्दर है, प्यारे कोरो, तुम एक दिन अवश्य अमर चित्रकार कहे जाओगे', कोरो यह सुनकर गद्गद् हो गया था। उसने उसके दोनों हाथ कसकर पकड़ लिये थे।

'उस समय जानते हो मैं तुमसे क्या लूँगी?' कोरोकी आँखें

उसकी माँगकी प्रतीक्षा करने लगीं। कुछ देर ठहरनेके बाद वह गम्भीर हो गयी थी। भरे हुए गलेसे उसने कहा था। 'मेरी एक मित्र है एलिज़ा, जो मुझे बहुत प्यार करती है। आज कल वह दूर फ्रांसके दक्षिणमें एक पहाड़ी गाँवमें रहती है। बचपनसे आजतक वह सदैव बीमार रही फिर भी कोरो, वह बहुत सुन्दर है। तुम क्या······'

'अवश्य मैं उसका चित्र बनाऊँगा।' कोरोने उसे बाँहोंमें कस लिया था।

रोज़ाकी आँखोंसे आँसू निकल पड़े थे। वह प्रसन्नतासे पागल हो गयी थी। शयनागारकी ओर इशारा करते हुए उसने कहा था। 'उसमें लगेगा उसका चित्र···फिर—'

फिर क्या? दो वर्ष बाद जब कोरोकी कलामें प्रौढ़ता आने लगी थी, जब उसके चित्रोंका कुछ मूल्य माना जाता था, रोज़ा इस संसारसे चल बसी थी। कोरो उजड़ गया था, विक्षिप्त हो गया था, निर्जीव हो गया था, उसको अपनी कलासे घृणा होने लगी थी। चित्रशालामें वह महीनों नहीं बैठा था। चित्रों पर धूलकी तह जमने लगी थी। उसको ऐसा लगता था मानो उसकी ज़िन्दगीका चित्र पानी डालकर धो दिया गया हो।

मृत्युशय्या पर पड़ी हुई रोज़ाने पार्श्वमें बैठे कोरोकी ओर प्रश्नात्मक ढंगसे देखा, फिर सामनेकी दीवाल पर आँखें गड़ाकर उसने कहा था-'वह चित्र।' कोरोने आश्वासनके स्वरमें कहा था 'मैं बनाऊँगा।' रोज़ाके अधरों पर मुसकान थिरक गयी। और उसकी पथरीली आँखें एक-टक उस दीवारकी ओर देखती रहीं

मानो वह चित्र टँगा हो और वह उसका सारा सौन्दर्य आँखोंसे पीती चली जा रही हो।

आज कोरो उस चित्रको पूरा करके बैठा था। सोचता था, चित्रकी सार्थकता ही क्या जब वही नहीं जिसके लिए उसने वह चित्र बनाया था। काश कि आज रोज़ा उसके पास होती। उसकी आँखें प्रसन्नतासे चमक उठतीं; कितनी खुश होती वह! पर विधाताको मंजूर न था। फिर भी उसे सन्तोष था। उसने उसकी अन्तिम इच्छा पूरी करनेमें कोई भी कसर नहीं उठा रक्खी थी। शायद इससे उसकी आत्माको शान्ति मिले।

कोरोने अपनी तमाम कला उस चित्रके निर्माणमें लगा दी थी। चित्रके अंग-अंगसे रस फूटा पड़ता था। उसके अधर एक कहानी-सी कहते प्रतीत होते। उसकी आँखें कुछ रंगीन सपने-से बिखेर देतीं। मोमबत्तीके धुँधले प्रकाशमें वह चित्र ऐसा लगता मानो कोई साकार रूपकी प्रतिमा कुछ कहनेकी उत्सुकता दबाये बैठी हो। कोरो एक-टक उस चित्रकी ओर देख रहा था। इतनेमें ही किसीने कमरेके कपाट पर एक हल्की-सी थाप दी। वे खुल गये। एलिज़ाने प्रवेश करते हुए कहा—

'तुम्हें बहुत धन्यवाद है कोरो, जो तुमने आज मेरा यह चित्र पूर्ण कर दिया। सच कहती हूँ इससे सुन्दर चित्र आज तक मैंने कहीं नहीं देखा!' कुछ शरमाते हुए उसने कहा।

कोरो मौन था—

'काशकि रोज़ा आज जीती होती। कितनी प्रसन्न होती वह। तुम नहीं जानते कोरो, वह मुझे कितना प्यार करती थी! अपनी

बीमारीका इलाज कराने जब मैं पेरिस गयी थी तब मेरी उसकी क्लबमें पहली मुलाकात हुई थी। हम दोनों एक दूसरेको इतने अच्छे लगे कि नित्य अधिक समय साथ-साथ बिताते। नित्य साँझ-को वह अपने आवश्यक-से-आवश्यक कार्य छोड़ कर मेरे अस्पतालमें आ जाती और मुझे साथ लेकर कुछ दूर घुमा लाती। उसके साथ रहकर मैं चिर-शान्तिका अनुभव करती। ऐसा लगता मानो मैं पूर्ण स्वस्थ हो गयी हूँ। और धीरे-धीरे स्वस्थ होने भी लगी थी। शायद यह उसीका आशीर्वाद था।

'एक दिन मौसम अच्छा था। मैं कुछ स्वस्थ भी अनुभव कर रही थी। रोज़ा मुझे कला प्रदर्शिनी दिखलाने ले गयी। संसारके बड़े-बड़े चित्रकारोंकी कृति हम लोग देख रहे थे। ज्यूल डूप्रेका एक चित्र मुझे बहुत पसन्द आया। वह एक फ्रांसीसी युवतीका चित्र था। भय, आश्चर्य, सुख—सारी भावनाएँ एक साथ अंकित की गयी थीं और शायद उस वर्ष प्रदर्शिनीका वह सर्वोत्तम चित्र था। मैंने रोज़ासे कहा—कितना सुन्दर है यह चित्र। इससे अधिक सुन्दर चित्र मैंने अपने जीवनमें नहीं देखा। क्या इतनी भी सुन्दर कोई युवती हो सकती है ?

'तुम ! रोज़ाने मुसकरा कर कहा था। मैं शर्मा गयी थी। एक दिन इसी स्थान पर तुम्हारा इससे भी सुन्दर चित्र लगेगा। उसने कहा था। पर मुझे विश्वास नहीं हुआ कि इससे भी सुन्दर चित्र कभी बन सकता है। लेकिन कोरो, आज मैं यह दावेके साथ कह सकती हूँ कि यह चित्र उससे कहीं अधिक सुन्दर है।'

कुछ देर खामोश रहनेके बाद एलिज़ा फिर बोली—'वह

चित्र ७५००० फ्रांकमें बिका था और कोरो, यह चित्र एक लाख फ्रांकसे कम कभी नहीं बिक सकता ।'

बेचनेकी बात सुनकर कोरोकी आँखोंमें आँसू भर आये । बेचारी एलिज़ा यह नहीं समझती कि इस चित्र पर उसका अधिकार कहाँ है ? यह रोज़ाका चित्र है, इसे वह बेच नहीं सकता, उसकी आज्ञाओंके अनुसार ही इसका उपयोग होगा । संसारको इस चित्र से कोई मतलब नहीं है ।

दूसरे दिन उस चित्रको लेकर कोरो पेरिस चला आया । कुछ ही दिनोंमें समस्त फ्रांसमें उस चित्रकी ख्याति गूँज उठी । फ्रांसका प्रत्येक धनी उस चित्रका मुँह-माँगा दाम देनेके लिए प्रस्तुत था । परन्तु कोरोने उसे रोज़ाके कमरेमें उसी दीवारपर टाँग दिया था, जिधर मरते समय रोज़ाकी दृष्टि थी । कोरोका अपना ऐसा विश्वास था कि रोज़ाकी आँखे आज भी उस चित्रको देखकर प्रसन्न हो रही हैं ।

ईश्वरकी न्यायशाला परसे लोगोंका विश्वास तभी उठने लगता है, जब किसी सच्ची और पवित्र आत्मापर विपत्तिका पहाड़ टूट पड़ता है । कोरोका जीवन भी अचानक विपत्तियोंसे घिर गया । कुछ ही दिनों बाद वह सख्त बीमार पड़ा और चार मास तक लगातार बीमार रहा । चित्रोंके अतिरिक्त आमदनीका कोई और ज़रिया न होनेके कारण वह कर्ज़ेसे लद गया और भूखों मरने लगा । उसके इन बुरे दिनोंमें लोग नित्य उस चित्रको बेचनेका प्रस्ताव भेजते परन्तु कोरोको यह स्वीकार न था ।

भूखों मर जाना उसे स्वीकार हो सकता था परन्तु उस चित्र को बेचनेके लिए उसकी आत्मा तैयार न थी। बीमारीसे परास्त और निर्बल कोरो चार दिनोंसे भूखा पड़ा था। फ्रांसके एक धनिक व्यक्तिने यह जानकर कोरोके पास यह सन्देश भेजा कि यदि वह चित्र उसके हाथ बेंच दिया जाय तो वह इतना धन उसे दे सकता है, जिसके सूदसे कोरो जीवन भर आरामसे खा सकता है। परन्तु कोरोको वह स्वीकार न था। उसे ऐसा ज्ञात होता मानो उस चित्रसे उसके प्राण बँधे हों। उसके अलग होने पर ही वह मर जायगा।

रोज़ाके कमरेमें वह चित्र टँगा रहता। बीमारीके दिनोंमें कोरो उसी कमरेमें रहा। आधी रातको जब कभी कोरोकी आँख खुलती, मोमबत्तीके धीमे प्रकाशमें उसे ऐसा मालूम होता मानो रोज़ाकी आत्मा उस चित्रमें आकर बोल रही है। उसे स्पष्ट दिखाई देता, चित्रमें रोज़ाके अधर हिल रहे हैं और वह कह रही है :

'मैं बहुत प्रसन्न हूँ, प्रियतम!'

कोरोको ऐसा प्रतीत होता जैसे उसका जीवन सफल हो गया हो।

इन्हीं दिनों प्रदर्शिनीसे जो कि एक मास बाद प्रारम्भ होनेवाली थी उस चित्रके लिए निमन्त्रण आया। कोरोने निमन्त्रण इस शर्तपर स्वीकार कर लिया कि प्रदर्शिनीके उपरान्त वह चित्र उसे वापस कर दिया जायेगा। प्रदर्शिनी तैयार हो गयी और उसके लिए पहलेसे ही वही स्थान नियत कर दिया गया जहाँ हर वर्ष

की सर्वोत्तम कृति रक्खी जाती थी और एक दिन जहाँ ज्यूल डूप्रेका चित्र भी रक्खा गया था।

उस दिन सायंकालको चाय समाप्त कर कोरो कुछ स्वस्थ-सा आरामकुर्सीपर बैठा ही था कि अचानक दरवाज़ेपर आघात हुआ। पता चला एलिज़ाका बाप आया है। किसी अनजान आशंकासे कोरोका हृदय काँप उठा। उसने चित्रको उस बड़े नीले पर्देसे ढक दिया और फिर एलिज़ाके बापको बुलवाया। वृद्ध आते ही कोरोके चरणोंपर गिर पड़ा और फूट-फूटकर रोने लगा। पता चला कि एलिज़ा गाँवमें बाढ़ आनेसे डूब कर मर गयी। कोरोके भावुक हृदय पर एक चोट पहुँची, वह जानता था कि बेचारेने अपने जीवन भरकी सारी कमाई एलिज़ाके स्वास्थ्य पर निछावर कर दी थी। उसकी इच्छा थी एलिज़ा उसे हरी-भरी दीखे और जब वह इस योग्य हुई कि पिता अपनी इकलौती पुत्रीका मुख देख कर प्रसन्न हो सकता तो वह चल बसी। कितना अस्थिर है संसार? किसके अस्तित्व पर विश्वास किया जाये? आज वृद्ध संसारमें एकदम अकेला था। एलिज़ा ही उसकी सब कुछ थी। मित्र, पुत्री, माता सब कुछ वह उसीको मानता पर आज ईश्वरने यह छोटा-सा सहारा भी छीन लिया। वृद्ध विकल था, जीवन उसके लिए शून्य हो गया था।

अचानक उसे ऐसा लगा जैसे किसीने उसके दिल पर एक ज़ोरका धक्का मारा हो। अर्द्धचेतन-सा हो वह सुन रहा था, कोई सिसक-सिसक कर उससे कह रहा है:—

'एलिज़ाका चित्र मुझे दे दो। मैं उसके बिना मर जाऊँगा।

आज संसारने मुझे धोखा दिया है। कोरो, तुम मुझे बचा लो; तुम तो मुझे धोखा न दो। इस चित्रके बिना मैं जी नहीं सकता। मैं ग़रीब हूँ कोरो, कुछ दे नहीं सकता, फिर भी मैं स्वयं बिकनेको तैयार हूँ। तुम मेरी बोटी-बोटी काटकर फेंक दो लेकिन वह चित्र! आह मेरी बेटी!' वृद्ध बेहोश होकर ढुलक गया था।

कोरो आँख बन्दकर ख़ामोश बैठा था। उसे ऐसा लगता जैसे तूफ़ानकी भयानक गर्जनाके अन्दर एक पतली-सी आवाज़ सुन रहा हो। संसार शून्य-सा लग रहा था। घड़ीकी टिक-टिक उसके सर पर हथौड़ेकी चोट मारती दीखती। कोरो वह चित्र नहीं दे सकता। जैसे वह उसे तमाम शक्ति लगाकर पकड़े था फिर भी ऐसा मालूम होता जैसे कोई उसे तेज़ीसे उड़ाये लिये जा रहा हो।

कोरो ज़ोरसे चिल्ला पड़ा।

'मैं उसे नहीं दूँगा' कमरेकी दीवारोंने उसकी बात दोहरायी और आवाज़ कमरेमें गूँज उठी।

वृद्धने होशमें आते यह बात सुनी और एक झटकेके साथ उठकर खड़ा हो गया। उसकी निर्बल आँखें क्रोधके कारण लाल हो गयी थीं। उसकी नस-नस काँप उठी थीं। बड़े-बड़े बाल उलझकर खड़े हो गये थे। उसने रुँधे हुए स्वरमें पूरी शक्ति भरकर कहा, 'मैं इसे ले जाऊँगा!' और वह चित्रकी ओर बढ़ा।

कोरोने उसकी कलाइयाँ मज़बूतीसे पकड़ लीं और चिल्लाकर बोला, 'निकल जाओ यहाँ से!' वृद्धकी आँखें दीन हो उठीं, उनमें आँसू छलछला आये और वह तेज़ीसे बाहर निकल गया।

कोरो फूट-फूटकर रोने लगा और घण्टों रोता रहा। आज अपने जीवनमें वह पहली बार अनुदार हुआ था। उसकी आत्मा उसको धिक्कार उठती—'तुम अपने सुखके लिए एक व्यक्तिकी हत्या कर रहे हो।' 'तू हत्यारा है!' उसकी आत्मा शक्ति भर चिल्ला रही थीं। कोरो काँप उठता था। वह रोज़ाका नाम लेकर चिल्लाया और बिलख-बिलखकर रोने लगा।

कुछ देर बाद कोरोने चित्रपरसे आवरण हटा दिया। उसे ऐसा लगा मानो चित्रकी आँखोंमें भी आँसू भरे हुए हों। और वह नफ़रतसे उसे देख रही हो। उसने आवरण फिर ज्यों का त्यों कर दिया और रोज़ाके बिस्तरेपर विक्षिप्त होकर गिर पड़ा।

दूसरे दिन चित्र एलिज़ाके पिताके पास भिजवा दिया गया और अभागा कोरो रोज़ाके कोचपर पड़ा फूट-फूटकर रोता रहा।

कुछ दिन बाद प्रदर्शिनी प्रारम्भ हो गयी थी। परन्तु उस वर्षके सर्वोत्तम चित्रका स्थान रीता था। दुनियाकी प्रत्येक उत्सुक आँख उस स्थानकी ओर आश्चर्यसे देखती और निराश होकर हट जाती।

इधर प्रेमका प्रतीक वह अमर चित्र वसीयतनामेके अनुसार एलिज़ाके पिताके साथ क़ब्रमें दफनाया जा रहा था।



मौतकी आँखें

बरसातकी रात थी वह। आकाशमें मेघ छा रहे थे। पृथ्वीका प्रत्येक कण अन्तरकी प्यास दबाये तृषित आँखोंसे उनकी ओर निहार रहा था। मोतियोंसे चित्रित मखमलका पर्दा उस बड़े वातायन से हटाया जा चुका था। वायुका प्रत्येक हलकोरा स्वर्ण और मोतियों से सुसज्जित उस विशाल कमरेमें कुछ खोज कर चला जाता था। ज़ेबुन्निसा अपनेमें खोयी हुई-सी बैठी थी। विषाद, चिन्ता, करुणा, प्यास—सब उसके अधरों पर चुपचाप खेल कर चले जाते थे। सामने स्वर्णका दीपक जल रहा था। प्रत्येक पतंग उस प्यारकी शिखा पर अपना सर्वस्व निछावर करनेके लिए एक दूसरेसे होड़ ले रहा था। जीवनका यह करुण अन्त ही शायद उनके हेतु सबसे अधिक उपास्य था। उसका भावुक हृदय सब कुछ समझनेकी चेष्टा कर रहा था। एक तूफ़ान था उसके मस्तिष्कमें। प्रातःकालसे लेकर अब तकके सारे चित्र उसकी आँखोंके सामनेसे क्रमशः गुज़र रहे थे—

—'ईरान मुल्कका एक बाशिन्दा शाहज़ादी साहिबासे मुलाक़ात करना चाहता है।'

'कुतुबख़ाना खुल गया?' फ़ारसीकी एक मोटी पुस्तकसे उसने ध्यान हटाते हुए कहा था।

'जी,—हुक्म?'

'जाओ, आती हूँ…'

थोड़ी देर बाद वह कुतुबख़ानेकी सीढ़ियों पर थी। अरबी और फ़ारसीके सारे ग्रन्थ उसके कुतुबख़ानेमें थे। हिन्दोस्तान क्या, ईरान और फ़ारस तकके लोग उसका लोहा मानते थे। औरंगज़ेब के शुष्क हृदयमें भी अपनी लड़कीके लिए नाज़ था। ज़ेबुन्निसा एक मशहूर कवि थी, भावुक थी, उदार थी और सबसे अधिक तो वह विदुषी थी! उसका अध्ययन प्रख्यात था। उस युगका प्रत्येक विद्वान् उसकी इज्ज़त करता था। वह विद्वानोंको शरण देती थी और उनका आदर करती थी!

हाँ, तो सीढ़ियों पर किसीकी बड़ी-बड़ी सूखी आँखोंने उसे देखा था। कविकी सारी कविता, जीवनकी सारी करुणा उन आँखो में ख़ामोश थी। उसने झुक कर सलाम किया।

'तुम कौन हो?'

'आक़िल खाँ।' सूखे अधरोंसे एक गर्वमिश्रित स्वर फूट पड़ा।

शाहज़ादी स्तंभित रह गयी। एक बार उसने दीन जर्जर वस्त्रों की ओर देखा फिर उसके शुष्क चेहरेकी ओर—सब मिल कर उसकी दीनताकी घोषणा कर रहे थे।

'आक़िल खाँ…' उसके शरीरका प्रत्येक तार झनझना उठा। मस्तिष्कने पुकार कर कहा—ईरानका एक प्रसिद्ध युवक कवि, जिसकी शायरीने मोहब्बत और ज़िन्दगीके पवित्र ख़ाके ख़ींच कर फ़ारसी साहित्यमें एक नया जादू भर दिया था। जिसके मयख़ाने में चरित्र-संगठनकी सच्ची शराब थी, जिसकी बुलबुल आत्माकी

अमरताके गीत गाती थी, जिसका गुलिस्तान नेकनीयती, ईमानदारी, दया, उदारता, वीरता और पवित्रताके फूल खिला स्वर्गकी शान्ति पृथ्वी पर खींच लानेके लिए विकल था, जिसकी भाषामें जादूका सा असर था, जिसकी भावनाओंमें आकाशके सितारोंकी भाँति स्वच्छ, अछूता और पवित्र प्रवाह था। इतना बड़ा व्यक्ति--इस अवस्थामें! शाहज़ादीके नयन नत हो गये थे।

'मैं ग़रीब हूँ, शाहज़ादी! तुम्हारी और तुम्हारे कुतुबख़ानेकी तारीफ़ सुन कर ही ईरानसे भारत तककी लम्बी ज़मीन लाँघता हुआ चला आया हूँ। राहके रेगिस्तानोंकी जलन तुम्हारी दयाकी उम्मीद पर ही सही है। लम्बे-लम्बे घण्टोंकी मौतसे भी अधिक डरावनी प्यास, इसी यक़ीन पर झेल सका हूँ कि ज़िन्दगीके बाक़ी दिन तुम्हारी मेहरबानीसे आसानीसे कट जावेंगे।...'

'सब कुछ तुम्हारा ही है'। शाहज़ादीके मुखसे अनायास निकल पड़ा था। उत्तरोत्तर प्रखर होती हुई सूर्यकी किरणें मुसकरा पड़ी थीं।

'सब कुछ तुम्हारा ही है'—एक झटका-सा लगा। उसकी तन्द्रा टूटी। आकाशके मेघ रिमझिम-रिमझिम बरसने लग गये थे। वह वातायन पर आकर खड़ी हो गयी। ज़ोरकी बिजली कड़क उठी। सिरसे पैर तक सिहर उठी थी वह। सामने घने वृक्ष पर बैठी हुई अकेली कपोती डर कर कुंजके कपोतसे सटकर बैठ गयी। बिजलीके क्षणिक प्रकाशमें उसके फड़फड़ाते हुए पंख चमक उठे। यह सब क्या है? ज़ेबुन्निसा सोच रही थी। संसार

का हर एक प्राणी किसी न किसीका आश्रय खोजता है। किसीके आगे वह मौन होकर अपना सब कुछ समर्पित कर देता है। यह समर्पण ही जीवन है। ज़िन्दगीके इस समर्पणको ही दुनिया मोहब्बत और प्रेमके नामसे पुकारती है। क्या समर्पणके बिना आदमी जी नहीं सकता ? शायद नहीं ! मोरनीकी तेज़ आवाज़ने निस्तब्धता भंग करते हुए कहा। ज़ेबुन्निसा चौंक उठी थी। आख़िर वह यह सब क्यों सोच रही है। आश्रय और समर्पणकी बातें—जिन्हें जीवन के पच्चीस वर्षों तक वह भूली हुई थी ? दुनियाने इसे चरित्रकी स्वच्छता कह कर पुकारा था। औरंगजेबका शक्की हृदय भी उसके चरित्रका लोहा मानता था और यही कारण था कि हरमकी सुनहरी दीवारोंके अन्दर वह बन्द नहीं थी। वह अलग रहती थी—पूर्ण स्वतन्त्र। उसके मार्गमें कोई रुकावट न थी। जो कुछ चाहती थी—करती थी। औरंगज़ेबको कोई उज्र न था। कितने ही विद्वान् उसकी शरणमें थे। प्रजाको उस पर अनुरक्ति थी। उसकी सच्चरित्रता पर सबको विश्वास था, यही कारण था कि इस उम्रमें अविवाहित रहने पर भी दुनिया उँगली नहीं उठा सकती थी। वह अपनेको धिक्कार उठी। ज़ेबुन्निसाको यह सब नहीं सोचना चाहिए। वह क्यों आकिल खाँ के बारेमें इतना सोच रही है। वह उसका कौन है ? लेकिन सोचना तो बुरा नहीं, वह कोई पाप तो नहीं करती ! वह एकदम झुँझला उठी। दुग्ध धवल पलंग पर वातायनसे हटकर गिर पड़ी। निद्राका उपक्रम करने लगी। पर आँखोंमें नींद न थी। बार-बार आक़िलकी बड़ी-बड़ी आतुर आँखें मौन भाषामें उससे कुछ कह उठती थीं। वह शरमा जाती थी, घबरा उठती थी। बाहर

झींगुरोंके स्वरसे बँधकर रात कट रही थी। घोर वर्षा हो रही थी। वह एकटक किसी निर्दिष्ट स्थानकी ओर देख रही थी !

× × ×

प्रातःकाल आकाशके मेघ दिशाओंके क्रोड़में समा गये थे। सूर्यकी किरणें सहस्र मालाएँ ले पृथ्वी पर उतर आयी थीं। कुतुबख़ानेके पार्श्वमें ही उसका कमरा था, स्वच्छ और विशाल। वातायनसे थोड़ी ही दूर पर ज़ेबुन्निसाका महल दिखायी देता था। कुतुबख़ानेसे महल तक दोनों ओर फूलोंसे सजा हुआ लाल चिकने पत्थरों वाला रास्ता सीधा चला गया था। आक़िल अपनी इस नयी दुनियाकी शोभा देखनेमें ही व्यस्त था !

ज़ेबुन्निसा भी उठ बैठी थी। बाँदियाँ नाश्ता लेकर खड़ी थीं। हुक्म हुआ—यह नाश्ता कुतुबख़ानेके बग़ल वाले कमरेमें पहुँचा दिया जाय। बाँदियाँ पहले सकुचायीं, फिर चली गयीं।

आक़िलने देखा—बड़े सुसज्जित थालमें उसके सामने लाकर कुछ रख दिया गया है।

'क्या है।

'नाश्ता।'

'नाश्ता तो मैं कर चुका।'

'शाहज़ादी साहिबाने भीतरसे भिजवाया है।' बाँदियोंके साथ आये हुए दरबानने कहा !

'शुक्रिया।'

वह आश्चर्यसे देख रहा था।

थोड़ी देर बाद एक रत्नजटित रथ कुतुबख़ानेके समक्ष आ रुका। कर्मचारियोंकी दो लम्बी क़तारोंने झुक कर स्वागत किया। वह कुतुबख़ानेके भीतर प्रवेश कर गयी। संगमरमरका एक बहुत लम्बा कमरा था। चारों ओर सुन्दर आलमारियाँ पुस्तकोंका अपरिमित ज्ञान लिये खड़ी थीं। बीचमें एक लम्बी-सी मेज़ थी; उसके दोनों ओर स्वर्णजटित मखमलके गद्दोंसे सुसज्जित कुर्सियाँ पड़ी थीं। बड़े कमरेके बाद एक छोटा-सा कमरा था। शाहज़ादी यहीं अध्ययन करती थी। वैभव अपनी अन्तिम सीमा पर था। स्वर्णकी आलमारियोंमें उसकी प्रिय पुस्तकें सजी थीं। मोतियोंकी श्वेत झालरोंने स्वर्णकी पीली चमकको चारों ओरसे बाँध रक्खा था। वह अन्यमनस्क हो बैठ गयी। शाहज़ादी अत्यधिक रूपवती थी। यौवन विकासकी सीमा पर रुक कर उत्सुक नेत्रोंसे चारों ओर निहार रहा था। कुतुबख़ानेकी संरक्षतामें पाँच सौ लेखकोंका पोषण होता था। वे हर समय पुस्तकोंका अनुवाद किया करते थे। कुतुबख़ानेके भंडारकी वृद्धि की जा रही थी। प्रत्येककी विद्वत्ता पर उसे विश्वास था परन्तु व्यक्तिगत रूपसे उसने कभी किसीके बारेमें विचार नहीं किया था। आक़िलकी व्यक्तिगत सत्ताके साथ उसे क्यों इतनी अधिक श्रद्धा हो गयी है, यह उसके लिए एक बहुत जटिल प्रश्न था।

भावनाओंकी इसी उधेड़-बुनमें किसी दरबानने आकर कहा—'शाहज़ादी साहिबासे आक़िल खाँ कुछ अर्ज़ करना चाहते हैं।'

'इसी कमरेमें बुला लाओ।' शाहज़ादीने कुछ विक्षिप्त होकर कहा।

दरबान स्तम्भित रह गया।

'इसी कमरेमें'...जिसमें आज तक शाहज़ादीको छोड़कर और किसीके पैर नहीं पड़े। स्वयं आलमगीर औरंगज़ेब भी जहाँ बिना उसकी इजाज़तके आनेमें संकोच करते थे, वहीं आज एक अनजान व्यक्तिको बुला लाया जाय। दरबान कुछ समझ न सका। कुछ देर हत-बुद्धि सा खड़ा रहा और फिर चला गया।

आक़िल खाँ भय और आश्चर्यकी भावनाओंमें बँधा हुआ वहाँ पहुँचा। शाहज़ादी उठकर खड़ी हो गयी। कुछ देर कमरेमें निस्तब्धता रही। फिर—

'यह मेरी हालकी किताबें हैं, जिन्हें आपकी ख़िदमतमें पेश करने लाया हूँ।' कुछ सकुचाते हुए आकिलने कहा।

'शुक्रिया।'

संकेत हुआ। आक़िल समीपकी एक कुर्सीपर बैठ गया।

'आपको कोई तक़लीफ़ तो नहीं?' शाहज़ादीने शरमाकर पूछा।

'बहुत ज़्यादा' आक़िलने हँसकर कहा।

'......?' आँखें कुछ सख़्त हो गयीं।

'यही कि आग खानेवाली चिड़िया बर्फ़ खाकर नहीं जी सकती। इतना आराम मैं बरदाश्त नहीं कर सकता!'

शाहज़ादी मुसकरा उठी।

'इसलिए बर्फ़ खानेवाली चिड़ियाको आग खानेवाली चिड़िया नफ़रतकी नज़रोंसे देखती है।'

'और बर्फ़ खानेवाली चिड़िया आग खानेवाली को?'

दोनों शरमा गये।

फिर घंटों दोनों बातें करते रहे। विषय एकके बाद एक बदलते जा रहे थे। चलते समय आक़िल कह रहा था :

'ज़िन्दगीके दौरानमें मोहब्बतकी बहुत बड़ी ज़रूरत है, शाहज़ादी। यह वह रोशनी है जो दिलके सारे अँधेरेको दूर कर देती है। जंगलमें रहनेवाला एक शख़्स जिसने कभी इनसानकी सूरत भी नहीं देखी, उस दरख़्तसे ही मोहब्बत करने लगता है जिसके नीचे वह सोता है, खेलता है और हँसता है। उन जानवरोंको प्यार करने लगता है जो उससे हिल-मिल जाते हैं। दुनिया उसकी मोहब्बतपर उँगली नहीं उठाती, उससे वह डाह नहीं करती। इंसानने आज मोहब्बतको ग़लत तरीक़ेसे अपना लिया है। मोहब्बत जिस्मसे नहीं बल्कि रूहसे ताल्लुक रखती है। दुनिया कमज़ोर है। वह अपनी कमज़ोरी रोक नहीं पाती। इसीलिए अपनी कमज़ोरीको मोहब्बतके गले मढ़ उसको बदनाम करती है...'

फिर आक़िल चला गया था।

शाहज़ादी सोचती रही थी—'मोहब्बतका ताल्लुक जिस्मसे नहीं बल्कि रूहसे होता है।'

× × ×

आक़िल ख़ाँके प्रभावकी उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही थी। प्रत्येक व्यक्ति उसको आदरकी दृष्टिसे देखता था। शाहज़ादीको उसकी बातोंसे शान्ति मिलती थी। जब कभी उसकी भावुकतामें उफान आता, उसका जी घबड़ाता, वह आक़िलको बुलवा भेजती थी। घंटों बातें होतीं। उसे कहीं भी जानेमें रोक-टोक न थी। शाहज़ादीके महलके अन्दर तक वह प्रत्येक समय बेरोक-टोक आता

जाता था। दोनों उस बन्धनसे बँध गये थे जिससे छूटना अत्यन्त कठिन था। आक़िल शाहज़ादीका था और शाहज़ादी आक़िल की थी।

दो मास बाद शाहज़ादीका जन्म दिन था। प्रत्येक व्यक्तिने उसकी दीर्घायु तथा सुख और शान्तिके लिए ईश्वरसे प्रार्थना की। ग़रीबोंको दान दिया गया। राज्यके सम्मानित व्यक्तियोंने उसके लिए उपहार भिजवाये। विद्वान् लेखकोंने उसकी प्रशंसामें पुस्तकें और कविताएँ भेंट कीं।

शाहज़ादी उस दिन प्रातःकाल उषा-वेलामें ही उठ गयी थी। चारों ओर चहल-पहल थी। शाहज़ादी अत्यधिक प्रसन्न थी। सोचती थी कि देखें, आक़िल आज उसे क्या उपहार देता है। वह शीघ्रतासे उठकर स्नानागारमें गयी। सोच रही थी—आज आक़िलको वह दिन भर अपने पास रक्खेगी। क़ीमती मोतियोंकी माला जिसे उसने स्वयं बनाया था, जिस समय वह आक़िलके गले में डाल देगी, कितनी प्रसन्नता होगी उसे! कहेगी, 'आक़िल! इस हारकी हिफ़ाज़त करना। यह मोहब्बतकी यादगार है'···फिर वह आक़िलको अपने साथ ही खिलावेगी। रात होगी, उसका संगीत सुनेगी और सुनते ही सुनते सो जावेगी! रातके सपनोंमें भी आक़िलको बाँध रक्खेगी। कितनी चैनसे बीतेगी वह रात···

अचानक बाँदीने आकर आक़िलके आगमनकी सूचना दी। आक़िल आया।

'क्या लाये हो मेरे लिए?' शाहज़ादीने सरल बनते हुए पूछा।

पर आक़िल सुस्त था, बेचैन और घबड़ाया हुआ। मुसकराने का प्रयत्न कर रहा था पर न जाने क्यों असमर्थ-सा था !

कुछ गम्भीर होकर उसने कहा—'मौतकी आँखें।'

'क्या बकते हो ?' कुछ चिढ़कर शाहज़ादी बोली।

'सच कहता हूँ, शाहज़ादी साहिबा ! अभी-अभी मैंने ख़्वाब में देखा है कि तुम मेरे सामने मौतकी आँखें बना रही हो। जितना ही मैं डरता हूँ, उतना ही तुम हँसती हो। मुझसे कह रही हो—यह तुम्हारी मौतकी आँखें हैं। मैं उनकी भयानकता देख चिल्ला पड़ा हूँ। सपना टूटा और मैं सीधा तुम्हारे पास चला आया हूँ।'

'बन्द भी करो ये सब बातें। मैंने तुम्हारे लिए एक हार बनाया है।' इतना कह वह कमरेमें गयी। क़ीमती पत्थरोंका बना हुआ छोटा-सा बक्स खोला। मोतियोंकी माला निकाली और छाती से लगाये हुए वापस आ गयी।

'देखो !' वह मुसकरायी। पासजाकर उसने माला आक़िलके गलेमें डाल दी। उसकी बड़ी-बड़ी आँखोंमें अपनी शरमायी हुई आँखें डाल कर उसने कहा—'इस हारकी हिफ़ाज़त करना, यह मेरी मुहब्बतकी यादगार है।'

वह आक़िलके बिल्कुल सम्मुख खड़ी थी। भावावेशमें वक्ष-स्थल पर सर रखने ही जा रही थी कि घबड़ायी हुई बाँदी आकर कहने लगी :

'शहंशाहे आलम शाहज़ादी साहिबासे मिलने आये हैं।'

शाहज़ादी ठक रह गयी। चेहरा स्याह पड़ गया। मुसकानके स्थान पर करुणाकी रेखाएँ खिंच गयीं। घबड़ायी हुई आँखोंसे उसने चारों ओर देखा। सामने चूल्हे पर रक्खे हुए बड़े देगकी ओर इशारा किया जिसमें पानी गर्म करनेके लिए रक्खा गया था। मौन आक़िल देगकी ओर बढ़ा और उसमें घुस कर बैठ गया। बाँदी चली गयी थी। औरंगज़ेबने भीतर प्रवेश किया। चारों ओर आँखें फिरा कर देखा। कहीं कोई नहीं। आक़िल आया तो ज़रूर था। उसे ख़बर ग़लत नहीं मिल सकती। स्नानागारसे बाहर भी वह नहीं जा सकता! उसने देगकी ओर घूर कर देखा। कल्पनाने साथ दिया।

शाहज़ादी भयभीत-सी मौन खड़ी थी।

औरंगज़ेबने मीठे स्वरसे उसके सर पर हाथ रखकर जन्म-दिनके लिए बधाई दी।

'ग़ुस्लके लिए अभी पानी नहीं गर्म हुआ, शाहज़ादी? यहाँ खड़ी-खड़ी क्या सोच रही हो?'

उसने बाँदियोंको आवाज़ दी। कठोर स्वरमें चूल्हा जलानेको कहा। बाँदियाँ लकड़ी रखकर आग जलाने लगीं। शाहज़ादी हतबुद्धि-सी खड़ी रही। क्या करे? वह कुछ भी समझ नहीं पारही थी, घबड़ाकर उसने कहा—'अभी कोई जल्दी नहीं है, शाहंशाह!"

औरंगज़ेबने कठोर नेत्रोंसे उसकी ओर देखा। शाहज़ादी सहम गयी। देखते-देखते लकड़ियाँ भभक कर जल उठीं। औरंगज़ेब मुसकरा उठा।

देगके भीतर बैठे हुए आक़िलने छाती पर मोहब्बतकी वह यादगार ज़ोरसे दबा ली थी। मस्तिष्कमें बड़े ज़ोरका तूफ़ान चल रहा था! केवल एक ही गम्भीर स्वर सुनाई दे रहा था; 'शाहज़ादीकी इज़्ज़त बचानी है।' धीरे-धीरे पानी गर्म होता जा रहा था। उसकी गर्मीके साथ-साथ मस्तिष्कका वह स्वर भी तेज़ होता जा रहा था! वह बैठा था मौन। पानी खौलने लगा था परन्तु उसमेंसे एक आह भी न निकली थी।

शाहज़ादी देख रही थी। उसकी आँखोंमें घबराहट थी, कातरता थी पर आँसू न थे। उसकी चेतना लुप्त-सी हो रही थी। मस्तिष्क शून्य हो गया था। उसकी उस विस्तृत ख़ामोशीमें कुछ भी नहीं था—केवल थीं मौतकी विस्फारित आँखें जो उत्तरोत्तर साफ़ और भयानक होती जा रही थीं।



क्षितिजके पार

घाटकी सीढ़ियों पर बैठा हुआ बालक मंगल गोदावरीकी बहती हुई तेज़ धारासे अपनी कागज़की अनेक छोटी-छोटी नावों का इतिहास पूछ रहा था। सरिताकी बनती-बिगड़ती छोटी-छोटी भँवरोंमें पड़कर जब उसकी हलकी-सी कागज़की नाव घूमने लगती, कितनी निराशा होती उसके छोटेसे हृदयमें! उसकी आँखोंके सामने इन्हीं क्रूर लहरोंने थपेड़े मार-मार कर उसकी कितनी ही आशा-भरी नावोंको समुद्र तक पहुँचनेसे रोक दिया था। इन्दु कितना हँसती थी डूबती हुई इन नौकाओंको देखकर! मंगलके हृदयमें कितनी वेदना होती जब उसकी अच्छीसे अच्छी नाव भी इन लहरोंमें पहुँच कर अपना अस्तित्व खो देती—डूब जाती।

आज मंगल एक बड़ेसे कागज़की नाव बना कर लाया था। दफ़्तीका मल्लाह, सरकण्डेकी बनी हुई एक हलकी-सी डाँड़ और पतवारकी तो तब उसे आवश्यकता ही नहीं ज्ञात थी। इन्दुको आते देख मंगलने उन्हें पटरेके नीचे छिपा दिया।

'उस पार चलना है मल्लाह!'—बालिका इन्दुने आते ही बड़े आदमीका-सा अभिनय करते हुए अपने कोमल स्वरमें पूछा।

'जी, हुज़ूर!'—एक रटे हुए पाठकी भाँति मंगलके मुख से निकल पड़ा।

'दो पैसे मिलेंगे।'

मंगल चुप रहा। पटरा हटाकर उसने अपनी नाव निकाली। बाल-स्वभाव-वश इन्दुको मुँह बनाकर दिखाया।

'अरे! इतनी बड़ी···देखें मंगल।'

परन्तु मंगल इन शब्दोंके पूर्व ही पानीमें कूद पड़ा था और धारा की ओर तैरता हुआ चला जा रहा था।

'मंगल! सुनो तो···मंगल।' इन्दु चिल्ला रही थी। पर अपनी धुनमें मस्त मंगल किसकी सुन रहा था। बीच धारामें पहुँच कर उसने अपनी नाव छोड़ दी। नाव एक चक्कर खाकर तेज़ीसे बह चली। मंगल लौट पड़ा। किनारे आने पर मंगलने देखा, इन्दु कितनी प्रसन्न है।

'मंगल! तुम्हारी नाव कितनी दूर तक जायगी?'

'समुन्दर तक, इन्दु!'

'फिर क्या होगा?'

'समुन्दर की ऊँची-ऊँची लहरोंमें छोटी-सी नाव डूब जायगी।' मंगलने एक ठण्डी साँस भरते हुए कहा।

'डूब जायगी—सच कहते हो मंगल? और मल्लाह?' इन्दुने उदास स्वरसे पूछा।

'उसका तो पता भी न लगेगा।'

× × ×

बचपनके इन दो साथियोंका यही छोटा-सा संसार था। यही भोली-भाली बातें, यही छोटी-सी कागज़की नाव—और बस। परन्तु वयके विकासके साथ ही साथ नावका स्वरूप भी परिवर्तित होने लगा।

और एक दिन—

स्वच्छ चाँदनी रात थी। धूमिल तारे आकाशमें खिल रहे थे। गोदावरीके निर्मल जलमें मंगल और इन्दुकी एक छोटी-सी नाव लहरोंसे संघर्ष करती हुई बह रही थी। मंगलके हाथमें डाँड़ थी। चन्द्रमाके उस प्रकाशमें—मंगल अपनेको भूल-सा गया था—कितनी सुन्दर है इन्दु ? बड़े-बड़े लहराते काले केशोंके मध्य छोटा-सा गोल-गोल इन्दुका भोला मुख। मंगल एक-दूसरे चाँदकी कल्पना कर रहा था। उसकी नौका लहरोंके साथ तेज़ीसे बहती हुई चली जा रही थी। डाँड़के चलनेकी ध्वनि रात्रिकी उस निःस्तब्धता को भंग कर रही थी।

अब बचपनकी वह भोली-भाली कल्पना न थी, वे भोले प्रश्न न थे, वह सीमित संसार न था। दोनों किशोरावस्थाकी सीढ़ियाँ पार कर रहे थे। दोनोंके हृदयमें कुछ अजीब प्यास-सी बढ़ती जा रही थी, कुछ अजीब उन्माद-सा !

इन्दुने उदास नेत्रोंसे मंगलकी ओर देखकर कहा—'काश ! तुम जीवन-नैय्याके मल्लाह होते !'

मंगलकी आँखोंसे दो बूँद आँसू टपक पड़े। चेहरे पर उदासी-सी छा गयी। अतीतके वे तमाम चित्र आँखोंके सामने उड़ने लगे।

'मंगल कौन ?'

'एक ग़रीब मल्लाहका लड़का।'

'और वह ?'

'एक ऊँचे वंशके बड़े ज़मींदारकी पुत्री।'

—हृदयने प्रश्न किये और उत्तर भी दे लिये। मंगलके

हृदयमें एक हूक उठी, एक सुलगती हुई वेदना। वह 'आह' करके रह गया। दूर धुँधले क्षितिज पर फैली हुई उस नीलिमामें उसे ग़रीब मल्लाहके ही चित्र अंकित दिखाई देने लगे। डाँड़ और जलकी मिलन-रागिनीमें उसे ग़रीब मल्लाहके वंचित हृदयका ही चीत्कार सुनाई देने लगा। निःस्तब्धता भयानक हो उठी।

'क्या हुआ मंगल ?' इन्दुने मंगलके मुखके बदलते हुए भावोंकी ओर देखकर कहा। उसके स्वरमें व्यग्रता थी, एक सच्ची सहानुभूति।

मंगल क्या उत्तर देता ! कैसे समझाता जीवनके ये जटिल प्रश्न ! इन्दुके हृदयमें वह और पीड़ा बढ़ाना नहीं चाहता था। वह न समझे यही अच्छा था। किन्तु इन्दु इतनी नासमझ न थी।

'नौका लौटा लो मंगल, हम लोग लहरोंके साथ बहुत दूर तक चले आये हैं।' इन्दुने दुःखित स्वरसे कहा।

मंगलने नाव घुमा दी।

'इन शेष लहरोंमें मुझे अकेले ही नौका खेनी पड़ेगी—दूर क्षितिजके पारके स्वप्न अधूरे ही रहेंगे...' मंगल हृदयसे कह रहा था। समुद्र कितनी दूर है ? आँसू-भरे नेत्रोंसे मंगल क्षितिजकी ओर एकटक देख रहा था। विचारोंके ये संघर्ष हृदयमें और वेदना पैदा कर रहे थे।

'किसे देखते हो मंगल !' इन्दुका भोला प्रश्न था।

'.........' मंगल चुप।

'क्या देखते हो मंगल !' घबड़ाये हुए स्वरसे इन्दुने उसकी आँखोंमें भरे हुए आँसुओंको देखकर फिर प्रश्न किया।

पर मंगल अब भी चुप था ।

वह क्षितिजके पार इन छोटे-छोटे बादलोंकी कही हुई अधूरी कहानी ही देख रहा था और साथ ही साथ अपने भविष्य का उजड़ा हुआ संसार भी ।

मनुष्य अपने जीवनमें कितनी कोमल कल्पनाएँ लेकर प्रवेश करता है । भविष्यके सुखमय चित्र उसकी आँखोंमें सदा ही मँड़राया करते हैं । फिर ये दोनों साथी भी यदि अपने भविष्यका मूल्य आँका करते हों तो आश्चर्य ही क्या ?

उस रात जब नौका तटसे लगी, इन्दु भारी हृदय लिये चुप-चाप अपने घर चली गयी । पीछे घूमकर देखनेकी बार-बार कोशिश करने पर भी वह ऐसा न कर सकी । और मंगल ?··· वेदनाके भारसे दबा हुआ मंगल चुपचाप अपनी नौकामें पड़ा आँसू बहा रहा था । चाँद था, तारे थे, गोदावरी की सुन्दर लहरें थीं, पर उसके हृदयमें शान्ति न थी । पागल हृदय······

× × ×

और उसी दिन घर पहुँचने पर इन्दुके पिताने कर्कश स्वरमें कहा, "बस, इन्दु ! अपना घूमना अब बन्द करो । मैं तुमसे कितनी बार कह चुका । उस मंगलका साथ अब तुम्हें छोड़ना है । अब तुम सयानी हो चली हो । अपने घर की चाल-ढाल देखो, अपने बाप-दादोंकी इज़्ज़त देखो । अपने वंशकी रीति-रिवाज़ देखो । समझीं ? जाओ, खाओ-पिओ ।"

पिताकी आज्ञा इन्दुने हृदय पर पत्थर रखकर सुनी और उस दिनसे लाख प्रयत्न करने पर भी मंगलसे न मिल सकी । कराहती

हुई हृदयकी वेदना ले दोनों रात्रिकी निर्मम घड़ियोंमें अपने आँसू बहाया करते थे। कौन उनके हृदयसे निकली हुई आहों पर हाथ फेरता ? आखिर, उनका सम्बन्ध ही क्या था ? इतना ही कि वे जीवनके कुछ पल साथ ही खेले थे, साथ ही हँसे थे और कभी-कभी साथ ही रोये भी थे। जीवनके पार्थिव सुखोंमें इन्दुके लिए मंगलकी स्मृति धीरे-धीरे खो-सी चली। व्यर्थ जानकर, इन्दुने उन्हें जिलाये रखनेकी जो चेष्टा भी की वह बहुत दुर्बल सिद्ध हुई। कुछ दिनोंके बाद इन्दुके संकुल हृदयमें मंगल बचपनकी सुनी हुई किसी कहानीके प्रिय पात्र सा ही शेष रह गया। घरमें सखी-सहेलियोंके बीच उसके दिन खेलते-कूदते खुशीसे कटने लगे।

और इधर था अभागा मंगल—उसके था ही कौन ? माँका देहान्त बचपनमें ही हो चुका था। रहे पिता, वह इन्हीं दुःखमय दिनोंमें दो-एक नावोंका भार छोड़ परलोक सिधार गये थे। दिन भर मंगल घाट पर अपनी नाव लिये बैठा रहता। आने-जानेवाले यात्रियोंसे दो-दो पैसा ले उन्हें इस पारसे उस पार ले जाया करता। छोटे-छोटे बालकोंकी बहती हुई काग़ज़की नावें देख उसे वे अपने स्वर्णिम दिन याद आ जाते, उसकी आँखोंसे आँसू बहने लगते। शामको जो कुछ होता पकाकर खा लेता और फिर रातको उसी नावमें नित्य इन्दुकी प्रतीक्षा करता सो जाता।

कई साल बीत गये, इन्दुके दर्शन न हुए। उसके पिताने अब यह स्थान भी बदल दिया था। वह अब कहीं दूर शहरमें चले गये थे। मंगलने सोचा, इन्दु उसे भूल गयी, अच्छा ही हुआ। अपने हृदयको लाख समझाता, लाख तसल्ली देता पर उसका हृदय

न मानता। उसे इन्दुकी याद हर घड़ी घेरे रहती। आँखें उसके एक दर्शनके लिए तरसती रहतीं। जीवनका एक-एक पल एक-एक सदी-सा प्रतीत होता। पता नहीं ये दो-तीन साल उसने अपने जीवन के कैसे काटे। वह इन्दुको ज्यों-ज्यों भुलानेकी चेष्टा करता, उसकी छाप उसके हृदयमें उतनी ही गहरी होती जाती।

बाँसुरीके स्वरोंमें उसने अपनेको भूलनेकी चेष्टा की। गोदावरीके तट पर बँधी हुई नौकामें लेटा हुआ ग़रीब मंगल वंशीकी ध्वनिमें अपनेको खो देना चाहता। बजाते-बजाते उसे एक अजीब-स्वर सुनाई देता। रात्रिके फैले हुए अन्धकारमें दूर क्षितिज पर उसे इन्दुकी धुँधली-मूर्ति दिखाई देती और साथ ही एक कोमल स्वर सुन पड़ता 'उस पार चलोगे मल्लाह ?'······ पागल मंगल चौंक कर अपनी बाँसुरी बन्द कर देता। सोचता, इतने यात्री आते हैं—किसीने कोमल स्वरसे उस पार चलनेको नहीं कहा। कितने बुरे दिन थे वे! जब वह उस पार ले जानेमें असमर्थ था, कोई उससे उस पार चलनेके लिए आग्रह करता था, और अब जब वह······कहने वाला नहीं। मंगलको एक अजीब उलझन मालूम पड़ती। झुँझला कर वह बड़बड़ाने लगता। परीशान था मंगल! बाँसुरी रखकर जब गानेका प्रयत्न करता, उसके हृदयकी चेतना ही रो उठती और वह और पीड़ित हो उठता। ज़बान पर वही इन्दुकी गायी हुई कड़ियाँ आ जातीं जो कि इन्हीं सुन्दर रातोंमें उसके मुखसे निकली थीं। और फिर धीरे-धीरे सारे चित्र खिंच जाते 'वह है···इन्दु है······इन्दु गा रही है······उसके केश उड़ रहे हैं······सुन्दर शीतल वायु, हँसती हुई चन्द्रिका···

डाँड़ चला रहा है वह।' मंगल उठ कर बैठ जाता। अन्धकारमें चारों ओर उसे इन्दुकी मूर्ति दिखाई देती। कभी हँसती हुई कभी रोती हुई। वह आँखें बन्द कर लेता। यों ही दिन बीत रहे थे अभागे मंगलके।

× × ×

इधर इन्दुके पिता उसे शहर ले आये थे। वहाँ खूब धूम-धामसे इन्दुकी शादी हुई। इन्दुने पतिके घरमें प्रवेश किया। वहाँ जीवनका नया रूप था, नये स्वप्न थे, नयी आशाएँ थीं। उसके पति सुन्दर थे, सज्जन थे, रसिक थे और साथ-ही-साथ थे धनाढ्य; और चाहिए ही क्या ? इन्दुके दिन और भी सुखसे भर उठे। पतिका प्यार—और उसे पाकर वह सब कुछ पा गयी थी। मंगलकी स्मृतिकी उसे आवश्यकता ही क्या थी ! धीरे-धीरे जीवनके इस नये रंगने अपनी गहराईमें मंगलके अस्तित्वको छिपा लिया। इधर कुछ दिनों बाद उसके परिवारका स्वरूप और भी सुन्दर हो गया जब उसने एक चाँद-से बालकको जन्म दिया। अब उसका हृदय एक भोली बालिकाका हृदय नहीं रह गया था, न एक अल्हड़ बालाका ही। अब वह एक माताका हृदय था जो बालककी किलकारीमें ही समस्त संसारका सुख और बालकके रुदनमें ही समस्त जगका दुःख अनुभव करती है। पुत्रमें उलझकर इन्दु सारी दुनिया भूल गयी। उसने एक दिनके लिए भी कभी यह नहीं सोचा कि मंगल क्या करता होगा। उसके पास सब कुछ था—धन, पतिका प्यार, बालकका सुख। अब अभाव ही किस बातका था ? उसे चिन्ता हो क्यों ?

एक बार अपने पतिके साथ उसी पुराने मकानमें कुछ जमींदारीके कार्यवश, कुछ दिनोंके लिए फिर जाना पड़ा। मंगलने सुना, इन्दु आयी है। उसे अपने कानोंपर सहसा विश्वास नहीं हुआ। अपनेको लाख रोकनेकी कोशिश करनेपर भी वह अपनेको न रोक सका। बालकोंकी तरह भागता हुआ उसके घर पहुँचा, केवल अपने बचपनकी संगिनीको देखनेके लिए। काली-काली बढ़ी हुई दाढ़ी, साँवले नंगे बदनपर एक लपेटा हुआ छोटा-सा अँगोछा—यही उसकी वेश-भूषा थी। घरकी सीढ़ीपर पैर रखते ही किसीने टोका—'कहाँ जाते हो?'

तब मंगलको अपनी अवस्थाका ज्ञान हुआ। सामने बड़ी-बड़ी गाड़ियोंमें तमाम सामान लदा पड़ा था। सुन्दर कपड़े पहने हुए नौकर-चाकर उन्हें उठा-उठाकर भीतर पहुँचा रहे थे। उसे इन्दुकी छाया भी न दिखाई दी। अभागा मानव! आशाकी जगह घोर निराशा! गरीब मंगल चारों ओर एक अन्धकारका अनुभव कर रहा था। ऐसा प्रतीत होता था मानो पृथ्वी घूम रही हो, चारों दिशाएँ गिरी पड़ रही हों। लड़खड़ाते हुए पैरोंसे मंगल लौट आया अपनी नावपर और फूट-फूटकर रोने लगा।

'जीवन व्यर्थ है मंगल! तेरा संसारमें अब कौन अपना है?' हृदय बार-बार कह रहा था। मंगल सुन रहा था हृदयकी आहोंसे निकला हुआ यह शब्द।

और फिर दूसरे दिन—

'उस पार चलते हो मल्लाह?' किसीके भारी कण्ठसे आवाज़ आयी।

मंगलने आँसूभरे नेत्र ऊपर उठाकर देखा।

कौन ? इन्दु···इतनी बड़ी ? वह भोलापन कहाँ है ? यह उसकी साथिन इन्दु नहीं है। और ये क़ीमती कपड़ोंसे ढके महोदय, जो अपने प्रश्नके उत्तरकी प्रतीक्षामें थे—शायद उसके पति··· मंगलने सोचा—'और एक छोटा बालक भी।'

पति···इन्दु···बालक ! मंगल सबकी ओर एक-एक दृष्टि डाल रहा था, चकित-सा, खोया-सा—

इन्दु मंगलको पहचान भी न सकी। कैसा आदमी है यह, बोलता नहीं, पागलों-सा घूर-घूरकर देख रहा है—इन्दुने सोचा। उसे अजीब क्रोध-सा आया—'चलता है रे मल्लाह !' कुछ क्रोध और कुछ झुँझलाहट मिश्रित स्वरमें उसने कहा। मंगलकी आँखोंसे आँसू टपक पड़े। यह उसकी इन्दुका स्वर नहीं ! इतना कठोर ?—हो नहीं सकता। अतीतका एक चित्र उसकी आँखोके सम्मुख खिंच गया।

'जी, हुज़ूर !' कुछ काँपती हुई आवाज़में मंगलने अपना पुराना रटा हुआ पाठ दुहरा दिया।

पर यह क्यों ? इसके पहले कि वे लोग नावमें बैठें, उसकी नौका चल पड़ी, धाराकी ओर।

'मल्हाह, रोको—रोको जी!' क्रोधमें आकर इन्दुके पति चिल्ला रहे थे।

और इन्दुको यह 'जी, हुज़ूर !' शब्द कुछ परिचित-सा लगा, साथ ही हृदयपर एक आघात-सा हुआ। पलभरमें ही बचपनके सारे चित्र उसकी आँखोंमें नाच गये।

'मंगल ! लौटा लो अपनी नाव—मंगल !' इन्दु ज़ोरसे चिल्लायी ।

परन्तु मंगलकी नाव धारके साथ जल्दी-जल्दी बढ़ती चली जा रही थी । जीवनसे तंग मंगल शक्तिभर डाँड़ चला रहा था । अब वह कुछ भी सुननेमें असमर्थ था । इन्दुके सामने जल्दी-जल्दी वे तमाम चित्र घूम रहे थे । उसे प्रत्यक्ष वे स्वर सुनाई दे रहे थे ।

'कहाँ जायगी नाव ?···समुन्दर तक ।···फिर ?··· डूब जायगी ।···और मल्लाह ?···उसका पता भी न लगेगा !'

इन्दु चीख़कर रो पड़ी । वह जोरसे चिल्लायी—'मंगल !' उसे चक्कर आने लगा । सारा शरीर ज़ोर-ज़ोरसे काँपने लगा । मंगलकी नाव दूर तीर-सी चली जा रही थी ।

'क्या है ? क्या बात है इन्दु ?' उसके पतिने घबड़ाकर उसको छातीसे चिपका लिया । 'बोलो—बोलती क्यों नहीं ? तुम इस मल्लाहको जानती हो ? कहाँ जा रहा है यह ?'

इन्दु कुछ बोल न सकी । लाख कोशिशें करनेपर भी अपने पतिकी छातीसे चिपकी हुई इन्दु अर्द्धमूर्छित अवस्थामें उस ओर देख रही थी ।

और मंगलकी नाव भागती हुई चली जा रही थी दूर—क्षितिजके पार···।

रूप और ईश्वर

'राजकुमारी रूपश्री गुरुदेवके दर्शन करना चाहती है ।'

तपस्वी देवमित्रने शान्त स्निग्ध आँखें खोलीं और उनके तपस्यासे दीपित मुखमण्डलसे तेजकी किरण फूट पड़ीं। अनन्त मिठास-भरे गम्भीर स्वरमें उन्होंने कहा :

'राजकुमारीको सादर उपस्थित करो ।'

और थोड़ी देर बाद यौवनकी सम्पूर्ण कलासे सुसज्जित, सितारके तारोंकी कम्पन-सी लहराकर, राजकुमारी ऋषिके सम्मुख रूपकी चाँदनी बिछाती हुई आ खड़ी हुई ।

ईश्वरीय प्रकाशसे ज्योतित नेत्र क्षणभरको उस मानवीय रूपके आगे श्रद्धासे नत हो गये। और तभी ऋषिने सुना, कानोंमें रसकी फुहार उड़ेलते हुए वह कह रही थीः 'मेरी निर्बलताएँ मुझे दिन प्रति दिन ईश्वरसे विमुख करती जा रही हैं देव ! सिन्धुकी अनन्त लहरों-सा अँगड़ाई लेता हुआ यह यौवन ज्ञानके, तर्कके बन्धनोंको तोड़ कर भी तृष्णाओं और इच्छाओंके वातावरणमें उमड़कर हिलोरें लेने लगता है । मैं विकल हो उठती हूँ । देखती हूँ मुक्तिका कोई सहारा नहीं रह गया है । ईश्वर प्रतिक्षण दूर होता जा रहा है और-और कलुषित आत्मा जानकर भी अनजान बन रही है । बन्धनोंसे दूर भागने पर भी बन्धनोंमें फँसती जा रही हूँ ।'

'तुम रूपवती हो राजकुमारी। रूपके सात्त्विक आकर्षणमें ही ईश्वरकी झलक दिखायी देती है। रूपको ईश्वरकी खोज! आश्चर्य है। क्या तुम्हें अपनेमें ईश्वरका आभास नहीं मिलता ?'

राजकुमारीने देखा, महर्षिकी आँखें एकटक उसके मुखकी ओर गड़ी हैं और वह उसका बाह्य रूप ही नहीं, उसकी समस्त चेतना आँखोंसे खींचते चले जा रहे हैं।

'महर्षि' वह घबड़ा कर चिल्लायी: 'आप क्या देख रहे हैं मुझमें—इस तरह मत देखिए मुझे! बन्द कीजिए अपनी आँखें।'

परन्तु वेदमित्र बिना कुछ सुने हुए कहते ही रहे—उनकी आँखें एकटक उसके मुख पर गड़ी थीं—'बिना रूपके ईश्वरकी आनन्दमय अनुभूतिको मस्तिष्कमें खींचा नहीं जा सकता। संस्कारी सबल इन्द्रियोंको भी रूपकी तृषा रहती है और उसी रूपसे उनका ईश्वर छन कर बरसता है। तुम्हारे अंग-अंगमें ईश्वर है। कितनी सुन्दर हो तुम!' और तभी भयातुर राजकुमारीने वेद-मित्रके नयनोंमें एक झलक देखी थी जिसे वह सहन न कर सकी थी और एक क्षणमें कुटीके बाहर आ रथ पर चल पड़ी थी।

राजकुमारीके चले जानेके उपरान्त वेदमित्रने एक बार फिर समाधिस्थ होनेकी चेष्टा की परन्तु मनके तूफ़ानने विघ्न उपस्थित कर दिया। उसके कानोंमें राजकुमारीका अन्तिम स्वर गूँज रहाथा: 'अब कभी न आऊँगी। देव, अपनी निर्बलतासे तुम्हें निर्बल नहीं कर सकती।' उनके अधरों पर एक मुसकान थिरक गयी और वह फिर सोचने लगे, रूप और ईश्वर दोनोंका संयोग कितना मधुर होगा—एक भौतिक, दूसरा पारलौकिक। भौतिक रूप प्रारम्भिक

आकर्षण कर चित्तकी एकाग्रताका कारण होगा और पारलौकिक ईश्वर चिर आनन्द एवं मुक्तिका। मनुष्यका जीवन सफल हो जावेगा···

तभी अचानक किसी नवीन शिष्यने आकर कहा 'गुरुदेव! प्राणायामकी सारी क्रियाएँ समाप्त कर चुका हूँ। इन्द्रियाँ अपनी सारी निर्बलताएँ खो चुकी हैं परन्तु चित्तकी एकाग्रता, मन और मस्तिष्कके एकीकरणका उस अनन्त शक्तिकी ओर आत्म-समर्पण, अभी तक नहीं हो पाया है। कभी-कभी यह निर्बल मन एक आधार खोजता है जहाँ पर टिक कर ब्रह्मानुभूतिका आनन्दरस पान कर सके।'

'ठीक कहते हो तुम। आधार मिलेगा।' वेदमित्रने कहा।

उसी रातको जब कि बादलोंको चीर कर चन्द्रमा आकाशमें अपनी नील-हरित आभा बिखेरता हुआ लहरा उठा था ऋषिने समाधि भंग की और समीपस्थ नदीकी श्याम और पीत लहरोंमें वृक्षोंकी सघन छायाके नीचे होते हुए अपनी छोटी-सी नौका खेने लगे। डाँड़के छप-छप शब्दने ऊँघते हुए वृक्षोंको चौंका दिया। उनकी उनींदी बाँहें लहरोंकी ओर बढ़ आयीं।

साँझकी लालिमा महादस्यु वज्रघोषकी मदिरामें छन पड़ी। गहन वनमें उस पर्वतीय नालेके मध्य एक विशाल शिलाखण्ड पर वह बैठा था और उसके समीप ही अन्य छोटे-छोटे शिलाखण्डों पर उसके दस्यु सरदार बैठे हुए अपनी भयानकतामें मस्ती मिला रहे थे। अत्यन्त शीतल जल नालेके तलसे सिमटा हुआ अपने साथ तमाम छोटे-छोटे पत्थरोंके लुढ़कनेका मधुर संगीत लिये हुए तेज़ीसे बह रहा था।

'तुममें अपार शक्ति है नवागन्तुक। हममेंसे कोई भी उस विशालकाय शिलाखण्डको नहीं हिला पाया था। तुम हमारे प्रधान नायक हुए। तुम्हारी शक्ति अपार है। मैं तुम्हारा नामकरण शक्तिमूर्ति करता हूँ। पसन्द है ?' इतना कह कर वह ज़ोरसे ठठाकर हँस पड़ा था। उसके इस भयंकर स्वरकी प्रतिध्वनि सुन कर ही वनके समस्त वृक्ष एक छोरसे दूसरे छोर तक काँप उठे।

एक दिन नीरव रातमें आँखोंसे चाँदकी किरणोंकी शराब पीते हुए वज्रघोषने उस छोटी-सी डोंगीको तटसे नदीकी लहरोंकी ओर बढ़ाते हुए समीप बैठे शक्तिमूर्तिसे पूछा : 'तुम बहुत मौन रहते हो शक्ति ? क्या सोचा करते हो ? अभी नये हो, जी नहीं लगता होगा—अपने विगत जीवनके बारेमें ही कुछ सोचते होंगे।' परन्तु शक्तिमूर्ति चाँदनीमें झाँकता हुआ प्रकृतिका यौवन देख रहा था। उसने वज्रघोषकी बात भी न सुनी। डोंगी लहरोंमें फिसलती हुई मँझधारमें आ गयी थी।

'वसन्तकी रातका यह सुरभिस्नात मलयानिल, रसकी फुहार बरसाती हुई यह चाँदनी, मस्तीमें झूमती हुई यह प्रकृति, क्या तुम्हारे अणु-अणुमें सिहरन, स्पन्दन और प्यास नहीं भर देती है ? तुम इतने एकाग्र-चित्त क्या देख रहे हो ?' वज्रघोषने यौवन-रसमें अलसाये हुए कहा। डोंगी धीरे-धीरे अपने आप नदीकी धारमें बढ़ती हुई चली जा रही थी और चाँदकी किरणें उसका बेसुध आलिंगन कर रही थीं।

'मैं देखता हूँ ईश्वर कितना सर्व-व्यापक है ? उसका सौन्दर्य कितना शान्ति-दायक, रूप कितना अनन्त······।'

'शक्तिमूर्ति !' वज्रघोषने चैतन्य होकर कहा : 'क्या तुम्हारे नस-नसमें कोई रंगीन मदिरा नहीं छलक उठती, अणु-अणुमें किसी को आत्मसात् कर लेनेकी प्यास नहीं उमड़ती ? क्या तुम्हें कोई अभाव नहीं दीखता,—तुम्हारा जी नहीं करता कि स्वर्गकी अप्सराओं-सी सुन्दर अलकें बिखराये हुए कोई षोडशी सितारके तारोंसे एक हलकी मूर्च्छना-सी लहराती हुई, तुम्हारी आँखोंमें अपनी शरमायी हुई आँखें डाल कर कुछ गुनगुना रही हो—आकाशके वक्ष पर श्वेत हंसों-से पर फैलाये हल्के झीने बादल उड़ रहे हों···बोलो, जल्दी बोलो । क्या तुम्हारा जी नहीं करता कि इसी चाँद-सा सुन्दर एक शशि-मुख तुम्हारे वक्ष पर हो, तुम्हारी सासोंसे किसीकी गर्म-गर्म भीनी सुगन्धि वाली सासें टकरा रही हों, तुम्हारी आँखोंमें किसीकी झँपती हुई आँखोंके शरमाये हुए सपने हल्की-हल्की अँगड़ाई लेते हुए उतर रहे हों, तुम्हारे अधरों पर किसीके अधरोंकी रस-भरी अरुणाई तैर रही हो···क्या तुम्हारी बाहें किसीको जकड़ लेनेके लिए तड़प नहीं उठतीं ? क्या तुम्हारा अणु-अणु किसीको चूम लेनेके लिए विकल नहीं हो उठता ? बोलो—बोलो शक्तिमूर्ति !'

'नहीं, यह वासना है महादस्यु, इन्द्रियोंका पतन, इच्छाओंकी दासता, आत्माका पराभव ! सात्त्विक रूप हमें इन क्षणिक ऐन्द्रिय लिप्साओंसे मुक्त स्वर्गके पवित्र नन्दन-निकुंजमें आत्म-विस्मृतिके मलयानिलकी लहरों पर झुला, सत् चित् आनन्दकी रसवृष्टि करता है । रूप वासनाकी सृष्टि नहीं करता अपितु ईश्वरको प्राप्त करनेकी प्रेरणा देता है । मानवके लिए सृष्टिमें यह सबसे प्रमुख आकर्षण

है जहाँ उसे ईश्वरके आनन्द-स्वरूपका साकार दर्शन होता है, जिसमें विभोर हो वह आलस्यमदकी बेलियाँ तोड़ कर मुक्ति प्राप्त करता है।" शक्तिमूर्तिने शान्तिपूर्वक कहा।

अचानक वायुकी गति कुछ और तेज़ हुई। डोंगी और वेगकी लहरोंमें फिसलने लगी। सहसा वह एक बड़ी-सी भँवरमें पड़ कर चक्कर खाने लगी परन्तु वज्रघोषने बिना ध्यान दिये हुए आवेशमें आकर कहना शुरू किया: 'यह सब मिथ्या है शक्तिमूर्ति, कोरा आदर्शवाद। रूप इन्द्रियोंको आकर्षित कर सृष्टि-उत्पादनमें ईश्वरका सहयोग करता है। तुम जिसे सात्त्विक रूप कहते हो वह इस संसारमें है कहाँ?'

'रूपकी सात्त्विकता मन और इन्द्रियोंकी सात्त्विकता पर निर्भर है। निर्बल इन्द्रियाँ सात्त्विक रूपकी कल्पना नहीं कर सकतीं। इन्द्रियजित आत्मा ही रूपके चिर सात्त्विक आनन्दमें विभोर हो सकती है। वासनाकी दास आत्मा रूपका क्या आनन्द लेगी!' शक्तिमूर्तिने कहा और तभी वज्रघोषने देखा, तट पर फूलोंसे लदी हुई लताएँ वृक्षोंकी बाहोंमें कसी हुई थीं, दूर क्षितिजके आलिंगनमें बँधी चाँद और तारोंके अलंकारसे शोभित नववधू-सी रजनी आकाशका बिस्तर लेकर शिथिल-सी पड़ी थी।

'तब तुम मनुष्य नहीं हो शक्तिमूर्ति!' एक उच्छ्वास भर कर कुछ सोचते हुए वज्रघोषने कहा। डोंगी वेगसे लहरोंके साथ सर-सरकी एक हल्की ध्वनि करती हुई आगे बढ़ रही थी। अचानक वज्रघोषने डोंगी तटकी ओर घुमा दी। वह किनारेसे लग गयी। वज्रघोष और शक्तिमूर्ति नावसे कूद पड़े। वज्रघोषने संकेत किया

और शक्ति उसके पीछे-पीछे टीलेपर चढ़ने लगा। ऊपर पहुँचकर वज्रघोषने दिखाया, बहुत दूर चाँदनीमें एक लाल पत्थरोंका बना हुआ भवन चमक रहा है। और फिर उसने कहा:

'जानते हो शक्ति यह किसका महल है? राजकुमारी रूपश्री का···रूप और यौवनकी अद्वितीय सम्राज्ञीका। शक्ति···' एक गहरा निश्वास लेकर कुछ अजीब दृष्टिसे उसने उसकी ओर देखा था।

और एक दिन वर्षाकी घनी अँधेरी रातमें, पाँच सहस्र दस्यु अश्वारोही हाथमें मशालें लिये चुपचाप वन-पथ पर आगे बढ़ रहे थे। सबसे आगे था शान्त गम्भीर शक्तिमूर्ति। वन-पथ समाप्त कर राजा अचलगिरिके रूप-महल पर वे पहुँच गये। उस भयानक निशामें पाँच सहस्र अश्वारोहियोंकी पगचापसे सम्पूर्ण महल काँप उठा। वज्रघोषका नाम सुन सब पीले पड़ गये। महल-रक्षकोंने हथियार डाल दिये। राजाने महलके द्वार खोल दिये। कोषकी चाबियाँ दे दी गयीं। आवश्यकतानुसार लोग धन लेने लगे। और तभी शक्तिमूर्ति राजकुमारी रूपश्रीके कक्षमें था। भयसे अर्द्ध-मूर्च्छित-सी राजकुमारीने देखा और कहा,

'गुरुदेव! आप'

'हाँ रूपश्री, शीघ्रता करो। मुझे तुमसे अपने जीवनका अन्तिम प्रयोग करना है।'

'आप ऋषि होकर इस रूप और यौवनके नश्वर बन्धनमें बँध गये! ऋषि, मैं तुम्हारी साधना नहीं नष्ट कर सकती!

मुक्तिमार्गके राही, इन भौतिक आकर्षणोंमें पड़कर अपनी तपस्या नष्ट न करो। तुम अमर हो। अमरताका सन्देश देने आये हो। जाओ, चले जाओ!' इतना कहते-कहते वह बिलखकर रो पड़ी।

'यह समय बातोंका नहीं है, शीघ्रता करो।'

'नहीं यह कभी नहीं हो सकता!' उसने रोते हुए उत्तर दिया। शक्तिमूर्तिने उसे बलात् अपनी बाहोंमें उठा लिया और वातायनसे महलके पिछले भागमें कूद पड़ा। नीचे अश्व खड़ा था और उस अँधेरी रातमें एक हाथमें मशाल लिये दूसरे हाथमें बागडोर तथा रूपश्रीको थामे वह तेज़ीसे ऊँची-नीची पहाड़ियोंपर चल रहा था। अचानक मूसलाधार वर्षा होने लगी। मशाल बुझ गयी। बिजलीके क्षणिक प्रकाशमें उस पथरीली ऊबड़-खाबड़ ज़मीनपर जहाँ चारों ओर जल-ही-जल उमड़ रहा था घोड़ा धीरे-धीरे फिसलता और सम्हलता आगे बढ़ता। चारों ओर वर्षाका धुँआधार शोर। और उसी समय कानके पास एक हल्की-सी ध्वनिमें रूपश्री कह रही थी—

'तुम नरककी ओर जा रहे हो ऋषि!'

'नहीं'

'तुम्हारे नामपर कलंकका धब्बा लगेगा।'

'नहीं'

'एक बार फिर मान जाओ, अपनेको नष्ट न करो। ईश्वर तुमसे रुष्ट होगा।'

'नहीं, नहीं, नहीं।'

और कुछ क्षणों बाद ज़ोरकी बिजली चमकी, घोड़ा गिरते-

गिरते बचा। तभी शक्तिमूर्तिने अनुभव किया राजकुमारी उसके वक्षसे बड़ी ज़ोरसे लिपट गयी है। उसने सुना, वह बहुत धीमे स्वरमें कह रही है 'आह मेरे देवता, मुझे क्षमा करना, मैं नीच नहीं होना चाहती।'

अचानक घोड़ा रुक गया। चारों ओर बीहड़ पहाड़ियाँ थीं। शक्तिमूर्त्ति उतरा और रूपश्रीको बाहोंमें उठा समीपकी गुफामें घुस गया। गुफाके भीतर गहन अन्धकार था। रूपश्रीको एक शिला पर रख उसने प्रकाश किया। परन्तु प्रकाशकी किरणें रूपश्रीके मुख पर पड़ते ही विलाप कर उठीं। उसने देखा राजकुमारी निर्जीव है। उसके अधर नीले पड़ गये हैं परन्तु उसके हाथकी अँगूठी चमक रही है।

'नासमझ' शक्तिमूर्तिने दयासे उसकी ओर देखा और सोचने लगा : 'रूप ईश्वरको प्राप्त करनेकी प्रेरणा देता है और ईश्वर रूपकी ओर आकर्षित कर मन और प्राणोंमें आनन्दकी वर्षा करता है। दोनोंका संयोग कितना मधुर हो···'

कुछ दिनों बाद महर्षि वेदमित्रके शिष्य उन्हें खोजते-खोजते वहाँ पहुँच गये। उन्होंने देखा, रूपश्रीके शवके समीप ही वेदमित्र का निर्जीव शरीर पड़ा है और कुछ ही दूर पर रूपश्रीकी एक अत्यन्त सुन्दर पत्थरकी मूर्ति गुफामें प्रकाशकी किरणें बिखेरती हुई एक दृढ़ आकर्षण की आभा बिछाती हुई खड़ी है। शिष्य आगे बढ़ कर मूर्तिके चरणों पर गिर पड़े और एकाग्रचित्त कुछ क्षणों तक उसमें ईश्वरकी स्पष्ट झलक देखते रहे।



ज़िन्दगी और मौत

निर्जन पर्वतीय-प्रान्त । दूर-दूर तक पहाड़ियाँ अपने सौन्दर्यकी आभा बिखेरती हुई किसीकी प्रतीक्षामें सजी खड़ी थीं ! चाँदनी रात थी । श्वेत बादलोंसे बँधी हुई पहाड़ोंकी चोटियों पर शशि-किरणोंकी धवल धारा ऐसी लगती मानो असंख्य परियाँ एक साथ नृत्य प्रारम्भ करनेके लिए एक विचित्र भंगिमा सजाती हुई थिरक रही हों । लम्बे-लम्बे देवदारु वृक्ष मन्त्र-मुग्ध दर्शकोंकी भाँति मौन खड़े थे । मन्थर गतिसे चलती हुई सुरभित वायु कभी-कभी इन वृक्षों पर सितारकी एक गत बजा जाती और सारी प्रकृति उस रागिनीमें विभोर दीखती ।

अचानक आकाशमें एक कम्पन हुआ और चाँदनी किरणें सिहर उठीं । पहाड़ियाँ काँप उठीं । देवदारुके वृक्षोंका झीना तिमिर चीरती हुई अप्सराओंसे भी अधिक सुन्दर दो पहाड़ी बालाएँ उस खुले स्थल पर तीरकी तरह आ खड़ी हुईं । दोनोंकी आँखोंसे क्रोधकी चिनगारियाँ निकल रही थीं ।

मदालसाने मज़बूतीसे लताका हाथ पकड़ लिया और दूसरे ही क्षण उसके हाथमें विषसे बुझा छुरा चमक उठा ।

'तुम मेरे मार्गमें रुकावट मत बनो !' कठोर अनुशासनके स्वरमें उसने कहा ।

'मैंने कभी इसकी चेष्टा नहीं की । तुम मेरी बड़ी बहन हो

इसलिए मैं एक यन्त्र-सी तुम्हारी आज्ञा पर चलती रही···' निश्चल भावसे लता बोली।

'देखती हो यह छुरा—यदि आजसे उस युवक तपस्वीने तुम्हारी ओर प्यारकी आँखसे देखा तो फिर···मैं तुम्हें जीवित नहीं रहने दे सकती। तुम मुझसे कुछ अधिक सुन्दर हो इसीलिए शायद तुम गर्व करती हो। लेकिन यह याद रखना परियों-सी यह तुम्हारी सूरत मिट्टीमें मिला दूँगी ! नहीं जानती थी कि तुम ज़हरसे भरी हुई हो। देखनेमें इतनी भोली परन्तु···!'

'चुप रहो—चरित्र पर आक्षेप मैं नहीं सह सकती,' लता उसे बीचमें काटकर चिल्ला पड़ी।

'नहीं सह सकती। अपने अन्तःकरणकी गन्दगी बाहरकी सुन्दरतासे छिपानेमें कुशल हो इसीलिए न !'

'मन्दा !' क्रोधसे तमतमाकर एक झटकेसे कमरसे छुरा खींच कर वह चिल्लायी—'ज़बान सभाल कर बोलो। अपमानका अधिकार तुम्हें नहीं है।'

'अपमान !' मन्दा खिलखिलाकर भयानक हँसी हँस पड़ी और फिर गम्भीर स्वरमें बोली : 'अपमानका यदि ध्यान होता तो आज वह दिन न आता। मेरा रास्ता तुमने साफ़ छोड़ दिया होता। प्यारके स्वांग भरती हो, मेरी बुराई करती हो। आज वह मेरी परछाईंसे भी घृणा करने लगा है। मेरा जीवन नष्ट कर रही हो फिर भी चाहती हो मैं तुम्हारा अपमान न करूँ ?'

'झूठा दोषारोपण ठीक नहीं। मैं आज पन्द्रह दिनोंसे तुम्हारे कथनानुसार ही पहाड़की तलहटीके ग्रामोंमें दवाइयाँ बाँटती फिर

रही हूँ, केवल इसलिए कि तुम्हें अपना सम्बन्ध बढ़ानेका अवकाश मिल जाय फिर भी तुम सफल न हो सकीं इसमें मेरा क्या दोष ?' लताने कहा ।

'दोष ! दोष यही है कि तुमने उसका मन अपने वशमें कर रक्खा है । तुम उससे घृणा करो ।'

'यह मैं नहीं कर सकती । प्यारके प्रत्युत्तरमें उपेक्षा और घृणा देना मेरे बसकी बात नहीं । यदि वह मुझे प्यार करेगा तो मैं उसे अवश्य प्यार करूँगी ।'

'लता !' मन्दालसा ज़ोरसे चिल्लायी । क्रोधके कारण उसका चेहरा तमतमा उठा था । हाथका छुरा एक बार काँप उठा । दूर पहाड़ोंने एक भयानक प्रतिध्वनि की । मंदा फिर कहने लगी–'स्वयं नाश होने पर मैं तुम्हारा भी नाश करके छोड़ूँगी ।'

'इसका मुझे भय नहीं । प्यारकी शिखा पर सृष्टिके प्रारम्भसे ही अत्याचार होते आये हैं । दीपककी ज्योति पर पतिंगे जलते हैं, यही ईश्वरका भी विधान है ।'

'प्यारकी दीवानी ! एक बार देख तेरे प्रेमके सुन्दर भवनके नीचे कितनी दूषित मनोवृत्तियोंका गन्दा नाला बह रहा है । तेरा प्रेम वह प्रेम नहीं है जिसका आदर्श त्याग है, जिसका अन्त बलिदान है । अपने कुटिल स्वार्थोंको सिद्ध करनेके लिए आज मनुष्य प्रेमका ढोंग रचता फिरता है ! जिस प्रेमको तू आदर्शवाद पर खींच रही है वह कुत्सित वृत्तियोंके कीचड़में है । मिथ्याको सत्य मत बना ।'

'क्या बक रही हो ?'

'सत्य कह रही हूँ। यदि प्रमाण चाहती है तो चल महाशिवके मन्दिर पर।'

एक क्षण बाद दोनों महाशिवके मन्दिर पर थीं।

'देखती है भगवान् महाशिवको ? खा शपथ कि तू अपने प्रेमके लिए हर प्रकारका बलिदान कर सकती है।' मन्दा आवेशमें बोली।

लताने एक मन्त्रकी भाँति शपथ खा ली।

और दूसरे ही क्षण उसके हाथमें छुरा देकर मन्दा बोली 'निकाल अपना हृद्‌पिंड यदि तेरा प्रेम पवित्र है, उसमें वासनाका लेश भी नहीं है। याद रख, मैं महाशिवकी शपथ लेकर प्रतिज्ञा करती हूँ कि तेरी मृत्युके बाद मैं उससे कोई सम्बन्ध न रक्खूँगी। है साहस ?'

लताके मुख-मंडल पर एक स्वर्गीय कांति छा गयी। अपने प्रेमकी पवित्रता और अमरता पर विश्वास करके उसने छुरा हाथमें कसकर पकड़ लिया। उसकी आँखोंके सामने उसके प्रियतमकी सौम्य मूर्ति थी और वह उस सुन्दरतामें विभोर हो मुसकरा रही थी। हाथका छुरा छातीमें प्रवेश करनेके लिए धीरे-धीरे बढ़ रहा था और उधर भयसे आक्रान्त हो चाँदनी काँप रही थी !

अचानक एक झटकेसे आकर किसीने लताका हाथ पकड़ लिया। वह था युवक तपस्वी वनराज। मन्दा काँप उठी। गम्भीर स्वरसे वह बोला—

'पत्थरोंके सामने रक्तसे अर्चना करना व्यर्थ है लता ! ये पाषाण अपनी ही जलन समझते हैं, दूसरेकी नहीं। अपने स्वार्थ

की तृप्तिके लिए समस्त संसारकी बलि कर सकते हैं। मानवी रूप में दानवी है यह जो तुझे मारकर स्वयं जीना चाहती है। तू सरल है। उसका छल-छद्म क्या समझेगी! चल इस नरक-कुण्डसे।' और फिर वह मन्दाकी ओर मुँह करके बोला—

'राक्षसी, अब तक यदि मैं तुझसे प्यार नहीं करता था तो घृणा भी नहीं करता था। पर आज तुझसे घृणा करता हूँ। शक्ति और छलसे प्यार नहीं ख़रीदा जा सकता। अबोध स्त्री! प्यार स्वयं बिक जाता है जिधर पवित्रता और सफ़ाई होती है।' घृणा की आँखोंसे युवकने उसकी ओर देखा और फिर लताका हाथ पकड़ कर चल दिया।

मन्दालसा स्तब्ध खड़ी थी, काठकी पुतलीकी तरह परन्तु उसकी आँखोंसे रोषकी चिनगारियाँ निकल रही थीं। सारी प्रकृति उसकी इस अवस्था पर व्यंग्यसे मुसकरा उठी थी।

× × ×

एक बारकी जली हुई प्रतिशोधकी आग फिर कभी जीवन-भर नहीं बुझती और और मूर्ख मनुष्य दूसरोंको जलानेकी आशामें स्वयं भस्म होनेमें भी नहीं हिचकता।

मन्दालसाने उस मखमली गद्दे पर एक करवट बदली और आँखोंसे वातायनकी ओर देखा। उसके वसन अस्त-व्यस्त थे, अंग-अंग शिथिल हो रहे थे। बाहर हल्की-हल्की चाँदनी एक प्यास-सी जगा रही थी। स्मृतियोंके एक झटकेने उसकी आँखोंमें ईर्ष्याकी आग भर दी। वह काँप उठी। 'निशा!' उसने बाँदीको एक धीमी आवाज दी। कुछ ख़ामोश निगाहोंसे उसकी ओर देखा फिर एक

मदभरी अँगड़ाई लेती हुई बड़े तकियेके सहारे ढुलक गयी। हिमसे श्वेत शरीरको देख अन्धकारकी भी लोलुप आँखें चमक उठी थीं।

निशाने मदिराका पात्र उसके अधरोंसे लगाया और वह उसे कंठके नीचे उतार गयी। फिर एक, दो, तीन—वह पीती गयी और कुछ क्षणों बाद अचेत-सी शय्या पर ढुलक गयी।

इसी समय राजाने डगमगाते पैर रख कमरेमें प्रवेश किया। शय्या पर पड़ी रूपकी ज्योति निरख उसकी विलासी आँखोंमें एक खुमारी छा गयी।

'मन्दालसा !' राजाने अस्फुट ध्वनिमें कहा। उसके स्वरमें एक अतृप्त प्यास छलक उठी थी। और दूसरे ही क्षण वह राजाकी बाँहों में आबद्ध थी।

'अब तो तुम मेरे पाससे कहीं नहीं जाओगी ?' राजाने प्यार के आवेशमें आकर पूछा।

'नहीं—मेरी आँखोंके सामने आज तक एक भ्रमका पर्दा पड़ा था, अब वह हट गया। मेरे राजा, मैंने तुम्हारी बहुत उपेक्षा की। अब तक मैं तुम्हें पहचान न सकी यह मेरा अभाग्य था। परन्तु अब मैं तुम्हारी हूँ, विश्वास करो, अब मैं तुम्हारी हूँ। आज मैं तुम्हारे पास हमेशाके लिए आयी हूँ। तुम्हारी सारी शर्तें मुझे मान्य हैं। विलास और ऐश्वर्यसे अब मुझे भी रुचि हो गयी है।'

राजाकी आँखें चमक उठीं !

'आजसे कुछ दिन पहले मैं तुमसे घृणा करती थी। उस दिन 'इन्द्रध्वज महोत्सव'में मेरे नृत्य पर तुमने मुझे जो उपहार दिया था उसका मूल्य उस समय मैं न आँक सकी थी। परन्तु मेरे प्रियतम !

अब मैं मानती हूँ कि वह मेरी ज़िन्दगी, मेरे प्यारकी पहली भेंट थी। जीवनके साथ-साथ आदमीका दर्शन भी बदलता जाता है। आज मैं प्रसन्न हूँ कि मैं मौतके रास्तेसे हटकर जिन्दगीके रास्ते पर आ गयी हूँ।'

मन्दालसा किसी अनजान शक्तिसे प्रेरणा पाकर यह सब कहती चली जा रही थी और राजा चुपचाप अपने वासनापूर्ण नेत्रोंसे उसके मुख-मंडलके परिवर्तित भावोंसे बँधे सौन्दर्यको एकटक देख रहा था।

कुछ क्षण बाद वह फिर बोली, 'अपराध आदमीसे ही होता है। मेरे जीवन-सर्वस्व! आशा है, तुम मुझ अबोध स्त्रीके पिछले व्यवहारको क्षमा कर दोगे। मैं आज तुम्हारी शरणमें हूँ।'

राजाने उसे कुछ और अधिक न कहने देकर उसके अधरों पर हाथ रख दिया और वह ख़ामोश हो गयी। मानो अपराध क्षमा कर देनेकी यह सबसे बड़ी स्वीकृति थी। मन्दालसाकी आँखें भर आयीं पर राजा उन्हें न देख सका।

× × ×

पाँच साल बीत गये। साँझका समय था। पानी बहुत काफ़ी बरस चुका था। लता और वनराज नीचे पहाड़ी ग्रामोंमें एक विशेष बीमारीकी दवा बाँटकर लौटते समय बुरी तरह भीग गये थे और ठंडी हवाके कारण काँप रहे थे।

लताने अपने लम्बे केशोंका पानी निचोड़ते हुए कहा—'सामनेका नाला बुरी तरह भर गया है। अब पार कैसे जा सकेंगे हम लोग!'

'ईश्वर सहायक है। शायद राजाकी ओरसे नावें लगी होंगी।'

दोनों काँपते हुए नालेके किनारे आये। वर्षाके कारण नालेका रूप नदीसे भी भयानक हो गया था और वह एक भयंकर गर्जना-कर पर्वतीय चट्टानोंसे टकरा-टकराकर बह रहा था। उस पार राजाका विशाल गगनचुम्बी महल था। आस-पासके पर्वतीय ग्राम ही नहीं अपितु दूर-दूर तकके पहाड़ी नगरतक सब उसके अधिकारमें थे। देवता-सा उसका आदर होता था। उसका नाम सुनकर दुश्मनोंके रोंगटे खड़े हो जाते थे।

तीरपर कुछ नावें बँधी थीं। वनराज और लता उसमें बैठ गये और लहरोंसे लड़कर नाव चलने लगी।

महलकी ऊपरी छतपर मन्दालसा राजाके साथ खड़ी, वर्षासे धुली हुई पहाड़ियोंका सौन्दर्य देख रही थी। आकाशके मेघ साफ़ हो चुके थे। पूर्व दिशामें इन्द्रधनुषका एक छोटा-सा टुकड़ा लहरा रहा था।

मन्दालसाने पहाड़ी पत्थरके एक सतरंगी प्यालेमें मदिरा भर राजाके अधरोंसे लगा दी। राजा मुसकरा पड़ा। मदिरा गलेसे उतार उसने मन्दालसाको हृदयसे लगा लिया। उसकी छोटी-छोटी पहाड़ी आँखें चमक उठीं।

अचानक मन्दालसाकी दृष्टि नालेकी ओर गयी। लता और वनराजको साथ-साथ नावमें देख एक बार ईर्ष्याकी आग फिर भड़क उठी। और दूसरे ही लक्षण उसने राजासे कहा—

'आज इन पाँच वर्षोंमें तुमने मेरे लिए क्या नहीं किया।

तुम्हारे आश्रयमें रहकर मैंने इस संसारका सब कुछ देख लिया। परन्तु मेरे प्रियतम, मैंने आज तक पानीमें डूबकर आदमीको मरते हुए नहीं देखा। मैं आज मौत देखना चाहती हूँ—मौत।'

इतना कह कर उसने नीचे नालेकी ओर मुसकरा कर देखा और फिर उसका उत्तर राजाकी आँखोंमें खोजने लगी।

राजा समझ गया। और दूसरे ही क्षण दो बड़ी लम्बी नावें लताकी नावकी ओर मँझधारमें तेज़ीसे बढ़ रही थीं।

लताने देखा उठती हुई भयानक लहरोंके बीच उसकी नाव बुरी तरह काँप रही है और दूसरे ही क्षण मौतसे भयंकर आवाज़में कोई कह रहा था : 'महारानी मन्दालसाकी आज्ञा है कि नाव डुबा दी जाय। मल्लाह! नावके पेंदेमें छेद होगा।'

लता काँप उठी। भयभीत हो वनराजके वक्षसे लिपट गयी। उसका मस्तिष्क शून्य हो गया था। मुख पर भय और निराशाकी हवाइयाँ उठ रही थीं। एक हल्की-सी चीख़ निकल पड़ी उसके मुखसे : 'अब क्या होगा?'

वनराज कुछ हँस कर बोला : 'डरती है तू! पगली, हम तुम साथ-साथ मर रहे हैं इससे बढ़कर और कौन सुख हो सकता है? यह मौत नहीं है लता—इसे ज़िन्दगी कहते हैं। हँस-हँस, रोती क्या है!'

और फिर दोनों ठठाकर हँस पड़े थे। नाव डूब गयी थी। दूर पहाड़से लौटी हुई उस अन्तिम हास्यकी प्रतिध्वनिने राजाके हृदय पर आघात किया।

मन्दालसाके मुख पर एक उदासी छा गयी।

'देखी तूने मौत ?' राजाने गम्भीर स्वरमें पूछा और एक बनावटी मुसकराहटसे उसने 'हाँ' का उत्तर दिया।

'कैसी थी ?'

'बहुत अच्छी, बहुत मधुर···बहुत मीठी' कहकर वह खिल-खिला कर हँस पड़ी।

एक क्षणमें राजाके मुख पर गम्भीरता छा गयी। उस हँसीमें उसे कुछ क्षणोंके अट्टहासका प्रत्युत्तर मिला। वह काँप उठा। विकृत हो उठा उसका चेहरा।

'झूठ कहती है तू !' राजाने भयंकर आवाज़में कहा—'भ्रम है तेरा, वह मौत नहीं थी। ज़िन्दगी थी।' कहते-कहते राजाकी मुखाकृति भयानक हो उठी।

एक क्षणमें उसने मन्दालसाको फूल-सा अपनी बाहोंमें उठा लिया और एक भारी आवाज़में 'मौत यह है !' कहते हुए सैकड़ों फ़ुट नीचे नालेमें फेंक दिया।

मन्दालसा ज़ोरसे चीख़ उठी। दूर पहाड़ोंने उसकी प्रतिध्वनि की। और उस ध्वनिके साथ राजाका भयंकर अट्टहास गूँज उठा। नीचे पहाड़ी नाला ज़ोरसे खिलखिला उठा और प्रकृतिके अन्दर मौतकी उदासी छा गयी।



छिलके के भीतर

बूँदा-बाँदी रात थी वह। बेहद ठंडक थी। साँझसे ही उस छोटे शहरकी सड़कें वीरान हो गयी थीं। आदमीकी बात तो दूर प्रकाश तक जैसे सहमा हुआ चारों तरफ बिखरे हुए घरोंकी दीवारोंमें बन्द था। लेकिन वह उस बाहरसे देखनेमें कुछ शानदार मगर मामूली होटलके सीलन भरे कमरेमें बैठा चाय पी रहा था, जिसकी ज़मीन आने-जाने वालोंके जूतोंके कीचड़-पानीके कारण चिप-चिप कर रही थी। दीवारें धुएँसे काली थीं और उन पर मिट्टीके तेलके लैम्पका फीका, मरा हुआ प्रकाश फैला हुआ था। सीलनकी बदबू तो चारों ओर थी ही, ऊपरसे बाहरसे आती हुई सील-सीली भारी हवाने और दम घोंट दिया था। लेकिन वह था कि 'स्पंजकी' तरह बैठा हुआ सारी नमी सोख रहा था। उसी समय पानीमें भींगा हुआ, कीचड़-सने रबड़के जूतों को फच-फच करता हुआ, एक घबराया हुआ-सा आदमी तेजीसे आकर उसके पास बैठ गया। उसकी दाढ़ी बढ़ी हुई, गाल पिचके हुए, बाल उलझे हुए, आँखें रूखी-रूखी घबरायी और परेशान थीं। उसने एक फटी हुई बरसाती अपने चारों ओर लपेट रक्खी थी, जिससे टप-टप पानी चू रहा था। उसे देखते ही वह खुशीमें भरकर चिल्ला उठा।

'ओ हो! परमू, आओ आओ दोस्त! कहाँसे आ रहे हो?'

परभूकी दृष्टि उस मरियल प्रकाशमें चमकती हुई ठाकुरकी उँगलीमें पड़ी हीरेकी अँगूठी पर जम गयी, और फिर वहाँसे जैसे बरबस निगाह हटाकर, अपने दाहिने हाथकी सूनी उँगलियोंको एक साथ चटकाकर, मरी हुई, परेशान, अचकचाती हुई आवाज़में उसने उत्तर दिया :

'ऐसे ही बाजारसे···एक···अँगूठी बेंचकर,' तनिक जीभ काटता हुआ-सा परभू बोला।

'आखिर बात क्या है ? कुछ परेशान नज़र आ रहे हो ?' अत्यन्त आत्मीय स्वरमें ठाकुरने पूछा।

धीमी पर सख्त आवाजमें, चायके प्यालेकी आड़में छिपे अंगूठी के प्रकाशको आँखोंसे टटोलते हुए परभूने उत्तर दिया। 'क्या बताऊँ, मेरा एक दोस्त है बिस्सू। उसका ज़िक्र मैंने शायद अभी तक तुमसे नहीं किया है। वह आत्महत्या करने पर उतारू है। आज शामसे ही वह बाँध पर बैठा हुआ है। मैंने लाख समझाया मगर कोई असर नहीं। मैं चाहता हूँ···'

'लेकिन बरसाती तो उतार दो, पहले बैठो तो!' ठाकुर एक तीर-सी, परीक्षक की दृष्टिसे उसकी ओर देखता हुआ बात काट कर बोल पड़ा।

'बैठना ? और इस समय ? नहीं दोस्त ठाकुर! मैं चाहता हूँ···मेरी प्रार्थना है कि तुम फ़ौरन मेरे साथ चले चलो। तुम ज़्यादा समझदार हो, ठीकसे समझा सकते हो। पहली मुलाकात होनेसे वह तुम्हारा कहना भी मानेगा। फिर एकसे दो होने पर मौक़े-

बेमौक़े शक्तिका भी प्रयोग किया जा सकता है। उसे बचाना है ठाकुर, उसे···'

लेकिन ठाकुर निश्चित बैठा चाय पीता रहा, जैसे उसके लिए वह कोई विशेष बात न हो। बड़े आरामसे चायकी चुस्कियाँ लेते हुए वह बोला :

'तुम बैठ तो जाओ, मुझे लगता है तुम भूखे हो। पहले कुछ खा लो, फिर देखा जायगा।'

'देखा जायगा!' परभू सख़्त आवाज़में चिल्लाया जो उस खामोश होटलके कमरेमें दीवारोंसे टकरा कर गूँज उठी और फिर दाँत पीसकर शब्दोंको चबा-चबा कर भयावह ढंगसे बोला :

'क्यों नहीं देखा जायगा! दूसरोंकी ज़िन्दगी किसे प्यारी होती है? ज़ालिम!' फिर आवेशमें कुर्सीको ज़ोरसे भड़भड़ाकर पीछे ढकेलते हुए, खड़े होकर, ठाकुरके कन्धेको झकझोर कर बोला :

'मैं कहता हूँ, तुम मुसीबतमें पड़े होते, तुम्हारे सर पर मौत मंडरायी होती···'

'ब्वाय!' परभूकी बात काट कर ठाकुरने ज़ोरसे आवाज़ दी :

'इनके लिए जल्दी खाना लाओ।'

'नहीं, यह नहीं होगा।' परभू चिल्लाया।

'होगा, तुम बैठो।' ठाकुरने सख़्त पर आत्मीय स्वरमें कहा।

थाली आ गयी। उसे देखकर परभू एक बार फिर चिल्लाया :

'यह क्या हिमाकत है? तुममें ज़रा भी इन्सानियत नहीं है, जानवर हो जानवर, हर समय पेट-पेट, खाना-खाना! मैं नहीं खाऊँगा। ऐसी हालतमें भी···'

'हाँ, पेटकी ज्वाला शान्त करनी पड़ती है।'

'लेकिन···'

'लेकिन क्या ? खाना शुरू करो। देर मत लगाओ।'

परभूने खाना शुरू कर दिया। ओफ़! कितना भूखा था वह, उसके खानेके ढंगसे समझा जा सकता था। कुछ कहने या सोचनेकी उसे उस समय फ़ुरसत नहीं थी। भूखे भेड़ियेकी तरह वह टूटा हुआ था।

'तुमने कब से नहीं खाया है परभू ?' उसने पूछा।

कौर गलेसे उतारते हुए एक घूँट पानी पीकर परभूने उत्तर दिया :

'ऐसे ही कोई चार दिन से।' उसकी आवाज़में कुछ जान आ गयी थी। और फिर खाने लगा।

'वह क्यों आत्महत्या कर रहा है ?' ठाकुरने पूछा।

'उसकी नौकरी छूट गयी, वह दाने-दानेको मोहताज है।' परभूने कुछ सोचकर कहा।

'नौकरीसे तो तुम भी हाथ धो बैठे हो। तुम्हारी भी स्थिति किसीसे कम बुरी नहीं है।'

'यह तो मैं ही जानता हूँ ठाकुर। कलेजा छलनी हो गया है। लेकिन क्या करूँ ? कोई रास्ता भी तो नहीं दिखायी देता।'

'कहीं और कोशिश की ?'

'सब खाक छान चुका।'

'लेकिन हिम्मत तो नहीं तोड़ी।'

'हिम्मत !' वह एक अजीब पैशाचिक हँसी हँसा। 'मैं

भिखू नहीं हूँ ठाकुर। मेरी रगोंका ख़ून पानी नहीं हो गया है।'

'ब्वाय, चपातियाँ और लाओ और एक प्लेट कीमा भी। कुछ ड्रिंक करोगे परभू ?'

परभूकी आँखें छलछला आयीं। रुंधता हुआ गला यथाशक्ति सँभल कर वह धीमी आवाज़में बस इतना ही कह पाया :

'नहीं-नहीं ठाकुर···इतना बहुत है···इतना···' कहते-कहते उसके थमे हुए आँसू ढुलक पड़े और पानीसे भीगे चेहरे पर फैल कर खो गये।

शराब, चपातियाँ, कीमा—वह बिना किसी विरोधके खाने-पीने लगा। कुछ देर बाद बोला :

'सब अमीर तुम्हारी तरह नहीं होते ठाकुर। तुम ग़रीबकी पीर समझते···लेकिन···लेकिन ठाकुर मेरा विश्वास उठता जा रहा है, दुनियाकी हर अच्छाई परसे···सब मुझे ढोंग लगता है, चालबाज़ी लगती है।'

'यह तुम्हारे अपने मनकी कमज़ोरी है,' ठाकुरने कहा।

'कमज़ोरी !' परभू होंठ काटकर चिल्लाया : 'सब नासमझ ऐसा ही कहते हैं। क्षमा करो।···अगर पतिके पास खाना न हो, वह ग़रीब हो, तो क्या उसकी औरत उसे छोड़कर भाग आये··· बोलो, बोलते क्यों नहीं ? बहस मत करना, कलेजे पर हाथ रखकर ठीक-ठीक बताना···मेरे बच्चेकी आँखें भूखे रहते-रहते नीली पड़ गयी थीं···मेरा पीला गुलाब···मुझे देखकर मुसकरा देता था···अब मेरी गोदमें नहीं आता···सच कहता हूँ ठाकुर, मेरी गोदमें नहीं आता···मुझे देखते ही अपने माँके पास उस

घरमें भाग जाता है जहाँ पैसा है···अमीरका घर···पैसेका घर ···तुम भी अमीर हो ठाकुर, तुम भी अमीर हो। तुम भी ग़रीबोंकी पीर नहीं समझते। बिस्सू मर रहा है और तुम···'

'और तुम' होटलकी दीवारोंने प्रतिध्वनि लौटा दी। उसकी आँखोंसे क्रोधकी चिनगारियाँ निकल रही थीं। वह काँप रहा था। शराबकी आखिरी घूँट गलेसे नीचे उतार कर उसने ज़ोरसे गिलास मेज़ पर पटक दिया। उसका पेट अच्छी तरह भर गया था। शराब वह काफ़ी पी गया था। थाली खिसकाते हुए वह बोला :

'लानत है इस खानेपर। कोई मर रहा है, कोई खा रहा है। मुझे नीच मत बनाओ ठाकुर। मैं नीच नहीं हूँ···चल बिस्सू को बचा। नहीं तो वह मर जायगा। मैं तेरे पैर पड़ता हूँ।''

वह इतना कहते-कहते उठ खड़ा हुआ और ठाकुरका हाथ पकड़ कर खींचने लगा।

'चलता हूँ, घबड़ाओ मत, धीरजसे काम लो।' ठाकुरने कहा।

दोनों चल पड़े। पानीकी बूँदें तेज़ थीं। परभूकी फटी बरसाती से पानी भीतर पैठ रहा था। वह भीग रहा था, काँप रहा था। बीच-बीचमें अनाप-शनाप गाने लगता था। नशेके कारण उसके पैर सीधे नहीं पड़ रहे थे। ठाकुर उसे सहारा दिये चल रहा था!

'परभू!' ठाकुरने कहा

'क्या है?'

'बाँध बहुत दूर है और कोई सवारी भी नहीं है।'

'तो फिर?'

'मरना इतना आसान नहीं होता। बिस्सू मरेगा नहीं।'

'वाह बेटा ! समझ रहा हूँ, बड़े चालाक हो !'

'नहीं तुम थके हो, चलो मेरे घर चलकर सो रहो ! बेकारका जंजाल मत ओढ़ो । इस सर्दी-पानीमें भींग कर अपनी जान देना अक्लमन्दी नहीं है ।'

'मानता हूँ तुम अक्लमन्द हो ।'

'तो फिर घर चलें ?'

'चलो । आज तेरा नमक खाया है, तेरा कहना मान लेता हूँ ।'

दोनों घर पहुँच गये । ठाकुरने दरवाज़ा खोला । सँभाल कर परभूकी बरसाती उतारी और उसे खाट पर डाल दिया । वह नशे और थकावटके कारण औंधा ही सो गया और खर्राटे भरने लगा ।

आधीरातको ठाकुर चुपचाप उठा । परभू बेहोश सो रहा था । अँगूठीके रुपये उसकी किस जेबमें हो सकते हैं ? लालटेनकी फीकी-फीकी रोशनीमें वह कुछ देर दैत्य-सा खड़ा सोचता रहा । उसकी परछाईं उसके पीछे दीवार पर खड़ी काँप रही थी । औंधे लेटे होनेके कारण परभूके कोटके भीतरकी जेब दबी हुई थी । उसने सावधानीसे उसे करवट कर दिया, जेबमें हाथ डाला । पर वहाँ रुपये नहीं थे । एक पिस्तौल थी । जिसे वह हतबुद्धि-सा निकाल कर देखने लगा । उसकी निगाह अपनी अँगुलीमें पड़ी अँगूठी पर पड़ी, जिसका हीरा चमक रहा था । एक-दूसरेकी घातमें बैठे हुए दोनों मित्रोंके छिलके उतर चुके थे और भीतरकी छिपी वास्तविकता उभर आयी थी ।



बरसात अब भी आती है

उस रात घनघोर वर्षा हुई। अड़तालीस घंटे बरसनेके बाद भी पानीका ज़ोर बढ़ता ही जा रहा था। सामनेकी नदीमें प्रतिक्षण बाढ़ आनेकी आशंका थी। चारों ओर कोहराम मचा हुआ था। नगर-की पुलिस उस मूसलाधार वर्षामें भी गश्त लगा रही थी। घने अँधेरेमें उनके टार्चोंका तेज़ प्रकाश इधर-उधर जलता-बुझता दिखाई दे रहा था। कितनी भयानक रात थी वह। यांग्त्सीके पानीकी सतह एक इंच और बढ़ जानेसे सारे नगरके डूब जानेका डर था। मिलिटरीकी गाड़ियाँ छप-छप करती हुई सड़कों पर घूम रही थीं और किनारेके मुसाफिरोंको भर-भर कर शहरके दक्षिणी हिस्सेकी ओर ले जा रही थीं जो काफ़ी ऊँचा था। उस झमाझम बरसते हुए पानीमें मिलिटरीके प्रहरियोंकी रह-रहकर गुर्रानेकी आवाज़ सुनकर रोमांच हो आता था। और चारों ओरके अँधेरे, मिलिटरीकी लारियों और पुलिसकी टार्चोंके धुँधले प्रकाशने वाता-वरणको और भयावह बना दिया था। शहरकी बिजली फ़ेल हो गयी थी। काले-काले भूतसे मकानोंकी खिड़कियोंसे जब कभी किसी हल्के प्रकाशकी झलक आकर बुझ जाती तो बहुत डर लगता। लगता कि अँधेरी श्मशान-भूमिमें इन जलते-बुझते प्रकाशोंके मध्य प्रेत क्रीड़ा कर रहे हैं। अचानक खतरेका भोंपू बजा। मनहूस और डरावनी आवाज़—जैसे किसीकी मौत पर कोई ज़ोरसे चीखकर रो पड़ा हो। कोई ज़ोरसे मेरे कमरेका दरवाजा भड़भड़ाने लगा।

मुझे बड़ा बुरा लगा। मैं समझ गया कि ये छुटे हुए व्यक्ति हैं जो अभी तक भाग नहीं पाये हैं और घबरा कर मेरा दरवाज़ा पीट रहे हैं। दो घंटेके बाद मैं किसी तरह छूट कर एक मिनटके लिए आ पाया था। ठंडके कारण मेरा अंग-अंग काँप रहा था। मैंने प्यालेमें काफ़ी उड़ेली, जिसे मैं कबका अंगीठी पर रख गया था, और जल्दी-जल्दी उसे गलेके नीचे उतारने लगा। उधर ख़तरेका भोंपू रो रहा था, इधर कोई दरवाज़ा पीट रहा था और मैं काफी का प्याला खाली कर रहा था! एक बच्चेकी घबरायी हुई आवाज़ आयी—'भाई जल्दी खोलो···।'

मैंने प्यालेसे एक घूँट खींच उसे आधा ही छोड़ झपटकर दरवाज़ा खोला। एक अठारह-उन्नीस सालकी सुन्दर लड़की जो मेरे पड़ोसमें रहती थी एक बच्चेका हाथ पकड़े सामने खड़ी थी। उसकी घबरायी हुई आँखोंकी कोरोंमें दो बड़ी-बड़ी आँसुओंकी बूँदें उलझी हुई थीं। मैंने दरवाज़ा बन्द किया और उसे साथ ले नीचे सड़क पर उतर आया। चारों तरफ़ मकान वीरान था। भोंपू रोते-रोते थककर जैसे चुप हो गया था। एक बार उसका मनहूस रोना और इन सड़कों और मकानोंका डूब जाना ही हर आगे आने वाले क्षणकी सम्भावना बन गया था। उस अँधेरेमें कहीं कुछ नहीं दिखलाई पड़ रहा था। मुझे आश्चर्य हुआ और मैं खुश भी हुआ, सामने एक मकानकी खिड़कीसे रंग-बिरंगी रोशनी आते हुए देखकर। यह एक धनी बुढ़िया फूचाका घर था। उसका घर एक ऊँचे टीले पर था, जहाँ तक बाढ़ आने पर भी पानी नहीं पहुँच सकता था। मैंने टार्च जलाया और तेज़ीसे बिना कुछ सोचे-समझे

बच्चेका हाथ पकड़कर आगे बढ़ना शुरू किया और वह लड़की मेरे पीछे-पीछे चलने लगी। मैंने पूछा : 'तुम्हारे घरके और सब लोग तो चले गये ?' उसने दौड़कर मेरी बगलमें आते हुए जवाब दिया—'हाँ, लारीमें जगह नहीं थी, नहीं तो मैं भी चली जाती।' कुछ रुककर वह फिर बोली : 'मैं नहीं डरती मुझे डर केवल इस बच्चेका है जो मेरे मालिकका है और हड़बड़ीमें छूट गया है। अगर उसकी हिफ़ाज़तका आप कोई इन्तज़ाम कर दें तो मैं निश्चिन्त हो जाऊँ।'

अचानक वह सड़कपर पड़े किसी फलके छिलकेपर ज़ोरसे फिसली। गिरने-गिरनेको हुई तभी मैंने उसे पकड़ लिया। वह फिर सँभलकर चलने लगी। उसने अपना हाथ धीरेसे छुड़ा लिया और उस आठ-दस सालके बच्चेको गोदमें उठाकर चलने लगी।

मैंने बच्चा उसकी गोदसे छीन लिया और तेज़ीसे कदम बढ़ाने लगा।

वह दबी हुई आवाज़में बोली : 'आपको बेकार तक़लीफ़ हो रही है। बाढ़ आनेवाली है, मेरे साथ-साथ आप भी फँस जायँगे। फिर आपकी ड्यूटी भी है। आप किसी तरह इसे निकालनेका बन्दोबस्त करें, मैं अपने लिए जगह ढूँढ़ लूँगी। आप लौट जाँय और अपनी लारीपर इसे भी बैठाकर ले जायँ।'

हम लोग तब तक उस बुढ़ियाके मकानपर पहुँच गये थे और सीढ़ियों द्वारा ऊपर चढ़ने लगे थे। खिड़कीके रंग-बिरंगे शीशोंसे प्रकाश छन रहा था और पियानो बजानेकी आवाज़ आ रही थी।

हमने दरवाजा भड़भड़ाया। उसने दरवाजा खोलते हुए कड़े स्वरमें पूछा—'कौन है ?'

'मैं बाँधकी ड्यूटीका सिपाही हूँ। बाँध टूटनेवाला है, अभी बाढ़ आ जायगी, आप इन बच्चोंको अपने घरमें शरण दे दीजिए···'

'मेरा घर धर्मशाला नहीं है और न मैंने ऐरे-गैरोंकी मदद करनेका ठेका ले रखा है। तुम इन्हें कहीं और ले जाओ।'

मैंने फिर प्रार्थना की—'यह एक शरीफ़ घरका लड़का है। आप इसे ही रात भरके लिए जगह दे दें, फिर मैं सुबह इसका बन्दोबस्त कर दूँगा।'

उसने कठोर होकर 'न' सूचक गरदन हिलायी और सीलिंगसे लटकते हुए शेडदार लैम्पको ज़ोरसे झुलाकर कहा : 'यह देखो !'

लैम्पके झूलनेके कारण कभी वह उजालेमें हो जाती थी और कभी अँधेरे में। कुछ क्षणों तक हम यह दृश्य देखते रहे। फिर वह कर्कश स्वरमें बोली : 'चले जाओ, तुम दोनों पति-पत्नी हो, यह तुम्हारा लड़का है···मुझसे झूठ बोलते हो। मेरे यहाँ तुम लोगोंके लिए जगह नहीं है।' और वह दरवाज़ा बन्द कर ज़ोरसे हँसने लगी और फिर पियानो बजाने लगी।

मुझे हँसी आयी। मैंने टार्चकी रोशनी उसके मुख पर डाली और वह भी हँसने लगी। मुझे कितनी अच्छी लगी वह, मैं नहीं कह सकता। मैंने किसी आवेशमें उसे अपने करीब खींच लिया और ज़ोरसे चिल्लाया—"हम-तुम पति-पत्नी हैं और यह हमारा लड़का है।" ऊपर बरसते हुए पानीकी धार और तेज़ हो गयी और

हम लोगोंके इस अचानक और अप्रत्याशित विवाह-सम्बन्ध पर ख़तरेके भोंपूने मंगल शंख बजाना शुरू कर दिया।

मैंने उसका हाथ मजबूतीसे पकड़ा, बच्चेको पीठ पर बाँधा और कहा—'जल्दी करो, बाँध अब कुछ ही मिनटोंका मेहमान है, तेज़ीसे भागने पर हमें पुलिसकी लारी मिल सकती है। मगर वह टस-से-मस न हुई और ज़ोरसे बोली—'तुम मेरे पीछे अपनी जान मत गवाँओ। तुम नहीं जानते मेरे पैरमें मोच आ गयी है और अब मैं बिल्कुल नहीं चल सकूँगी। मुझे यहीं छोड़ दो और तुम बच्चेको लेकर फौरन चले जाओ।'

मेरे पास इसके सिवा और अब कोई चारा न था। उसे भी मैं फूल-सा अपनी बाहोंमें उठाकर भाग सकता था, लेकिन मेरी हिम्मत नहीं पड़ी। मैं एक जाहिल सिपाही जो ठहरा, जो जिन्दगी भर आज्ञाके स्वरोंको छोड़कर और शायद कुछ भी ठीकसे नहीं पहचान पाता। उसकी बरसाती काफ़ी फटी थी और भीतर भींग जानेकी वजहसे वह काँप रही थी। मैंने हिचकिचाते हुए अपनी बरसाती उतारी और उस पर फेंक कर तेज़ीसे भागने लगा—इस डरसे कि कहीं वह उसे वापस ले-लेनेका हुक्म न दे दे—और कहने लगा—'देखो, भीगना नहीं, उसे ओढ़ कर बैठी रहना, सुबह मैं तुम्हें लेने आऊँगा···समझी, भीगना नहीं।' मैंने उसे कुछ भी कहनेका मौक़ा नहीं दिया और वहाँसे भागा आया; यद्यपि वह चिल्लाती रही, सम्भवतः यही कहती रही : "अपनी बरसाती ले जाओ मेरे लिए तुम मत भीगो।'

उस रात बाढ़ आ गयी। सुबह चारों ओर जल ही जल था।

सड़कें जलमग्न थीं और मकान पानीसे आधे डूबे हुए थे। न जाने कितने घरोंका अस्तित्व तक विलीन हो गया था। उस समय भी आकाश काले-काले मेघोंसे घिरा हुआ था और लगातार वर्षा हो रही थी। मैं पुलिसकी नाव लेकर उस बुढ़ियाके घर पहुँचा लेकिन मुझे वह लड़की कहीं नहीं दिखायी दी। मैंने बुढ़ियाको आवाज़ दी। उसने खिड़की खोली जिसके चारों तरफ लाल फूलोंकी एक पतली बेल झूल रही थी। उसके हाथमें चायका प्याला था और उसका पोपला मुँह इस तरह चल रहा था कि देखकर हँसी आती थी।

मैंने पूछा : 'वह लड़की कहाँ है ?'

'कौन ? तुम्हारी पत्नी ?'

'हाँ।'

उसने बड़े इतमीनानसे जवाब दिया : 'शायद डूब गयी।' और बिस्कुट मुँहमें डालकर चायकी सिप लेने लगी। मेरे पैरोंके नीचेसे धरती खिसक गयी। आवाज़ नहीं निकलती थी। मैंने हिम्मत की—'कैसे ?'

वह बोली : 'मुझे लगा जैसे मेरा कुत्ता भाग गया है; क्योंकि वह घरमें कहीं नहीं मिलता था। मैंने उसे खड्डकी तरफ खोजनेके लिए भेजा था। वह गयी तो, लेकिन लौटी नहीं।'

मैंने दाँत पीसते हुए पूछा—'आपका कुत्ता तो मिल गया ?'

उसने उत्तर दिया—'हाँ, वह ठंडके मारे मेरी रज़ाईमें घुस कर बैठा है।'

मेरी आँखें उदासीके समुद्रमें डूब गयीं। नस-नसमें एक ज़हर-सा ऐंठने लगा और मैं क्रोधसे काँपने लगा।

और वह शान्त स्वरोंमें कहती रही : "अच्छी लड़की थी। मेरे घरमें जगह नहीं थी, वरना उसे भीतर बुला लेती। बेचारी उस पेड़के नीचे बैठी रही।' फिर उसने खिड़की बन्द कर ली।

मैंने उस पेड़की तरफ़ देखा जिसने अपने नन्हें आकार और अपनी थोड़ी-सी छायासे उसे इतनी मूसलाधार वर्षासे बचाना चाहा था। परन्तु उसकी पत्तियाँ टूटी हुई पड़ी थीं और उसकी एक नंगी शाख पर मेरी बरसाती टँगी थी। बरसातीकी जेबमें चुटकियों द्वारा अच्छी तरह मसली हुई कुछ पत्तियाँ थीं। जिनका आकार-प्रकार, रूप-रस कुछ नहीं रह गया था; केवल एक सोंधी गन्ध मात्र थी उनमें—जिसे नष्ट करनेका किसमें सामर्थ्य है? मैंने उन पत्तियोंको चूम लिया और उस गन्धको सदैवके लिए अपने प्राणोंमें बसा लिया। मैं खड्डुकी तरफ़ गया। उधर ज़मीन खोखली हो गयी थी। लहरें नीचे-ही-नीचे टीलेको काटती जा रही थीं और वह ज़मीन जो कभी मज़बूत थी, अब पोपली कगार बन-बन कर भसकती जा रही थी और मैं खड़ा उस दिनकी प्रतीक्षा कर रहा था जब ये लहरें नीचे-ही-नीचे उस पूरे टीलेको काट देंगी और इसका अस्तित्व तक न रह जायगा। और आज भी मैं उसी दिनकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ।

मैं एक ग़रीब जाहिल सिपाही हूँ। आपके हुक्मकी मैंने तामील की। आप बरसातके इन बादलोंको देखकर ख़ुश हैं, मस्त हैं। मुझे भी इनसे बड़ी आशाएँ थीं। यह अभागी बरसात मेरे

लिए अब भी आती है, लेकिन मेरे मनकी क्यारियोंमें अब फूल नहीं खिलते, और न अब हरी-भरी लतरें ही झूलती हैं, मेरे प्राणों में संगीतकी एक भी लहर नहीं उठती और न मेरी आँखोंमें जवानी के सपनोंके दीप ही झिलमिलाते हैं। मेरी ड्यूटी अब भी बाँध पर पड़ती है, बरसात अब भी आती है, बाढ़ अब भी आती है लेकिन···!

भगतजी

मैं टाँगेसे उतर पड़ा। सड़क पर काफ़ी भीड़ जमा थी। रास्ता एकदम रुक गया था। कौतूहलवश एक तरफ़से भीड़में घुसकर जो मैंने देखा तो आश्चर्यका ठिकाना न रहा। एक दुबला-पतला, गोरे रंगका बूढ़ा आदमी, नंगे बदन पर केवल एक लाल अंगोछा लपेटे एक अजीब भाव-मुद्रामें खड़ा था। उसकी आँखें ऊपर आकाशकी ओर गड़ी हुई थीं जहाँ डूबते हुए सूरजका दामन पकड़े अनेकों रक्तस्नात मेघखंड जीवनहीन, सहमे-सहमे पड़े थे। वह घुटने मोड़कर इस तरहसे उन रक्तस्नात बादलोंकी ओर अपनी खून चढ़ी सुर्ख आँखोंसे घूर रहा था, मानो किसी भी क्षण वह एक छलांगमें आकाशमें पहुँच जावेगा। उसके हाथमें एक मोटा बाँसका डंडा था, जिसे वह दोनों हाथोंसे बन्दूककी तरह पकड़कर आकाश-की ओर उठाये उन बादलोंके पार छिपे विचारके किसी खूनी पंछी पर निशाना साध रहा था। अचानक वह डंडेको और ऊँचा उठा-कर चिल्लाया—

चल बे डंडे तू आसमान को
जगा बे सोते हुए इंसान को!

और फिर वह इधर-उधर उछलकर बड़ी भयानक मुद्रामें, उसी भारी आवाज़में उसे दोहराने लगा। चारों तरफ़ दर्शक मौन थे। हास्यकी उठती हुई लहर रुक गयी थी और उस पर आश्चर्य मिश्रित खामोशी का घना कोहरा छा गया था। मैं आश्चर्य कर

रहा था कि इस दो हड्डीके आदमीकी आवाज़में कैसे इतनी गरज है। अचानक वह रुक गया और भीड़ को इस प्रकार देखने लगा जैसे अब इस स्थितिका भान हुआ हो। उसने सड़क पर रक्खी अपनी पोटली उठायी और स्वाभाविक आवाज़में बोला : 'जाओ, जाओ, भीड़ कर दी कि रास्ता रुक गया।' सब लोग खिसकने लगे और वह स्वयं अपना मोटा सोंटा उठाकर समीप की गलीमें घुस गया। मुझे नहीं मालूम कि यह नाटक कितनी देरसे चल रहा था, लेकिन मेरे देखते यह एक मिनटमें ही समाप्त हो गया।

टाँगे पर बैठते ही टाँगे वाला बोला : 'भगतजी बड़े मज़ेके आदमी हैं, सरकार!' और कुछ देर रुककर घोड़ेको उसी गलीमें मोड़ते हुए फिर बोला : 'हुजूर, कुछ लोग कहते हैं यह बहुत पहुँचे हुए आदमी हैं।'

टाँगा गलीके ऊबड़-खाबड़ कंकड़ों और ईंटों पर कुछ देर खड़खड़ाता और हचकोले खाता रहा, और फिर हम लोग एक मकानके सामने थे जिसके भीतर जानेके लिए एक लोहे का फाटक था, जो खुला पड़ा था। एक हाथमें पानीसे भरी बाल्टी लिये एक जवान लड़की मुसकराती इठलाती हुई उसमेंसे निकल रही थी। समीप म्युनिसिपैलिटीके लैम्पकी लाल रोशनी उस साँझके धुँधलकेमें, रातकी प्रतीक्षामें, निरर्थक-सी फैली हुई थी। घोड़ेने गरदन लटका ली थी। टाँगे वाला पैसे गिन रहा था। किसी पुरानी सराय-सा वह उदास लोहेका फाटक खुला था, लेकिन घने धुएँके कारण भीतर कुछ नहीं दिखाई दे रहा था। सामने तमाम गन्दा कूड़ा छितराया हुआ था। उस कस्बेमें मैं पहिली बार गया था। कुछ देर बक्स

लिये खड़ा ही रह गया । अन्तमें जब फाटकमें प्रवेश करने ही लगा कि पीछेसे आवाज आयी—"ओह ओ, भगतजी, क्या है पोटली में ?" वह लड़की खिलखिलाकर कह रही थी । मैं भगतजीके उत्तरकी बिना प्रतीक्षा किये ही भीतर चला गया ।

पहले एक छोटा-सा सहन था जिसमें एक कुआँ था जह से वह पानी ले गयी थी । कुएँकी जगतके पास ही गर्मीसे झुलसी हुई पोदीनेकी क्यारियाँ थीं । दालानमें कंडा सुलग रहा था, जिसका घना धुआँ घुट रहा था । किसी तरह धुएँ को पार करके मैं दरवाज़े तक पहुँचा । आवाज़ दी—'शान्ति !'

दरवाज़ा खुला ! मुझे देखते ही वह खुशीसे भरकर चिल्लायी : 'ओह तुम आ गये !' और फिर बाहरके फैले धुएँकी ओर देख-कर बोली—'भगत जीके मारे नाकमें दम है, कितना धुआँ कर रक्खा है ! जल्दी भीतर आ जाओ ।'

मैं अन्दर चला गया । उसने दरवाज़ा पुनः बन्द कर दिया । भीतर मकान काफ़ी बड़ा, खुला और साफ़-सुथरा था । कुछ आरामकी साँस आयी । आँगनमें शान्तिके पति बैठे थे, दौड़कर लिपट गये ।

शान्ति बोली : 'चलो आ तो गये ! हम लोग सोचते थे, पता नहीं क्या बात है ! न तो चिट्ठियोंका जवाब ही देते हैं और न आते ही हैं । अरे, भूल गयी थी, मैं तुमसे बोलूँगी थोड़े ही, मेरा तुम्हारा तो झगड़ा है ।' और वह आँगनके बगलके रसोई घरमें चली गयी ।

उसकी बात अनसुनी करके मैंने उसके पतिसे पूछा : 'यह

भगतजी क्या बला है ? रास्ते-भर उनका चमत्कार देखता आया हूँ ।' वह बड़े ज़ोरसे हँसकर बोले : 'दो-एक दिन रहोगे तो अपने-आप मालूम हो जायगा ।'

शान्तिने शायद हम लोगोंकी बात पूरी नहीं सुनी । लेकिन भगतजीके नामकी भनक उसके कानों तक ज़रूर पहुँच गयी । वह वहींसे चिल्लायी :

'अरे भैया, यह सब इन्हींके कारण है । बाहर बैठकख़ानेके बगलवाली कोठरी उसे यों ही दे रक्खी है । वह ऐसे ही धुआँ-धक्कड़ शोर-गुल किया करते हैं ।'

वह ज़ोरसे बोले : 'तो निकाल क्यों नहीं देती हो ?'

वह बोली : 'मैं क्यों बुरी बनूँ ?'

'यह ख़ूब कही । जब उस बार मैं निकालने चला था तो रोक क्यों दिया था ?'

'किसीको शरण देकर फिर दुत्कार देना सबसे ज़्यादा बुरा है । पहले शरण ही न दिया होता ।'

यह प्यारी बहस शायद थोड़ी देर और चली होगी, मैं तबतक कपड़े इत्यादि उतारकर नहानेकी तैयारी करता रहा । बाहर कुएँ पर जब नहाने पहुँचा तब भगतजी पानी भर रहे थे । मुझे देखते ही अपनी सफ़ेद मूँछोंमें से बोले—"जय गुरू साहब की !" शान्ति तौलिया-साबुन पहले ही रख गयी थी और भगतजी यह जानकर कि कोई नहानेवाला है पानी भरने लगे थे । बादमें ज्ञात हुआ कि अपने सामने वे किसीको पानी नहीं भरने देते थे । भगतजीने बाल्टियाँ भरकर रख दीं और मैं नहाने लगा । वह अपनी कोठरीके

बाहर दालानमें बैठ हुक्का गुड़गुड़ाने लगे। तभी वह लड़की आयी जो फाटकपर टाँगेसे उतरते समय मिली थी। भगतजीके पास जाकर बोली :

'लाओ, लाओ, अपनी पोटली दिखाओ।' और भगतजी चिल्ला रहे थे—कुछ छीना-झपटी हो रही थी—'देखो-देखो, सब मत ले जाना।' और वह सब ले-देके चम्पत हो गयी।

भीतर जाने पर शान्तिने बताया कि भगतजी आजकल एक मिठाईकी दूकान पर काम करते हैं। चलते समय इन्हें रोज़ मिठाई मिलती है जिन्हें ये बच्चोंमें बाँट देते हैं। लोगोंका कहना है जबसे भगतजी उस दूकान पर काम करने लगे हैं, तबसे वह बढ़ती ही चली जा रही है। पहले ये खोंचा लगाया करते थे। चाट वग़ैरह बनाकर स्कूलमें ले जाया करते थे। लड़कोंकी भीड़ और शोर-गुलमें ये हिसाब भूल जाते थे। घर पर जो कुछ बच कर आता था ये मोहल्लेकी लड़कियाँ छीना-झपटी कर साफ़ कर देती थीं। लेकिन भगतजी यह सब बुरा नहीं मानते, बल्कि उन्हें अच्छा लगता है।

रातमें सोते समय तक भगतजी बाहर खटपट करते रहे। मालूम हुआ भगतजी यों ही बाहर एक बजे तक खाना बनाया-खाया करते हैं। दिनमें खाना बनानेकी फ़ुरसत नहीं मिलती, रात ही में दोनों वक़्तका बना लेते हैं। इनके सारे फ़ालतू काम रातमें होते हैं। खाना बनाना, बरतन माँजना, कपड़े धोना इत्यादि।

सुबह चार बजे ही मेरी आँखें खुल गयीं। मैं छत पर लेटा

हुआ था। आकाशमें तारे चमक रहे थे। चाँदकी रोशनी कुछ फीकी पड़ रही थी। हवामें ठण्ढक आ गयी थी। अभी चारों तरफ अँधेरा छाया हुआ था। भगतजी ज़ोर-ज़ोरसे गा रहे थे—

महलियामें बाजे ताधिर धिन्ना !

शान्तिकी भी आँख खुल गयी, झुँझला कर बोली—"रोज़ चार बजेसे ऐसे ही उल्टा-सीधा अलापने लगते हैं, नींद हराम कर देते हैं। इस आदमीकी आँखमें सनीचर है। दो बजे सोयेगा तब भी चार बजे उठ जायगा।" वह इतना बड़बड़ा कर करवट बदल फिर सो गयी। लेकिन मेरी आँखोंमें नींद नहीं थी। भगतजी एकके बाद एक कबीरके पद गाते हुए चले जा रहे थे। 'नैहरवा हमका नहिं भावे', 'हटरी छोड़ चला बनजारा,' 'जाग पियारी अबका सोवे, रैन गयी दिन काहे को खोवे', 'घूँघटका पट खोल रे तेरे पीव मिलेंगे।' सुबहके झुटपुटेकी ख़ामोश गोदमें कबीरके ये भजन कितने प्यारे लग रहे थे, मैं नहीं कह सकता। सुनते-सुनते मेरी आँखें भी झपक गयी थीं। थोड़ी देर बाद जब आँख खुली, सूरज निकलने वाला था, भगतजी वैसे ही गा रहे थे—'मोरे लगि गये बान सुरंगी हो' उनके चारों तरफ़ मुँडेरी पर बन्दर बैठे थे।

हम लोग नींदका खुमार आँखोंमें भरे हुए उतरकर नीचे आये। तब तक भगतजी सहनमें झाड़ू लगा चुके थे और फाटक परका कूड़ा इकट्ठा करके टोकरीमें भर रहे थे। ज्ञात हुआ मोहल्ले भरका कूड़ा उस फाटकपर रात भर जमा होता है और दूसरे दिन सुबह भगतजी उसे उठाकर मेहतरोंकी गाड़ीमें फेंक आते हैं। हम

लोग बैठे बदन ही तोड़ रहे थे कि भगतजी नहा-धोकर तैयार हो गये। मोहल्लेके लोग उठ-उठकर आँखोंमें नींद-भरे जम्हाई लेते आने लगे। भगतजीकी चिलम भरी-भराई तैयार थी। एक-एक कश लगाकर सब चले गये। भगतजीके ओठ हिलते-हिलते रहते थे और वे मन-ही-मन कुछ बड़बड़ाते रहते थे। बीच-बीचमें हर आगन्तुकको देखकर बोल देते थे—'जय गुरू साहब की। बैठो चिलम पियो, अमुक नहीं आया!' मुझे लगा जैसे वह चिलम हाज़िरीका रजिस्टर है, सबका आना ज़रूरी है। आधे घण्टे तक आना-जाना लगा ही रहा। मोहल्ले भरके युवक और वृद्ध हाज़िरी दे गये। आते सभी थे। कुछ तो घरकी तम्बाकूकी बचतके लिए और कुछ उस आशामें कि उनकी चिलम सफलताकी प्रतीक है—एक फूँक मार ली तो दिन अच्छा कटेगा—और कुछ अड्डेबाज़ीकी नियत से। उस आधे-एक घंटेमें ही वहाँकी बैठक तत्कालीन राजनीतिक तथा गत दिवसके झगड़ों और समाचारों पर बहस करके समाप्त हो जाती थी। भगतजी तभी बोलते थे जब कोई मामला बहुत उलझ जाता था, बहस गर्म हो जाती थी और वह भी पहेली या सूक्ति शैली में। लोग उनका मज़ाक भी उड़ाते थे और जब वे कोई बात कह देते थे तो सब अदबसे मान भी लेते थे। किसी की मज़ाकका वह बुरा नहीं मानते थे, बल्कि अपनी सफ़ेद मूँछों मेंसे मुसकरा देते थे। कभी-कभी जब कोई बहस कड़वेपनपर उतरने लगती, तब भगतजी किसी सन्तका पद ज़ोर-ज़ोरसे गाने लगते। उन्हें कबीर, दादू, पल्टू, सुन्दरदास, तुलसी, दरिया, मलूकादास, भीखा, चरनदास आदि सभी साहबोंकी वाणियाँ याद

थीं। उन्हें कितनी वाणियाँ याद हैं तीन-चार दिन रहकर भी मैं कोई थाह नहीं पा सका। उनकी इस बैठकमें मोहल्लेके चन्द बहुत ज़्यादा अंगरेज़ी पढ़े-लिखे बाबुओंको छोड़कर सभी आते थे, टाँगेवाले, ठेलेवालेसे लेकर मामूली दुकानदार, मास्टर साहब और मुख्तार साहब तक।

थोड़ी देर बाद चिलम पीकर लोग चले गये। मोहल्ले की लड़कियाँ अपनी बाल्टियाँ और गगरे लेकर आने लगीं। भगतजी उनका पानी खींचने लगे और वे मज़ाक और ठठोलियाँ करने लगीं।

एकने कहा : 'अच्छा भगतजी, कल शामको तुमने कुन्ती को सारी मिठाई दे दी, हम लोगोंके लिए कुछ भी नहीं छोड़ी!'

भगतजी ने कहा : 'आज उसको नहीं दूँगा।

कोई अगर सुस्त होती, तो उसकी सुस्तीका कारण पूछते और उदाहरणमें उस बेचारीको किसी सन्तकी वाणी सुना जाते, जिसे वह कुछ भी नहीं समझ पाती। कभी-कभी वह मौकों पर ऐसे-ऐसे पद और साखी कह जाते कि मुझे आश्चर्य होता, लेकिन लोग इसको भगतजी की आदत समझ, बेकार जान अनसुना कर देते; यद्यपि उनकी आँखोंसे लगता जैसे उनकी हर वाणी अथाह है। कभी कोई शरारत करती, तो ज़ोरसे डाँट देते : 'शादी हो जायगी तो सब भूल जाओगी!' और जब वह झेंप जाती तो खुद गाने लगते—

नैहरवा हमका न भावे
साईं की नगरी परम अति सुन्दर
जहँ कोई जाय न आवे

ऐसे ही और बहुत-से पद उनके स्टाकमें मौजूद रहते । किसी कुँआरी लड़कीको जब वह बहुत सिंगार किये हुए देखते तो उसके आगे मटक गा देते—

ऋतु फागुन नियरानी
कोई पिया से मिलावे

और फिर धीरे-धीरे अपने ही में रम जाते ।

लड़कियोंका जमघट हटा तो भगतजीने दुकान चलने की तैयारी की । सोंटा उठाया, कन्धे पर लाल अँगोछा डाला और चलनेको तैयार हो गये । तभी मैंने उनसे कहा : 'आज सुबह आपने कबीरके बहुत सुन्दर-सुन्दर पद कहे ।'

भगतजी मेरी इस प्रशंसासे ख़ुश ज़रूर हुए । परन्तु टालते हुए बोले : 'यह सब गुरू लोगोंकी कृपा है ।' और फिर मेरे बारेमें समीप बैठे शान्तिके पतिसे पूछने लगे । उन्होंने मेरे बारेमें बताते हुए मज़ाकमें यह भी कहा : 'अरे, ये सब सन्तोंकी वाणी पढ़े हुए हैं, साँवलदास भर की बाकी है ।'

भगतजी अपनेको साँवलदास कहते थे । उनकी बात सुनकर बोले : 'अरे अब क्या है ? अब तो···' कहकर उन्होंने एक ऐसा पद साँवलदासका सुनाया जिसमें उनकी दूकानकी सभी मिठाइयोंके नाम थे । पद बड़ा लम्बा था । खतम करके बोले—'यह सब मायारूपी हलवाईका खेल है, सन्तोंके समझने की चीज़ हैं ।' उनके पद सुनकर लोग साधारणतया खूब हँसते थे । मेरे न हँसनेसे वह जैसे बहुत प्रभावित हुए बोले—'आप ज्ञानी सन्त हैं, आप ही भेद समझ सकते हैं । भेद-भेद की बात है । बाहर

भीतर पानी है। कुम्भ सबसे नहीं टूटता। आप भाग्यवान हैं।' और चले गये।

दोपहर भर शान्ति और शान्तिके पति झगड़ते रहे। शान्तिके पतिका कहना था भगतजी बहुत पहुँचे हुए आदमी हैं, और शान्ति उनको पागल और सनकी मानती थीं। मैं उन दोनों की बहसमें, जिसका हल्का पड़ने लगता, उसकी तरफ़से बोलकर, केवल इतना हिस्सा ले रहा था, जिससे वह और बढ़ती रहे।

मुझे मालूम हुआ कि भगतजीने उन्नीस सौ बयालीसके आन्दोलनमें भी भाग लिया था। वे आधी रातको सूनी खामोश सड़कों और गलियोंमें पागलोंकी तरह चिल्ला-चिल्लाकर अँगरेज़ोंके खिलाफ़ भाषण देते और तुक भिड़ाभिड़ाकर पद कहते। थाने और कोतवालीके समीप अपनी धूनी रमाते, पद गाते, खुले आम अँगरेज़ अफ़सरों को गालियाँ बकते, पुलिस वाले उनकी धूनीसे बीड़ी सुलगाते, उनकी चिलम पीते और उनके पागलपनसे अपना मनोरंजन करते, जबकि भगत जी इस बहाने उनकी गतिविधि पर पूरी नज़र रखते।

आज़ादीके बादके साम्प्रदायिक दंगोंमें भगतजीने सड़कों पर नाच-नाचकर हिन्दू-मुस्लिम एकताके पद गाये। दोनों तरफ़के गुंडोंको अपनी चिलम पिलायी, उनके मनकी भड़क सुनी, उनको सूक्तिशैलीमें उपदेश दिये। एक बार भगतजी कहीं गायब हो गये। किसी मुसीबतमें पड़े मुसलमान परिवारको कहीं सुरक्षित स्थान पर पहुँचाने गये थे। हिन्दुओंने मुसलमानों पर, मुसलमानोंने हिन्दूओं पर शुबह किया। बड़ी भीषण तैयारियाँ हुईं। तभी भगतजी

सड़कों पर फूटा कनस्टर बजाकर गाते हुए प्रकट हुए : 'या जग अन्धा मैं केहि समझावों ।'

दोपहर भर उन लोगोंकी बहस चलती रही और मुझे इस प्रकार की छोटी-बड़ी बहुत-सी बातें मालूम होती रहीं। बहस ही बहसमें साँझ हो गयी। भगत जी दरवाज़े पर आ गये थे। मैं बाहर चला गया। भगतजीने एक दोना मिठाइयों का मेरे हाथ पर रक्खा और मुझे खानेको कह मेरे लिए कुएँसे पानी भरने लगे और लोटा माँजने लगे। उस समय भगतजी बहुत खामोश थे। मैंने कारण पूछा तो बोले—सूक्तिशैलीमें—

जो गुप्त सो लुप्त
जो प्रगटा सो विष्टा

थोड़ी देर बाद मैंने फिर पूछा : 'भगतजी, आपका परिवार नहीं है क्या ?'

भगतजीने चिलमका जोर का कश खींचा और धुआँ उगलते हुए बोले : 'अरे, अब न फल है, न फूल न पल्लव, सूखा ठूँठ खड़ा है। आजकलमें दुनिया जलाके ताप लेगी।' एक-एक शब्दमें जैसे दर्द ऐंठ उठा हो। मैं चुप हो गया और भगतजी शायद मनके किसी उभरे हुए दर्द-भरे भावको दबानेके लिए ज़ोर-ज़ोरसे चिल्लाकर गाने लगे : 'मन फूला-फूला फिरे जगतमें कैसा नाता रे,' और सोंटा उठा बाहर निकल गये।

चौथे दिन जब मैं चलने लगा तो भगतजी नहीं थे। वह एक दिन पहले ही से कहीं गायब थे। शान्ति बोली : 'मुझे सब मालम

है। बड़े भगत बने हैं।' लेकिन न तो उसने बताया ही और न मैंने पूछा ही।

आज मुझे वहाँसे आये तीन माह हो गये हैं। शान्तिकी चिट्ठी आयी है उसमें लिखा है : '···भगतजीके मन की मुराद पूरी हो गयी। बेचारेने बड़ी इन्तजारी की, बड़े मानते माने तब कहीं जाकर उसकी भौजाई मरी। मरते ही उसकी सारी दौलत चुपचाप हड़प करके बैठ गये। लेकिन सूम तो सूम ही। अब भी अँगोछा लगाये रहते हैं। हाय रे लालच! पता नहीं क्या करेगा इतनी दौलत? रोज़ मनाता था कब भौजाई मरे। सोनेकी टिखटी बनवायेगा और क्या? बड़े अच्छे हैं भगतजी आप लोगोंके— पूजिये उन्हें। ये तो कहिये कुन्तीसे सब मुझे मालूम हुआ, नहीं तो आपलोगोंका उनकी अच्छाईका डंका पीटना कम न होता! अब···।'

शान्तिके पतिकी चिट्ठी भी आयी है। जिसमें उन्होंने विस्तारसे बताया है कि भगतजी पीड़ित जनताकी सामूहिक हित-साधनाके कामोंमें किस प्रकार प्रकट और गुप्त रूपोंसे जुटे रहते हैं। मेरी समझमें नहीं आता कि पति-पत्नीकी इन परस्पर-विरोधी 'रिपोर्टों' में सामंजस्यका सूत्र कहाँ पर हो सकता है।

मास्टर श्यामलाल गुप्ता

मैं अभी तक यह नाम भूल नहीं पाया हूँ : मास्टर श्यामलाल गुप्ता। आजसे कुछ दिन पूर्व मैं हिसाब-किताबके एक सरकारी दफ़्तरमें काम करता था—पूरे प्रान्तका हिसाब-किताब वहाँ रहता था। पाँच बज रहे थे; दफ़्तर बन्द होनेका समय था। कुछ लोग जा चुके थे, कुछ जा रहे थे, कुछ उठनेकी नीयतसे बदन तोड़ रहे थे, कुछ काम खत्म करनेकी तेज़ीमें थे, कि अचानक शोर हुआ, कुछ विचित्र-सी हड़बड़ाहट। एक मनहूस सनसनी-सी फैल गयी, जैसा कोई अप्रत्याशित आवश्यक कार्य आ जानेसे अक्सर हुआ करता था।

'अभी-अभी, फ़ौरन भेज दो इसे, बड़े साहबने कहा है···' मेरे अफ़सर हड़बड़ाये हुए कह रहे थे। फिर काग़ज़ देकर, कुछ आश्वस्त हो, अपनी इस खासी दौड़का बदला निकालनेकी नीयत से, घोर उपेक्षा और ग्लानि भरकर, व्यंग्यका एक पैना तीर चुभोते हुए चले गये, "अरे भाई, देशसेवकोंके लिए इतना भी नहीं करोगे तुम लोग, तो क्या करोगे? आप लोगोंकी ही वजहसे आज़ादी मिली है।"

इसे सुनकर सभी लोग ठठाकर हँस पड़े।

'यह तो पूरा पागल है, मियाँ।' किसीने ज़ोरसे, लेकिन आवाज़ दबाकर कहा।

'सरकार कम्बख़्त भी तो पागलोंको पेन्शन देती है।' किसी ने तीखा रिमार्क किया।

'वह किस पागलसे कम है···।' दूसरा रिमार्क छूटा।

'क्या धज है! क्या वेश-भूषा है! कितनी सुगन्ध आ रही है!' नाकपर रुमाल लगाकर किसीने चौथा रिमार्क किया।

'चुप रहो, चुप रहो, जानते नहीं हो, देशसेवक हैं, इन्हें सब माफ़ है।' किसीने समाधान किया। मैंने आँख उठाकर देखा, लगा जैसे किसीने मेरे सम्पूर्ण व्यक्तित्वको झकझोर दिया हो। मेरी मेज़ घूम गयी। मैं नीचे धँस गया। कुतूहल, श्रद्धा, दर्द, ग्लानि, हर भावना एक साथ उभरी, और मुझे भीतर-ही-भीतर कसकर लपेट गयी। बरबस ही मुखसे निकल पड़ा: 'वह काग़ज़ आपका है?'

'जी हाँ, उसे अभी भिजवा दीजिए, मेरे सामने ही, जब तक भेजिएगा नहीं, मैं हटूँगा नहीं।' दृढ़ आवाज़, लेकिन पोपले मुँहकी, जिसमें आज दाँत नहीं थे।

'आप···?' मैंने मेज़के कुछ काग़ज़ समेटते हुए कहा, क्योंकि मेरी निगाह नीचे झुक गयी थी, चाहे उस व्यक्तिके सम्मान में कह लीजिए, चाहे इस देशके सम्मानमें, चाहे···

'जी, मैं एक 'पोलिटिकल सफ़रर' हूँ।' उतनी ही दृढ़ आवाज़। कहीं करुणा नहीं कहीं दर्द नहीं। जीमें आया, यह 'पोलिटिकल सफ़रर' शब्द मिटा दूँ। यह ग़ुलाम देशका शब्द है, आज़ाद देशका नहीं; लेकिन मैं एक अदना क्लर्क था, मेरी निगाहें नीचे झुकी थीं, और झुकी ही रह गयीं।

मेरे एक सहायकने पूछा, 'आपका शुभ नाम ?'

'मास्टर श्यामलाल गुप्ता।' एक-एक अक्षरपर पूरा ज़ोर था, जैसे अब यही शेष रह गया हो।

'श्यामलाल गुप्ता ?' सहायकने यों ही दोहराया।

'जी नहीं, मास्टर श्यामलाल गुप्ता···मैं स्वतन्त्रता-संग्रामके पूर्व मास्टर था।' दृढ़, अत्यन्त दृढ़ आवाज़।

मेरी निगाह नीचे झुकी हुई थी। राष्ट्रपिताके अपमान का मन्तव्य मेरा नहीं है, लेकिन मुझे उस क्षण ऐसा लगा, जैसे आज स्वयं राष्ट्रपिता इस वेशमें मेरे सम्मुख आकर खड़े हो गये हैं: 'पोलिटिकल सफ़रर'। वैसी ही मुखाकृति, वैसा ही पोपला मुँह, वैसी ही हल्की दृढ़ मुसकान, लेकिन आज समयकी मारसे कुछ तेजहीन-सी, कुछ विकृत-सी! वेशभूषा सड़क पर घूमते हुए पागलों जैसी, गहरा साँवला रंग, सिरपर खद्दरकी चीकट काली टोपी; घुटनों तक लम्बी बिना बाहोंकी तार-तार फटी हुई गन्दी क़मीज़; नीचे कमरमें बँधा हुआ एक गंदा मोटा अँगोछा; नंगी बेडौल, काली, फफूँद लगी, सूजी हुई टाँगें, एक पैरमें काठकी खटपटी, दूसरेमें कपड़ेका फटा हुआ जूता; बगलमें गन्दे चीथड़ोंकी तहाकर बँधी हुई एक पोटली, हाथमें मिट्टीका एक कुल्हड़।

उनका काम जल्दीसे निपटाकर, मैं उन्हें लेकर बाहर हो लिया।

'आप कहाँके रहनेवाले हैं ?' मैंने पूछा।

'···का' उन्होंने सरल भावसे उत्तर दिया।

'अच्छा, तो कब आये ?'

'आज सुबहकी गाड़ी से ।'

'महज़ इतनेसे कामके लिए आपको इतना लम्बा सफ़र करना पड़ा ?' मैंने आश्चर्यसे पूछा। 'कितनी पेनशन दी है आपको ?'

'पन्द्रह रुपये ।'

'इतना काफी होगा ?'

'हाँ, बहुत है । हम लोगोंने तो स्वतन्त्रता-संग्राममें छह-छह पैसे रोज़ पर निर्वाह किया है ।' उन्होंने गर्वपूर्वक कहा ।

'अब तक कैसे काम चलता था ?'

'ऐसे ही चल जाता था । नगरमें सभी जानते हैं, सभी काफ़ी ख़याल रखते हैं । फिर सेठजी कभी-कभी किसी होटलमें इन्तज़ाम कर देते थे ।'

'यह सेठजी कौन हैं ?' मैंने पूछा ।

'एम० पी० हैं । हमारे साथ स्वतन्त्रता-संग्राममें काम किया था । सच्चे आदमी हैं ।'

'फिर तो आपका काम बहुत पहले हो जाना चाहिए था ?'

'हाँ, उन्हींकी वजहसे तो हुआ है । प्रान्तकी सरकारसे उनको बहुत लिखा-पढ़ी करनी पड़ी ।'

'प्रान्तकी सरकारमें आप किसीको नहीं जानते ?'

'सभी जानते हैं मुझे । हमारे साथ काम किये हुए ठाकुर··· तो मिनिस्टर भी हैं । उसी ज़िले में रहते हैं ।'

'अब तक उनसे नहीं कहा था ?'

'नहीं । बेईमान आदमी है । स्वतन्त्रता प्राप्त होनेके बाद

एक बार उनसे मिला था। कोठीके सामने दो दिन लगातार बैठे रहनेके बाद उनकी सूरत दिखाई दी। कहलवाया, तो कोई उत्तर नहीं आया। मैंने भी कहा, अन्तिम निर्णय करके ही उठूँगा। दो दिन तक द्वार पर बैठा रहा; लेकिन जब दिखाई दिये, तो रास्ता रोकने पर उन्होंने पहिचाननेसे इनकार कर दिया। मैंने चौदह वर्ष साथ-साथ काम करनेका स्मरण दिलाया, तो सुनकर भी अनसुनी कर गये। मैंने उसी समय उनका नाम लेकर पूरी ताक़त से चिल्लाकर कहा, तुम बेईमान हो, तुमने असत्यका मार्ग पकड़ा है, मैं अब तुम्हारे दरवाज़ेपर कभी नहीं आऊँगा।'

यह आत्म-गौरव, यह स्वाभिमान, यह दृढ़ता और यह वेश-भूषा! लगता नहीं था कि यह आवाज़ इसी ठठरीसे निकल रही है।

'तबसे आप उनके पास कभी नहीं गये?'

'असत्यके आगे झुकनेकी शिक्षा महात्माजीने हम लोगोंको नहीं दी थी; न गया, और न जाऊँगा।' उन्होंने दृढ़ताके साथ कहा।

'आज ही सुबह आप आये, और आज ही आपका काम कैसे हो गया! हमारे दफ़्तरकी तो यह विशेषता है कि एक काग़ज़के निकलनेमें बरसों लग जाते हैं।' मैंने प्रसंगकी गम्भीरता की कड़ुवाहटको टालनेकी ग़रज़से कुछ आत्मीयताके स्वरमें पूछा।

'सो, सत्य कार्य करवानेकी क्षमता, महात्माजी की कृपासे हम लोगोंको मिली है। आते ही मैंने पता किया कि यहाँका सबसे बड़ा अफ़सर कौन है, और कहाँ बैठता है। वहाँ गया, तो चपरासीने हटा दिया। वस्त्रादिसे उसने मुझे पागल समझा।

कई बार मैंने प्रयत्न किया, उसे समझाया कि मेरा काग़ज प्रान्तकी सरकारसे यहाँ आया है, मुझे आज ही उसे पास करवाना है, और इस सिलसिलेमें मिलना है। परन्तु उसने पास नहीं फटकने दिया। कुछ देर बाद मुझसे यह अन्याय सहन नहीं हुआ। मैं बाहर से ही उनका नाम लेकर ज़ोरसे चिल्लाया, और मैंने कहा, मैं एक पोलिटिकल सफ़रर हूँ। प्रान्तके चीफ़ मिनिस्टरने मुझे सूचित किया है कि मेरा पेनशनका कागज़ आपके यहाँ आया है, मुझे दिलवा दिया जावे।' मेरी आवाज़ सुनकर वह बाहर निकल आये। फिर उन्हें मैंने बताया कि अगर आज शाम तक मेरा काग़ज़ पास नहीं हो गया, तो मैं इस द्वार पर सत्याग्रह करूँगा, और जब तक मेरा कार्य नहीं हो जायगा, अन्न नहीं ग्रहण करूँगा। उन्होंने आश्वासन दिया कि कार्य आज अवश्य ही हो जायेगा और फ़ौरन उन्होंने आपके अफ़सरको बुलाकर यह कार्य सौंप दिया। फिर बाक़ी काम उन्होंने किया।'

मेरे पास साइकिल थी, फिर भी मैं उनके साथ धीरे-धीरे पैदल सड़कके किनारे-किनारे चल रहा था। आने-जाने वाले तथा जान-पहचानके लोग मुझे एक बेढंगे आदमीके साथ इतना घुलकर बात करते देख आश्चर्य प्रकट कर रहे थे। मेरे भीतर कुतूहल उमड़ रहा था; कहीं बैठकर बात करनेकी इच्छा थी। मैंने जेबमें हाथ डाला तो एक भी पैसा नहीं था, इसलिए रिक्शे पर बैठाकर उन्हें कहीं ले जाना असम्भव था। साइकिल पर बैठा-बैठाया नहीं जा सकता था। समीप ही, लगभग एक मीलपर, एक अखबारका

दफ़्तर था, जिसमें मेरे एक मित्र एडीटर थे। जी में आया उनसे इनको मिलाऊँ ताकि देशकी कोटि-कोटि जनताके सामने यह व्यंग्य स्पष्ट हो जाय, परन्तु उस समय मैं यह भूल गया कि देशके स्वतन्त्र हो जानेके बाद भी हमारे पत्र अभी ग़ुलाम हैं।

'आप कहाँ जायेंगे ?" मैंने बात चलायी।

'स्टेशन। रातको तो कहीं शान्तिपूर्वक सोऊँगा। सुबहकी गाड़ीसे चला जाऊँगा। छत्तीस घंटे गाड़ीमें बैठे-बैठे थक गया हूँ। कार्य भी पूरा हो गया, अब आराम करना अत्यन्त आवश्यक है।'

'मैं चाहता हूँ कि मैं अपने एक पत्रकार मित्रसे आपको मिलाऊँ। शायद उन्हें आपसे कुछ लाभ हो; लेकिन हम लोग चलें कैसे ?' मैंने कहा।

'सो, इसकी चिन्ता आप न करें। हम स्वतन्त्रता-संग्रामके सैनिक हैं, इस तरहके कार्यके आदी हैं। आप मुझे निश्चित स्थान बता दें; कितने समयमें पहुँचना है, यह बता दें, फिर आप चलें। मुझे ठीक उस स्थानपर, उतने समयके भीतर, आप पायेंगे।' उन्होंने निश्चिन्त होकर कहा।

मैं कुछ संकटमें पड़ा। पर उनका अनुरोध और दृढ़ता देख मैंने स्थान बताया, और साइकिल पर बैठकर चल दिया। घूमकर देखनेकी हिम्मत नहीं पड़ी, क्योंकि वह लँगड़ाते हुए लम्बे डग भर रहे थे।

और कुछ देर बाद हम एडीटर मित्रकी बैठकमें थे। वह समयसे ठीक उस स्थान पर पहुँच गये थे। उनके लिए चाय आयी, और उनसे कुछ खानेके लिए भी अनुरोध किया गया।

उन्होंने चाय पी, और नाश्ता किया। बातचीतके दौरानमें मैंने उनसे कहा—

'आपके कपड़े बहुत गन्दे हो गये।'

'हाँ, इधर-उधर ज़मीन पर सो रहनेसे गन्दे हो ही जाते हैं।'

'कोई ऐसी जगह, जो निश्चित हो, जिसे घर कहते हैं, नहीं है क्या ?'

'हम सैनिक हैं, बहुत दिनोंसे सारे देशको ही हम अपना घर मानते रहे हैं। इसलिए अब कोई निश्चित स्थान तो नहीं है। किसी भी स्थान पर जहाँ थोड़ी शान्ति और एकान्त हुआ, हम विश्राम कर लेते हैं।'

'आपके बग़लमें यह पोटली कैसी है ?'

'ये वस्त्रखंड हैं।'

'इन्हें किसलिए रखे हुए हैं ?'

'समय पर काम आते हैं।'

'ये किस काम आ सकते हैं, ये तो बहुत छोटे-छोटे टुकड़े हैं ?'

'जहाँ विश्राम करता हूँ, उस स्थानको साफ़ करनेके काममें आते हैं, और पोटली तकियेका भी काम देती है।'

'यह कुल्हड़ क्यों लिये हुए हैं ?'

'यह जलपात्र है ! प्यास लगने पर सड़कके किनारेके नल आदिसे पानी लेकर इसीसे पीता हूँ। और किसी बर्तनके चोरी होनेका डर रहता है; यह टूट गया, खो गया, तो फिर मिल जाता है।'

'इस कुल्हड़में क्या है ?'

'छोटे-छोटे कंकड़ हैं ।'

'ये किसलिए हैं ?'

'कुत्तोंको डरानेके लिए । मुझे कुत्ते अक्सर काट लेते हैं । ये पैर अभी तक सूजे हुए हैं । इनमें काफ़ी दर्द होता है । सालमें कई महीने अस्पतालमें भरती रहना पड़ता है । सुइयाँ लगती हैं । लोग बड़ा खयाल रखते हैं । अभी अस्पतालसे छुट्टी पा कर ही तो सीधे यहाँ आया हूँ ।'

'इससे कुत्ते क्या डरते होंगे ? कोई छड़ी क्यों नहीं रखते ?'

'नहीं, इससे काम चल जाता है । काटने वाले कुत्ते तो छड़ी से भी नहीं डरते । कोई उन्हें मारना तो है नहीं, हमें तो अपना बचाव करना है—वह तो अपना कर्म करते हैं । पहले कुछ दिन छड़ी रखी थी । छोटे-छोटे लड़के छीना-झपटी करते थे, उठा ले जाते थे, फिर छोड़ दी ।'

'कुल्हड़में, यह कपड़ेमें बँधा हुआ क्या है ?'

'रामदाना है । दाँत तो हैं नहीं, कोई कड़ी चीज़ खा नहीं पाता । जब घरसे चला था, तो निश्चय किया था कि कार्य समाप्त होने पर ही इसे ग्रहण करूँगा । इसलिए इसे रख लिया था ।'

'तो पिछले छत्तीस घंटोंसे आपने कुछ नहीं खाया है ?'

'हाँ, अड़तालीस घंटोंसे । कैसे खा सकता था ? अन्न तो कार्य समाप्त होनेके बाद ही ग्रहण करनेका निश्चय किया था ।'

'आश्चर्य है ! कष्ट नहीं होता ?'

'कष्ट ! हम स्वतन्त्रता-संग्रामके सैनिक हैं । हम सबके आदी

हैं—सोलह दफ़े भूख-हड़ताल कर चुके हैं, अट्ठाईस दफ़े जेल जा चुके हैं।'

'यह एक पैरमें खटपटी, एक पैरमें जूता क्यों है ?'

'यों तो, इसकी भी कोई ज़रूरत नहीं थी। पर इधर पैर में कुछ घाव हो गये हैं। नंगे पैर चला नहीं जाता, इसलिए पहन लिया है। काम चलानेसे मतलब। अगर राष्ट्रके निर्माणमें कोई योग नहीं दे सकता, तो राष्ट्रकी ऐसी छोटी-मोटी बचत करके ही संतोष करता हूँ।'

सत्य पर अटल रहना, असत्यका विरोध करना, अहिंसाके साँचेमें सम्पूर्ण व्यक्तित्वको ढाल लेना, उन्हें भी स्नेह और सहानुभूति देना जो पग-पग पर शत्रुता निभाते हों, कमसे कममें जीवन का निर्वाह करना, राष्ट्रीय बचतकी चिन्ता करना, कर्मठता, दृढ़ता, आत्म-गौरव, संयमका पालन करना—राष्ट्रपिताके इन महान् विचारोंको जिसने अपने व्यक्तित्वमें ढाल लिया हो, वह पागल कहाँ है ? कैसे है ? और यदि नहीं है, तो इस दर्शनकी चरम परिणति क्या यही है ? सिर घूम गया। लगा, जैसे इस व्यक्तित्वका विश्लेषण इस दर्शनकी पृष्ठभूमिमें करना असंगत है, कष्टदायक है।

'मैं चाहता हूँ, आप अपने कपड़े बदल दें। संकटके समय खद्दरके अतिरिक्त भी कुछ आप ग्रहण कर सकते हैं।' मेरे मित्रने जो सिर थाम कर बैठे हुए थे, द्रवित हो कर पूछा।

'नहीं, इस शरीर पर खद्दरके अतिरिक्त अब और कुछ नहीं धारण करना है।' उन्होंने दृढ़तापूर्वक कहा।

'ठीक है। देखता हूँ—शायद आपके उपयोग लायक खद्दर के वस्त्र भी मिल जायें।'

'देख लीजिए। वैसे गन्दे तो वे हो जाएँगे। साफ़ मैं कर कर नहीं पाता। पानीमें तनिक-सा भी भीगने पर बदन सूज जाता है। इसलिए नहा भी नहीं पाता।''

व्यथा मैं समझ गया। तर्क सीधा था। फिर भी मेरे मित्रने उन्हें कपड़े दिये, और उन्होंने स्वीकार कर लिये। फिर एक गहरी ख़ामोशी छा गयी। इन सूत्रोंमें क्या-क्या नहीं निकल आता? क्या कुछ ऐसा रह गया जो अब भी पूछना है? दर्द, केवल दर्द मुझमें उमड़ पड़ा था। दृढ़ता, मात्र दृढ़ता उन ठठरियोंमें थी। अन्धकार घना होने लगा था। मेरे मित्र आफ़िसके लिए उठना चाहते थे। मैं सोचने लगा, कल यह हज़ारों ख़बरें देंगे, पर उनमें यह ख़बर नहीं होगी। कोई विशेष बात जो नहीं हुई—हज़ारों, लाखों ऐसे व्यक्ति हैं, रहेंगे। ये टूटी तलवारें हैं, जिन्हें युद्धके बाद सँजो कर रखनेकी ज़रूरत नहीं होती, उनकी उपयोगिता समाप्त हो चुकी है, क्योंकि युद्ध जीता जा चुका है।

चलते समय उन्होंने एक अख़बार माँगा।

'क्या करेंगे इसका?' मैंने पूछा।

'कुछ समाचार देखेंगे, और बादमें बिछाकर सोनेके भी काम आयेगा!'

मैं चुप रहा। मित्र चुप रहे। वह चले गये। स्टेशनके किस कोनेमें, कैसे पड़े होंगे वह, यह विचार बार-बार उस रात उठता रहा।

कुछ ही दिनों बाद मेरे एक मित्र मिले। उन्होंने वीर-काव्य पर शोध-कार्य किया था, डाक्टरेटकी उपाधि पायी थी, उसी नगर के निवासी थे। पूछने पर उन्होंने कहा : 'मुझे नहीं मालूम, हो सकता है—मैं शहरमें आता-जाता नहीं।' मैंने पता दिया, अगली बार आते समय उनका समाचार लानेके लिए उनसे वादा कराया। लेकिन वह भूल गये।

और मैं अभी तक यह नाम नहीं भूल पाया हूँ—मास्टर श्यामलाल गुप्त। इसमें कहीं कुछ मेरा ही दोष है, यद्यपि मैं म्यूज़ियमका क्यूरेटर नहीं हूँ, जिसे संग्रहालयके लिए टूटी तलवारों की ज़रूरत होती है।



पुलिया वाला आदमी

पार्कके पिछले हिस्सेमें, जहाँ तक पहुँचते-पहुँचते उसकी आधुनिकता, मानव-निर्मित सुषमा—कटाव-छँटाव, क्यारियाँ, घासके लान, पालतू पेड़-पौधे-बाड़े सब समाप्त हो जाते हैं—एक पुलिया पर बैठे हुए उसे मैं आठ सालसे बराबर देखता आ रहा था, पर वास्तवमें उसकी ओर मेरा ध्यान उस दिन गया जब मेरे ही कारण उसकी निर्विकल्प समाधि टूटी।

सर्दियोंके दिन थे। मैं अपनी शामकी नियमित सैरके लिए निकला था। साथमें मेरे एक मित्र थे जिनमें जिज्ञासु भाव मुझसे अधिक है। पुलिया पर पहुँचते ही उन्होंने मुझसे पूछा—'यह कौन है?'

मैंने कहा—'मालूम नहीं, कोई महात्मा ही होंगे। पिछले आठ सालसे मैं इन्हें यहीं बैठा हुआ देखता हूँ।'

'तुमने कभी इससे कुछ पूछ-ताछ नहीं की? आख़िर क्यों यह पार्कमें इस तरह पड़ा रहता है? क्या चाहता है? उसे क्या दुख है···।'

मैंने बात काटते हुए कहा—'नहीं, मैं अपनी राह जाता हूँ, इधर-उधर टकराता नहीं। अपना ही दुख-दर्द ढोना कठिन है।'

फिर हम लोग नदीके किनारेकी ओर बढ़ गये।

यों उसके बारेमें मैंने मन ही मन काफ़ी अटकल न लगायी

हो ऐसा नहीं था। शुरू-शुरूमें बहुत दिनों तक मैं उसे बँगलोंका बावर्ची-खानसामा, नौकर वग़ैरह ही समझता रहा। फिर सोचा, शायद सी० आई० डी० का आदमी हो। लेकिन इससे भी उसके इस बेकारके स्थानमें बैठे रहनेका औचित्य सिद्ध होता नहीं जान पड़ा। आस-पास बेतरतीब उगे हुए करील, नीम, आम और पीपलके पेड़, नीचे बरसाती नाला, पास ही एक पुरानी इमारत—बहुत पुरानी, जर्जर दीवारें, तीन दरों वाला इतना बड़ा दालान कि उसमें खड़े होने पर उसकी विशालता झाँय-झाँय करने लगे, एक गहन शून्यताका बोध हो और एक अजीब बासीपन, मनहूसियत और सीली-सीली-सी बदबू उस एकान्तको और भी बोझल बना दे—ऐसी सुनसान जगहमें सी० आई० डी० का क्या काम? दालानकी कार्नीसों पर मोखोंमें बेशुमार कबूतर रहते थे, जिनके पंखोंकी फड़फड़ाहट और गुटरगूँ नित्य सुबह-शाम उस एकान्त पर मर्सिया पढ़ती।

एक बार सोचा, वह पागल होगा। लेकिन वहाँ बैठे रहनेकी नियमितताके अतिरिक्त और पागलपन नज़र नहीं आया। और यदि यह नियमितता ही पागलपन है तो नियमित रूपसे मेरा घूमना भी तो पागलपन हुआ! फिर सोचा, भिखारी होगा—लेकिन कभी किसीके सामने हाथ फैलाते मैंने उसे नहीं देखा। मैं उस रास्ते से गुज़रते हुए नित्य उसकी ओर एक नज़र डाल लेता। कभी वह भी मेरी ओर देखता, कभी देखकर भी अनदेखा कर देता; और अक्सर तो ध्यान ही नहीं देता। एक बार भी उसने मुझसे कुछ माँगा नहीं। फिर वह भिखारी कैसे हुआ? उसके बारेमें इतने

सब अनुमानोंके बावजूद, इन आठ वर्षोंमें मैंने उससे कुछ पूछा नहीं, उसके जीवनक्रममें कोई व्याघात नहीं डाला; उसे देखा, केवल देखा, और देखनेका इतना अभ्यस्त हो गया मानो उसे भी पार्कके सारे जड़ दृश्यका अंग बना दिया। यदि किसी दिन वह न दिखाई देता तभी शायद उसके बारेमें कुछ सोचनेकी अकुलाहट मुझमें जागती; उसकी उपस्थिति तो उस सारे दृश्यकी अभ्यस्त गतिहीनताका ऐसा अभिन्न अंग थी जिसे देखकर भी मैं भूला रहता था।

वह अपंग या लूला-लँगड़ा भी नहीं—छरहरे बदनका दुबला-पतला, हाथ-पैर, आँख-नाक-कानसे दुरुस्त आदमी। उम्र कोई पैंतीस-चालीसके बीच, रंग साँवला, क्लीन शेव, बाल अँगरेज़ी ढंगके कटे हुए। मैली-फटी पतलून पर गर्मियोंमें बनियाइन और जाड़ोंमें पुरानी खाकी ऊनी जरसी, यही उसकी पोशाक। पुलिया पर वह टाट या कम्बल बिछाकर बैठता—वही उसका बिस्तर था। सिर-हाने एक पोटली रहती, एक टीनका डिब्बा, कभी-कभी बीनी हुई सूखी लकड़ियोंका गट्ठर, बीड़ीका पैकेट, दियासलाई, चार बालिश्त का एक थैला। ये सब बातें मैंने इतनी सूक्ष्मतासे मनके किसी पन्ने पर दर्ज कर रक्खी थीं, यह मैं स्वयं नहीं जानता था, पर मित्र के साथ घूमते समय ये सारे चित्र एक-एक कर मेरे मनके आगे घूम गये।

लौटते समय मित्रसे नहीं रहा गया। पुलिया तक पहुँचते-पहुँचते ठिठक गये। उससे बोले—

'कहो भाई, तुम्हें सालोंसे यहाँ बैठे देखता हूँ...'

'हाँ साहब, सन् उनचासमें मैं यहाँ आया।'

'आखिर क्या बात है? हम तुम्हारी कोई मदद कर सकते हैं तो बताओ?'

'बस ठीक है, कहीं तो दिन काटने हैं।'

'कोई नौकरी वगैरह चाहिए?'

'नहीं साहब, नौकरी वग़ैरह बहुत की।'

'आख़िर इस तरह बैठे-बैठे कैसे काम चलेगा? दो रोटीकी तो फ़िक्र करनी ही चाहिए।'

'वह फ़िक्र भी बहुत की साहब। अब तो यहीं बैठा रहता हूँ। जब तक ज़िन्दगी है चलता जा रहा है, चलता जायगा। रोटी भी मिल ही जाती है।'

'कहाँसे मिल जाती है?'

'बँगलोंके नौकर कभी-कबाह दे जाते हैं। नहीं हुआ तो साग-पात उखाड़ लाता हूँ। यह भी नहीं मिलता तो कोई कबूतर ही मार लाता हूँ। पेटको कुछ न कुछ मिल ही जाता है।'

'लेकिन ऐसे कैसे चलेगा? ऐसे तो बड़ी तक़लीफ़ होती होगी।'

'तकलीफ़ तो हर हालतमें है साहब। ऐसे पेटको तकलीफ़ होती है, हाथ-पैर आराम पाते हैं; वैसे हाथ-पैरको तकलीफ़ होती है पेट आराम पाता है।' जवाब इतना दो-टूक था कि मित्र कुछ स्तब्ध रह गये। उसके चेहरेसे लगता था कि उसे यह बातचीत बेकार लग रही है। मानो हम लोग बच्चों-सी बातें कर रहे हों। उसका जवाब देनेका ढंग भी ऐसा ही था कि आप बेहयाईसे

पूछते जायें तो पूछते जायें लेकिन उसकी ओरसे कोई प्रोत्साहन नहीं, कोई लिपटाव नहीं।

'रातमें भी यहीं सोते हैं ?'

'नहीं, रातमें, पार्कमें जो दरवाज़ा है उसमें सोता हूँ।'

'दरवाज़ेमें भीतर जगह है ?'

'हाँ साहब, काफ़ी बन्द जगह है। सर्दीसे बचत हो जाती है।

'सामान ?'

'सामान, बस यही है। टाट बिछाता हूँ, कम्बल ओढ़ लेता हूँ। बहुत ज़्यादा सर्दी हुई तो कुछ लकड़ी वग़ैरह सुलगा लेता हूँ।'

'यह जो पुरानी इमारत है इसमें क्यों नहीं सोते ?'

'यह मस्जिद ? यह बहुत गन्दी पड़ी रहती है साहब ! जब मैं यहाँ आया था एक बूढ़ा इसमें रहता था। झाड़ू वग़ैरह लगाता था, रोज़ दिया भी जलाता था। फिर वह बीमार पड़ा। उसे कुछ लोग आये उठा ले गये। फिर वह नहीं दिखाई दिया। शायद मर-वर गया होगा। तबसे इसमें झाड़ू भी नहीं लगती।'

और वह, झाड़ू लगाकर उसे साफ़ रखनेका काम कैसे कर सकता है ! उसके सोनेके लिए फाटक ही काफ़ी है। उस समय वह बैठा हुआ एक बड़ा-सा आलू छील रहा था।

'इसका क्या करोगे ?

'सब्ज़ी बनाऊँगा।'

'किसमें ?'

'इसी टीनके डब्बेमें।'

'तेल-घी, मिर्च-मसाला वग़ैरह ?'

'नहीं साहब, चायके लिए पानी खौलाऊँगा। उसमें ही डाल दूँगा। चाय भी बन जायगी, आलू भी उबल जायगा। नमक और रोटी सामने झोपड़ीमें जो अन्धा रहता है, दे गया है, काम चल जायगा।'

'अन्धा हमेशा तुम्हें रोटी देता है?'

'नहीं, कभी-कभी जब उसे ज़्यादा मिल जाती है दे देता है। कभी-कभी बीड़ीके लिए एक आने पैसे भी दे देता है।'

मुझे लगा इस आदमीमें स्वाभिमान बिल्कुल नहीं है। भिखारियोंसे भीख लेता है। पहली बार यह भी लगा कि भिखारी भी भीख देता है स्वेच्छासे। जो सदा माँगता है वह कभी-कभी देनेका सुख भी जानना चाहता है, इससे उसके प्रताड़ित अहं की तृप्ति होती है। वह बोला—

'पहले इन अन्धोंके साथ एक लूला भी रहता था, अकेला था। उससे रोज़ दो आने बँधे थे। चाय-बीड़ीका खर्च निकल जाता था।'

'तुम खुद क्यों नहीं भीख माँगते?'

मैं तो पुलियाके नीचे भी नहीं उतरता। एक बार किसी बँगलेका साहब यहाँ आया। अपनी मेमके साथ, मोटरसे। मिठाई, रोटियाँ, फल सब लाया था। अन्धे-लूलेको बुलाकर दिया। उसकी मेम मुझसे बोली—तुम भी आकर ले जाओ। मैंने कहा—आपको देना हो यहीं दे जाइये। मैं पुलियासे उतरकर नहीं गया।'

'अगर ऐसा ही है तो किसी चलते रास्ते पर बैठो?'

'वहाँ लोग भीड़ लगाते हैं। मुझे गुस्सा आ जाता है। मैं तमाशा नहीं बनना चाहता। फिर, साहब, पेट तो जंगलमें भी पड़े रहो भर जाता है। थोड़ा पेटको तकलीफ़ होती है, हाथ-पैर दिल-दिमाग़ सब शान्तिसे रहता है।'

मैं सोचने लगा, लेकिन यह शान्ति किस काम की? किस उपलब्धिके लिए? प्राचीन ऋषि शान्ति चाहते थे, लेकिन आध्यात्मिक उन्नतिके लिए···। उसने शायद मेरे मनकी बात समझ ली। अपने-आप बोला—

'दिल-दिमाग़ शान्त रहता है उससे भी सुख मिलता है, पेटके आरामके सुखसे ज़्यादा ही।'

'तुमने ज़्यादा से ज़्यादा कितने दिन नहीं खाया है?'

'याद नहीं। छः-छः दिन तो अक्सर नहीं खाता हूँ। मुझे भूख लगती है तो सो जाता हूँ।'

मित्रके मुखपर कुछ सहानुभूतिकी रेखाएँ उभरीं। मैंने जेबसे सिगरेट निकाली; उसे देते हुए कहा—'लो पियो'। उसने सिगरेट रख ली। कहा—'रातमें पिऊँगा।' मित्रने जेबसे चवन्नी निकाली और उसके सामने रखदी। उसने पतलूनकी जेबमें डाल लिया। मित्र काफ़ी द्रवित हो चुके थे; बोले—'तुम्हें यदि दस-पाँच रुपये दिये जायें तो छोटा-मोटा खोंचा वग़ैरह लगाओगे?'

'नहीं साहब! पहले तो जो दस-पाँच रुपये देगा वह भी कुछ चाहेगा।···हरद्वारमें मैं केले बेचता था। कुछ बन्दर उठा ले जाते थे, कुछ सिपाहियोंको देना पड़ता था। सुबहसे रात तक खटता

था तब पेट चलता था। हर खरीदने वालेसे तक़रार होती थी। सभी यह समझते थे जैसे मैं कहींसे मुफ़्त उठाकर लाया हूँ।'

'फिर कोई नौकरी ही करलो ?'

'नौकरी पचासों की साहब। जो नौकर रखता है वह धौंस जमाता है। मुझसे झगड़ा हो जाता। होटलमें-रेस्ट्राँमें कहाँ नहीं की। सब जगह छोड़ना पड़ा। पेटके लिए इज्ज़त नहीं बेची जाती, धौंस नहीं सही जाती। कहाँ कहाँ झगड़ूँ। सब जगहसे हटना पड़ता है।'

'सरकारी नौकरी करोगे ?'

'उसमें तो और पाबन्दी है और ख़ुशामद भी करनी पड़ती है। अफ़सरोंके हाथ-पैर जोड़ने पड़ते हैं, ख़ुश रखना पड़ता है। मैं किसीको ख़ुश नहीं रख पाता।'

कुछ देर बाद अपने आप बोला—

'पहले मैं मिलिटरीमें था। वहाँ भी धाँधली है, आदमीको जानवर समझते हैं। उसे भी छोड़ना पड़ा। फिर खोंचा लगाया, केले बेचे, सब्जी बेची। आये दिन चालान हो जाता था। आधी कमाई पुलिसवालोंको ख़ुश करनेमें चली जाती थी। जिसे ख़ुश न करो वह दुश्मनी निकालता था। फिर इतनी तबीयत ऊबी कि सोचा संन्यास ले लूँ। यह सर-वर मुड़ाके, साहब, स्वामी सदानन्दका चेला हुआ। महीनों उन्होंने पैर धुआये, हाथ जुड़वाये, मालिश करायीं, तेल लगवाया, कपड़े फिंचवाये, सत्तर नाच नचाये, फिर कहीं चेला बनाया। वहाँकी गन्दगी, जाल-साजी क्या-क्या नहीं देखा। डाँट-डपट, झूठा रोब। ओफ़, क्या बताऊँ आपको। वह सब

भी पेट ही के लिए। जिसे गुरु कहा, उसके ख़िलाफ़ क्या कहूँ ? इतना मन उचटा कि हरद्वार छोड़कर यहाँ दिल्ली चला आया। यहाँ आवारागर्दीमें पुलिस बीसियों बार दफ़ा एक सौ नौ में हवालात ले गयी। आखिर घर-द्वार तो था नहीं, पार्कमें ही पड़ा रहना पड़ता था। मैंने भी कहा, तुम अपना काम करो मैं अपना काम करूँगा। अब पुलिस कुछ नहीं बोलती, जानती है यह बेढंगा आदमी है। मुझसे कुछ मिलनेकी भी उम्मीद नहीं।'

उसकी बातें सुनकर मैं थोड़ा अप्रतिभ हो गया। बातें जब शुरू हुई थीं तब अनुमान हुआ था वह आलसी और काहिल है, स्वाभिमान-हीन। फिर विचार बदल गया। क्योंकि यह परिणति स्वाभिमानके ही कारण हुई और वह भी हर संघर्षके बाद।

मित्रने उससे कुछ और बातचीत की, पर मेरा ध्यान उधर से हट गया था। मैं इस मूलभूत समस्या पर ही अटक गया था। रास्ते भर मित्र उसे मज़ेदार आदमी कहकर सराहते रहे और मैं सोचता रहा, आख़िर यह सब क्यों ? इसमें किसका दोष है ?

मेरा घूमने जाना नियमित रूपसे चलता रहा। पुलिया वाला आदमी अब मेरे लिए जड़ दृश्यका एक अंग भर नहीं रहा था, उसे मैं नित्य ध्यानसे देखता। पहले मैंने उसे अपना परिचय जताना चाहा था पर उसने जैसे पहचाना ही नहीं। दो-एक बार उसे बड़ा सुस्त और मुरझाया हुआ देखकर मैं उसके लिए घरसे रोटियाँ ले गया। चाय, बीड़ी वग़ैरह भी समय-समय पर ले जाकर देता रहा, कभी दो-एक आने पैसे हुए तो वह भी दे दिये। पर

इस सबके बावजूद मुझे गुज़रता देख पहचाननेसे इन्कार करता। मुझे देखकर कृतज्ञताकी मुसकान भी उसके ओठों पर न आती, न उसकी आँखोंमें उत्कंठा या प्रतीक्षाकी कोई झलक ही दीखती। पर जब भी मैं कुछ देता वह चुपचाप निर्विकार भावसे ले लेता, फिर दूसरे ही क्षण देनेवालेको भूल जाता। उसका इस प्रकार अकृतज्ञ होकर मेरी सहानुभूति स्वीकार करना मुझे बुरा लगता, अपमानजनक लगता, उस पर मुझे क्रोध आता! पर मैं सब पी लेता, क्योंकि आख़िर उसने स्वयं तो कभी कुछ माँगा नहीं। मैं स्वेच्छासे उसे कुछ देता हूँ, फिर अपने दानका प्रतिदान चाहता हूँ; वह मुझे उससे नहीं मिलता, इतना ही न? रंच-मात्र भी कृतज्ञता मेरे प्रति उसमें नहीं है, पर मेरा कृतज्ञताका दावा क्या है? धीरे-धीरे मैंने उसे कुछ देना बन्द कर दिया। क्योंकि उसे देकर बादमें यही लगता कि उसके सामने मैं ही झुका हूँ और छोटा हुआ हूँ, मेरे अहंको उसके निर्विकल्प भावसे ठेस लगती क्योंकि मैं दाता होकर भी अपनेको लेनेवालेसे बड़ा न समझ पाता।

फिर बहुत दिनों तक मैंने उसे कुछ भी नहीं दिया। उसकी ओर आँख उठाकर देखा तक नहीं। यद्यपि उसके प्रति कुतूहल तो बना ही रहता। दो-एक महीने बाद जब कड़ाकेकी सर्दी पड़ने लगी थी, एक दिन जाते-जाते मैंने कनखियोंसे देखा⋯वह खाली एक बनियाइन और घुटन्ना पहने सर्दीमें काँपता गुड़ी-मुड़ी बैठा था। कम्बल, टाट, झोला, सब कुछ ग़ायब था। उसकी छोटी-सी गृहस्थी उजड़ गयी थी। मुझसे नहीं रहा गया। मैंने पूछा—

'कम्बल, कपड़े, सब कहाँ चले गये?'

'चोरी हो गये।'

'चोरी हो गये ? कैसे ?'

'एक लँगड़ा इधर आकर रहने लगा था। पार्ककी नुक्कड़पर बैठता था, भीख माँगता था। मेरे दो आने रोज़ बाँध दिये थे। मेरे पास अक्सर आकर बैठता था। दो एक दिन हुए, उसे बिस्तरा, कपड़े वग़ैरह सब सौंप नदीकी तरफ़ निपटने-नहाने चला गया। लौटकर आया तो वह सब ले-देके चम्पत हो गया था।

तुमने उसकी खोज नहीं की ? आखिर वह लँगड़ा था, तुम्हारे दोनों पैर हैं, भागकर जाता कहाँ !''

'क्या फ़ायदा ? जब उसकी नियत ही ख़राब हो गयी ?'

'फिर, तुम्हें पाजामा, कमीज़ और कुछ ओढ़नेको दूँ ?

'आपकी मर्ज़ी। पजामा नहीं, पतलून हो तो ले सकता हूँ।'

उसकी इस बात पर बहुत क्रोध आया। फ़ैशनमें कमी नहीं होगी—पतलून चाहिए आपको ! शायद उसने मेरे मनकी बात भाँप ली। बोला—

'पतलूनका कपड़ा ज़रा मोटा होता है, इसलिए कुछ चल जाता है। रोज़ नहाता हूँ, कपड़े भिगोकर निचोड़ता हूँ। पाजामा इसमें जल्दी फट जाता है; बस और कोई बात नहीं है।'

'अच्छी बात है दो-एक कमीज़-पतलून कल ले आऊँगा।'

'दो-एक नहीं, साहब ! एक कमीज़, एक पतलून। ज़्यादा आप दे देंगे तो रक्खूँगा कहाँ। उनकी रखवालीकी और चिन्ता बढ़ जायगी। मुझे तो सालमें दो बार कपड़े चाहिए। एक कमीज़-पतलून चैतमें और एक कमीज़-पतलून यही कार्तिक तक।'

'ओढ़नेको कोई फटा-पुराना कम्बल लाऊँ?'

'नहीं साहब, अब कम्बल नहीं ओढ़ूँगा, कई बार चोरी चले गये। कागज़ भरकर टाटका ओढ़ना सीलूँगा, कुछ पुराने अख़बार और टाटके टुकड़े वग़ैरह हों तो ज़रूर दे दीजिएगा।'

'अच्छी बात है, कल ले आऊँगा,' कहकर मैं चला आया।

दूसरे दिन मैं जान-बूझकर खाली हाथ गया। सोचा, आज तो वह मुझे पहचानेगा, तकाज़ा न करेगा तो उत्कण्ठा तो दिखायेगा। लेकिन उसने मुझे देखकर भी अनदेखा कर दिया। मैं कई बार उसके सामनेसे आया-गया पर उसने मुझे जैसे पहचाना ही नहीं, तक़ाज़ा तो दूर रहा। चुपचाप सर्दीमें काँपता बैठा रहा। यह उन दिनोंकी बात है जब अख़बारोंमें सर्दीकी लहरकी खबरें निकल रही थीं और निमोनियासे मरनेवालोंकी संख्या बढ़ती जा रही थी। मैं लौट तो आया, पर उसके व्यवहारसे मुझे बड़ी आत्म-ग्लानि हुई। सोचने लगा, यदि यह कल मर जायेगा तो इसका दोष मेरे इस अहंकार को होगा कि बिना मोहताजपनका अनुभव कराये मैं उसे कुछ दूँगा नहीं। मेरे मनने मुझे इतना धिक्कारा कि मुझे रात घरसे दुबारा आकर उसे कपड़े देने पड़े।

दुबारा घरसे जाने-आनेमें कुछ देर हो गयी। वह पुलिया पर नहीं था। मैं दरवाज़ेमें गया। वहाँ वह कुछ थोड़ी-सी सूखी टहनियाँ सुलगा एक कोनेसे सटा हुआ बैठा था। धुआँ उठ रहा था। हल्की लाल रोशनीमें उसकी निस्तेज कठोर मुखाकृति दिखाई दे रही थी। उसने मुझे देखा, लेकिन बोला कुछ नहीं। मैं भी चुपचाप खड़ा उसे देखता रहा। धुएँकी कालिमामें लिपटी

हुई उस फीकी लाल कौंधमें वह निर्जीव पत्थरकी प्रतिमा-सा बैठा था। 'मैं तुम्हारे लिये कपड़े लाया हूँ'—कई बार मैंने यह कहना चाहा, पर जाने कैसी हिचक थी जो मेरी ज़बान जकड़ जाती थी और मैं चाह कर भी नहीं कह पा रहा था। मैं अपनेको पराजित अनुभव कर रहा था क्योंकि उसे सूखी लकड़ीकी उन टहनियोंका मुझ इनसानसे ज्यादा भरोसा था।

काफ़ी देर तक खड़ा रहनेपर भी जो कहना चाहता था नहीं कह पाया—उसने मेरी उपस्थिति स्वीकार नहीं की। जी में तो आया कि मैं कपड़े दिये बिना ही उलटे-पाँव लौट जाऊँ। लेकिन यह क्या दुगुनी हार न होगी? मैंने फिर पूरा ज़ोर लगा कर यह कहनेकी चेष्टा की कि मैं कपड़े लेकर आया हूँ। पर मेरी ज़बानसे निकला केवल प्रश्न : 'तुम्हारा नाम क्या है?'

'राधेश्याम।' जैसे पत्थर बोल उठा।

'सुस्त क्यों हो?'

'सुस्त नहीं हूँ। मेरा बाप मर गया।'

'तुम गये नहीं उसकी मिट्टी में?'

'नहीं।'

'क्यों?

इस प्रश्नका उत्तर देनेकी मानो उसने कोई ज़रूरत नहीं समझी। आगकी उस हलकी पीली रोशनीमें मैंने देखा, उसके चेहरे पर ग्लानि नहीं थी, एक विचित्र-सी दृढ़ता थी।

'कहाँ था वह?'

'यहाँ नहीं था।'

'ये कपड़े रक्खे हैं, ले लेना।' मैंने उपेक्षासे उसकी ओर कपड़े फेंक दिये और चला आया।

दूसरे दिन मैंने देखा, वह मेरे दिये हुए कपड़े पहने बैठा है। लेकिन मुझे पहचाना उसने तब भी नहीं। सहसा वह पुलिया वाला रास्ता, वह एकान्त सब मेरे लिये असह्य हो आया। मुझे लगा जैसे वह सब मुझे घोंटकर दबा रहा है और मैं सिकुड़कर छोटा होता जा रहा हूँ जबकि पुलियावाला आदमी ज्यों-का-ज्यों बैठा है। मेरी सैरकी शान्ति नष्ट हो गयी और जाड़ोंकी वह साँझ सहसा बड़ी गर्म हो आयी। मैं तेज़ीसे मुड़ा और लौट आया।

घूमने मैं अब भी नियमित रूपसे जाता हूँ, लेकिन उस रास्ते नहीं। मुझे मालूम है कि वह अब भी उसी पुलियापर वैसा ही बैठा रहता है। कभी मौसम खराब होता है तो मुझे एक अजब-सी तकलीफ़ होने लगती है जिसे मैं ठीक ठीक पहचान लेना नहीं चाहता।



सीमाएँ

घरमें प्रवेश करते ही गुसलखानेसे एक बारीक 'म्याऊँ' की आवाज़ आयी। काले रंगका एक छोटा-सा बिल्लीका बच्चा, गर्दन टेढ़ी किये पीली-पीली गोल आँखोंसे मेरी ओर देख रहा था। 'म्याऊँ'—उसका मुख खुला और चावलसे उसके सफ़ेद दाँत चमक उठे। मैंने पुचकारा, वह म्याऊँ-म्याऊँ करता मेरे पास आ गया।

—'क्यों जी, तुम बिना इजाज़त घरमें कैसे चले आये? क्षमा माँगो।' मैंने कहा।

वह बिल्कुल मेरे पैरोंके पास आ गया और मुँह उठाकर मुझे देखने लगा।

'तुम मुझसे डरते नहीं? तुम्हारी जातिके जीव तो मुझे देखते ही भाग जाते हैं। तुम इतने निडर क्यों हो?' उसने मेरे पैरों पर मुँह रख दिया और अपनी नन्हीं-सी जीभसे मेरा जूता चाटने लगा।

'अच्छा खैर, कोई बात नहीं, तुम्हारा ही घर है। जाओ, उधर बालू पर पपीतेकी छाँहमें बैठो।'

लेकिन वह उधर नहीं गया। मेरे पीछे-पीछे कमरेमें आने लगा। एक पुचकारसे तुम मुझे इतना आत्मीय समझने लगे हो! मैं हँसा।

'नहीं, यहाँ कमरेमें नहीं—तुम कमरा गन्दा करोगे ।'

वह नहीं माना । मैंने उसे पैर पटक कर डराया । वह ठिठक कर पीछे हटा और मेरी ओर देखने लगा । 'म्याऊँ' उसने फिर कहा । सिर्फ म्याऊँ कहा, या और कुछ कहा ?

'ओह ! तुम भूखे हो ? खाना माँगते हो ? रुको, मैं लाता हूँ ।'

मैं जल्दीसे रसोई-घरमें गया । दूधदानीमें बचा नीचेका थोड़ा-सा दूध एक दियेमें डाला । दिया भरा नहीं तो मैंने उसमें पानी मिलाया । फिर लबालब भरा हुआ दिया मैंने उसके सामने रख दिया । वह टूट पड़ा और सपर-सपर करके सब पी गया । पीकर मेरी ओर फिर देखने लगा ।

'इसमें कृतज्ञताकी कोई बात नहीं । अब तुम जाओ, बाहर खेलो ।'

लेकिन वह मेरे साथ कमरेमें घुस आया । मेरे पीछे-पीछे उसे आते देख मेरी पत्नीने कहा—

'यह कहाँसे आ गया ? भगाइये इसे, बिल्लीके बच्चे मनहूस होते हैं ।'

'यह भागता ही नहीं । शरीफ़ लगता है ।'

मैंने पुचकार कर दिखाया, प्रत्युत्तरमें उसने म्याऊँ की ।

'है तो शरीफ़ ! सिखाया हुआ लगता है—किसीका पालतू होगा ।' पत्नी बोलीं ।

मतलब यह कि इसे स्नेह करना, कृतज्ञ होना आदमीने ही सिखाया होगा ।

मैंने उसे कई दफ़े पैर पटक-पटक कर भगाया। अन्ततः जब उसने समझ लिया कि मैं भगाने पर तुल गया हूँ, ऐसे नहीं मानूँगा; तो वह मेरी आँखके सामनेसे हट गया।

कई घण्टे बाद मैं कमरेसे बाहर निकला। मेरे पैरोंकी आवाज़ सुनते ही उसने आवाज़ दी—'म्याऊँ ?' वह आँगनमें खड़ी चारपाइयोंके बीच घुसा बैठा था।

'तुम अभी गये नहीं ? खैर यहाँ बैठे रहो, मैं अनुमति देता हूँ। लेकिन कमरेमें मत घुसना।'

थोड़ी देर बाद जब मैं वापस आया तो मेरी पत्नी बुरी तरह नाराज़ थीं। मुझे देखते ही बिगड़ीं।

'मैंने आपसे कहा था इस मनहूसको परचाइये नहीं। देखिए इसने स्वेटरकी इतनी ऊन ही काट दी।' सलाइयों पर चढ़ा हुआ स्वेटर वह उधेड़ रही थी ताकि कटा हुआ हिस्सा निकल जाय।

'कहाँ है बदमाश ?' मैंने पूछा।

'खाटके या सन्दूकके नीचे कहीं छिपा होगा।'

'चल इधर, कहाँ है तू। कमरेमें क्यों आया ?' मैंने डाँटकर कहा। फिर झुक-झुककर चारों तरफ़ खूब अच्छी तरह देखा। वह कहीं दिखाई नहीं दिया।

'यहाँ तो नहीं है।'

'है यहीं; छिपा बैठा होगा।'

केवल यह जाननेके लिए वह है या नहीं मैंने फिर पुचकारा। सन्दूकके पीछेसे आवाज़ आयी—'म्याऊँ।' मैं पुचकारता रहा, वह बाहर निकल आया।

'तुमसे यहाँ बैठनेको किसने कहा ? एक तो चोरीसे तुम कमरेमें घुस आये, ऊपरसे तुमने शरारत की। भागो।'

मैंने एक संटी उठायी। वह भागता नज़र आया।

लेकिन शाम तक वह ऊधम मचाता रहा। कभी छत पर, कभी छज्जे पर, लकड़ियोंमें, चारपाइयोंके बीच, कहीं न कहीं दिखाई देता। एक जगहसे भगाये जाने पर दूसरी जगह छिप जाता। उसकी उपस्थिति पकड़ी इसलिए जाती कि आते-जाते मेरे पैरोंकी आहट सुनकर वह 'म्याऊँ' कर देता।

'यह कहीं और भूखा तो नहीं है ?' मैंने पत्नीसे कहा।

'नहीं, अब इसे कुछ नहीं मिलेगा।'

रातमें अच्छी तरह आश्वस्त होकर कि वह कमरेमें नहीं है, दरवाज़े बन्द करके हम लोग सोये।

सुबह पत्नीकी आवाज़से मेरी नींद खुली।

'देखिए इसने बेबीकी नयी कीमती ऊनी फ़्राक काट डाली। अभी एक बार भी यह धुली नहीं थी—सत्यानास करके रख दी।'

मैंने तुरत अपना कर्तव्य निश्चित किया। हाथ पर तौलिया लपेटी, थैला लिया, और स्नेहसे पुचकारते हुए घरके कोने-कोनेमें घूमने लगा।

वह आँगनमें खड़ी चारपाइयोंके बीचमें था। पुचकार सुनकर उछलकर चारपाईकी पट्टीपर चढ़ आया और म्याऊँ-म्याऊँ करने लगा। पास आते ही मैंने उसे दबोच लिया और थैलेमें डाल लिया। थैलेका मुँह अच्छी तरहसे बन्द करके मैं उसे लेकर घरसे बाहर निकला।

वह थैलेके भीतर म्याऊँ म्याऊँ किये जा रहा था और मैं तेज़ीसे चलता जा रहा था।

'अब क्या होता है ?···हर बातकी सीमा होती है।'

'म्याऊँ ?'

हर बातकी सीमा। स्नेहकी भी और कृतज्ञताकी भी— विश्वासकी भी ? म्याऊँ ?

घरसे कई फर्लांग दूर रेलवे लाइन पहुँचकर मैं रेलवे लाइनके किनारे-किनारे बस्तीसे दूर निकल गया। नालेके पार ले जाकर मैंने थैलेका मुँह खोला और उसे छोड़ दिया।

थैलेसे बाहर गिरते ही वह मेरी ओर उन्मुख होकर बोला— 'म्याऊँ।'

लेकिन मैंने उसकी ओर नहीं देखा। देखनेको कुछ नहीं था, बिल्लीका बच्चा ही तो था आखिर। किसीका पालतू या इनसानसे परचा हुआ था तो भी क्या ?

और उसकी 'म्याऊँ ?' म्याऊँका भी कोई जवाब होता है भला ?



काठकी घण्टियाँ

[कविताएँ]

जब कलम उठाता हूँ

जब कलम उठाता हूँ—
कोरे काग़ज़ पर
लम्बी चोंच वाली एक चिड़िया
बैठी पाता हूँ।

चोंच वह खोलती नहीं,
फुदकती-बोलती नहीं,
हिलती है न झुलती,
चुपचाप घुलती है।
बताती न नाम है,
करती न काम है,
फिर भी सुबह को
बना देती शाम है।

यों ही—बस यों ही—
दिन डूब जाता है
मन ऊब जाता है
रात घिर आती है
बात फिर जाती है।

शुक्रिया ।
ओ प्रकाश !
शुक्रिया
ओ कलम-थमें हाथ की परछाईं ।
शुक्रिया
ओ प्यारी
    हत्यारी
    चिड़िया
शुक्रिया ! शुक्रिया !
तुम सब को
मेरा प्रणाम है ।

ये तो परछाईं है

ये तो परछाईं है
परछाईं है
परछाईं है !

यह नहीं बोलेगी,
तू इस को बुलाता है क्या ?
कुछ सुनेगी नहीं यह
दर्द सुनाता है क्या ?
राह पर जब तक उजाला है चली जायेगी,
पर अँधेरे में नहीं हाथ तेरे आयेगी,
फिर तो अपनी ही निगाहों से मिला
अपनी निगाह,
पार करनी पड़ेगी तुझ को यह
अँधियारी राह ।

बोलना चाहता है, अपनी ही पगध्वनि से बोल,
दर्द की गाँठ तू अपने ही छालों पर खोल,
अपनी उखड़ी हुई साँसों पे ही रूमाल हिला,
अपने थकते हुए कदमों से ही तू हाथ मिला,

राह तेरी तभी कटेगी
अभागे इनसान,
एक बुझते दिये से
दूसरा जला अरमान,
कोई उम्मीद न कर राह की तस्वीरों से,
ये तो परछाईं है
परछाईं है
परछाईं है ।

यह नहीं बोलेगी, तू इस को बुलाता है क्या ?
कुछ सुनेगी नहीं यह, दर्द सुनाता है क्या ?
आगे चलना है तुझे, अपने सहारे पर चल,
इस का तू हाथ पकड़, राह पर जाता है क्या ?
ये तो परछाईं है
परछाईं है
परछाईं है ।

मैंने आवाज़ दी है···

मैंने आवाज़ दी है कोई अभी आयेगा,
लाश को मेरी वही खींच के ले जायेगा।
ज़िन्दगी-भर किसी ने सुनी अनसुनी कर दी,
मौत के बाद भी क्या सुनने को ही रह जायेगा।

रास्ते पर पड़ा हूँ इस का मत बुरा मानो,
जिस का हो घर यही वह और कहाँ जायेगा,
इतनी अन्धी नहीं है दुनिया कि टकरा जाये,
जो भी आयेगा बग़ल से ही कतर जायेगा,
देखना चाहता हूँ आने-जाने वालों को—
दर्द इन आखिरी घड़ियों का कम हो जायेगा,
घंटियाँ क़ाफ़िलों की सुनना चाहता हूँ मैं—
ख़्वाब मंज़िल का मेरे सामने आ जायेगा।

× × ×

छाँह की मुझ को ज़रूरत नहीं है रहने दो—
इस बची राख को अब कोई क्या जलायेगा!
चूस डाली हो ज़माने ने रोशनी जिस की
वह बुझा दीप उजाले में कौन लायेगा!

दूर के वे चिराग़ चाहो बुझा सकते हो—
एक अँधियारा है अँधियारे में मिल जायेगा।

मैंने आवाज़ दी है कोई अभी आयेगा
दीप सिरहाने वही मेरे जला जायेगा।
'ओ अँधेरे का क़फ़न ओढ़ के जाने वाले,
रोशनी देख ले' यह गीत वही गायेगा।

× × ×

फूल मुझ पर चढ़ेंगे ? हाय रे ! क्या नादानी !
धूल पर धूल ही तो आदमी चढ़ायेगा,
मेरी पूजा ? तुम्हें भगवान् का भी डर न रहा ?
आरती कोई गुनाहों की क्या सजायेगा ?
ख़ाक कह दो कि ज़माने से लुटाये मुझ पर,
मोहरें मुझ पे लुटाकर कोई क्या पायेगा ?
घोंट दो—मेरी आवाज़ों का गला घोंट दो तुम—
शोर वरना तेरे नक्कारों का दब जायेगा।

मैंने आवाज़ दी है कोई अभी आयेगा
मेरी फ़रियाद ज़माने को वह सुनायेगा।
'नफ़रतों का कफ़न, ओ ओढ़ के जाने वाले,
अब मेरा प्यार ले' यह गीत वही गायेगा।

× × ×

और दो-चार घड़ी थोड़ी इन्तज़ारी करो,
जाके चौराहे पे देखो तो कोई आया न हो,
बोझ उस का कहीं भारी न हो, भरमाया न हो—
यह नया मोड़ देखके कहीं घबराया न हो,
जाने वह कौन है जो मुझ से कहा करता है—
ख़ुदग़रज़ इतना ज़माना नहीं हो जायेगा,
लाश सिरहाने किसी की बिना क़फ़न हो पड़ी,
ओढ़ के मख़मली चादर नहीं सो पायेगा।

मैंने आवाज़ दी है कोई अभी आयेगा
लाश को मेरी वही खींच के ले जायेगा।
जिन्दगी भर किसी ने सुनी अनसुनी कर दी
मौत के बाद भी क्या सुनके ही रह जायेगा।

× × ×

यदि नहीं आता कोई इस में कौन बस मेरा—
व्यर्थ ही मेरा न सिर खाओ ओ पथ-रखवारो,
मेरी आवाज़ अभी लौट के आती होगी,
देखो घबराओ मत, ओ राह के ठेकेदारो,
बाँह उस की पकड़ के फिर क़दम बढ़ाऊँगा—
रास्ता तेरा साफ़ छोड़ के मैं जाऊँगा।

यह साँझ

मेरी परछाईं तक
यह साँझ निगल जायेगी—
दूर पश्चिम में,
ढलते हुए सूरज के करीब,
आज यह जल रहा है किस का गुलाबी आँचल?
आँख में खून के आँसू भरे पहाड़ी यह
देखती है उसे, बेहोश-सी, अपलक—एकटक,
पेड़-पौधे—सभी मुर्दों से भी ज़्यादा खामोश,
हैं खड़े खून से लथपथ यहाँ वीराने में,
एक पत्ते में भी जुम्बिश का है सामर्थ नहीं,
जिन्दगी चूस ली किसने यहाँ अनजाने में,
ऐसी खामोशी,
पथरायी हुई खामोशी
आज चारों तरफ़ से छायी है इस घाटी में—
अपने कदमों की आहट से भी डर लगता है,
राह आगे की धड़क जाती है इस छाती में,
फिर भी मैं चलता हूँ—मजबूरियाँ गति में साधे,
अपनी मंज़िल का धुआँ अपनी नज़र में बाँधे,

किस से उम्मीद करूँ ? कौन-सी उम्मीद करूँ ?
एक भी दीप नहीं, जो कि टिमटिमा जाये—
देख कर जिस को, बुझती हुई इन आँखों में
रोशनी दूर अगर है तो पास आ जाये,
किस से उम्मीद करूँ ? कौन-सी उम्मीद करूँ ?
दूर पूरब की

उदासी-भरी हरियाली में,
पोंछता आ रहा सिन्दूर कौन राहों का,
और खामोश खड़ी पेड़ों की तसवीरों पर
डालता जा रहा काला कफ़न गुनाहों का—
हर तरफ़ जैसे जवानी पर अँधेरा छाया
प्यार है पेड़ों की झुरमुट में आज पथराया
घूँट रस की समझ पी ले जो मेरी कमज़ोरी,
ऐसा कोई भी यहाँ पर न अभी तक आया,
राह आगे की

बहुत बाकी है बिखरी-बिखरी,
कहती है, दोनों तरफ़ पेड़ों की यह काली लकीर
थरथरा कर, अगर गिर जाओ भी तुम ऐसे में,
कौन ऐसा है उठे जिस के हृदय में कुछ पीर ?
चाह मेरी

नहीं कुछ और, इन कदमों की कसम,
सिर्फ़ हर ओर का बिखरा हुआ यह सूनापन,

सिकुड़ कर, ठोस-सा हो पास मेरे आ जाता,
बाँध पाता, जिसे मैं बाँह में अपनी कस कर
और सो पाता उन जाँघों पर अपना सिर घर
ज्योति बुझती हुई आँखों की उन आँखों में डाल,
कहता—'यह मौत का क्षण जिन्दगी-भर से सुन्दर !'

अँधेरे का मुसाफ़िर

यह सिमटती साँझ, यह वीरान जंगल का सिरा,
यह बिखरती रात, यह चारों तरफ़ सहमी धरा;
उस पहाड़ी पर पहुँच कर रोशनी पथरा गयी,
आख़िरी आवाज़ पंखों की किसी के आ गयी,
रुक गयीं अब तो अचानक लहर की अँगड़ाइयाँ,
ताल के खामोश जल पर सो गयीं परछाइयाँ।
दूर पेड़ों की क़तारें एक ही में मिल गयीं,
एक धब्बा रह गया, जैसे ज़मीनें हिल गयीं,
आसमाँ तक टूट कर जैसे धरा पर गिर गया,
बस धुएँ के बादलों से सामने पथ घिर गया,
यह अँधेरे की पिटारी, रास्ता यह साँप-सा,
खोलने वाला अनाड़ी मन रहा है काँप-सा।
लड़खड़ाने लग गया मैं, डगमगाने लग गया,
देहरी का दीप तेरा याद आने लग गया;
थाम ले कोई किरन की बाँह मुझ को थाम ले,
नाम ले कोई कहीं से रोशनी का नाम ले,
कोई कह दे, 'दूर देखो टिमटिमाया दीप एक,
ओ अँधेरे के मुसाफ़िर उस के आगे घुटने टेक'!

अजनबी देश है यह

अजनबी देश है यह, जी यहाँ घबराता है—
कोई आता है यहाँ पर न कोई जाता है;
जागिए तो यहाँ मिलती नहीं आहट कोई,
नींद में जैसे कोई लौट-लौट जाता है;
होश अपने का भी रहता नहीं मुझे जिस वक्त
द्वार मेरा कोई उस वक्त खटखटाता है;
शोर उठता है कहीं दूर क़ाफ़िलों का - सा,
कोई सहमी हुई आवाज़ में बुलाता है—
देखिए तो वही बहकी हुई हवाएँ हैं,
फिर वही रात है, फिर-फिर वही सन्नाटा है।

यह भी क्या रात

यह भी क्या रात कहीं प्यार का अफ़साना नहीं,
यों ही जलता है दीप एक भी परवाना नहीं,
एक तस्वीर-सा यह सारा का सारा आलम
इस तरह देखता है गोया कि पहचाना नहीं।

बोल उठते हैं जवानी के चटखते छिलके
बोल उठती है यह साँसों की गरम पुरवाई,
'क्या बिना प्यार के यह रात नहीं कटती है,
क्या बिना प्यार के आदम की ज़ात घटती है ?'
तभी दीवार पर कुछ ऊँघती सोयी-सोयी
मेरी उस काली बड़ी धुँधली-सी परछाईं ने
एक अँगड़ाई ली और जैसे मुँह बिचका के कहा—
'मैं तो यह जानती थी मैं तेरी परछाईं हूँ।'
आज मालूम हुआ तू मेरी परछाईं है।'
और कमरे की रोशनी से लिपट, सो-सी गयी।

मुर्दे की आँख-सी पथरायी हुई ख़ामोशी
मेरे चारों तरफ़ फिर बहुत देर छायी रही,
कोई आवाज़ कहीं से भी न आयी कमबख़्त

दिल की धड़कन भी चार पसली में भरमायी रही,
तभी कोने में धरी घड़ी की टिक-टिक ने कहा—
'तेरी धड़कन से कहीं कीमती है यह आवाज़,
उस में बेचैनी नहीं, प्यार का संगीत नहीं,
वह नहीं कहती है चारों तरफ़ घबरा कर—
तू कहाँ बैठा है, आवाज़ यहाँ देती हूँ,
मैं तो हर आते हुए लमहे की अगवानी में
अपना यह छोटा-सा नक्कारा बजा लेती हूँ।'

और तब कोई कहीं मुझ में यह दोहराता है—
'सच, बिना प्यार के यह रात नहीं कटती है,'
और तब कोई कहीं मुझ में यह कह जाता है,—
'सच, बिना प्यार के आदम की ज़ात घटती है।'

यह भी क्या रात···

सुहागिन का गीत

यह डूबी-डूबी साँझ
उदासी का आलम ;
मैं बहुत अनमनी
चले नहीं जाना बालम ।

ड्योढ़ी पर पहले दीप जलाने दो मुझ को,
तुलसी जी की आरती सजाने दो मुझ को,
मन्दिर में घण्टे, शंख और घड़ियाल बजे
पूजा की साँझ सँझौती गाने दो मुझ को,
उगने तो दो पहले उत्तर में ध्रुव तारा,
पथ के पीपल पर कर आने दो उजियारा,
पगडंडी पर जल, फूल-दीप धर आने दो,
चरणामृत जा कर ठाकुर जी का लाने दो,
यह डूबी-डूबी साँझ उदासी का आलम,
मैं बहुत अनमनी चले नहीं जाना बालम ।

यह काली-काली रात
बेबसी का आलम,

मैं डरी-डरी-सी
चले नहीं जाना बालम।
बेले की पहले ये कलियाँ खिल जाने दो,
कल का उत्तर पहले इनसे मिल जाने दो,
तुम क्या जानो यह किन प्रश्नों की गाँठ पड़ी ?
रजनीगन्धा से ज्वार सुरभि की आने दो,
इस नीम-ओट से ऊपर उठने दो चन्दा
घर के आँगन में तनिक रोशनी आने दो,
कर लेने दो तुम मुझ को बन्द कपाट ज़रा
कमरे के दीपक को पहले सो जाने दो,
यह काली-काली रात बेबसी का आलम,
मैं डरी-डरी सी चले नहीं जाना बालम।

यह ठंडी-ठंडी रात
उनीदा-सा आलम,
मैं नींद-भरी-सी
चले नहीं जाना बालम।

चुप रहो ज़रा सपना पूरा हो जाने दो,
घर की मैना को ज़रा प्रभाती गाने दो,
ख़ामोश धरा-आकाश, दिशाएँ सोयी हैं,
तुम क्या जानो क्या सोच रात भर रोयी हैं ?
ये फूल सेज के चरणों पर धर देने दो,

मुझ को आँचल में हरसिंगार भर लेने दो,
मिटने दो आँखों के आगे का अँधियारा,
पथ पर पूरा-पूरा प्रकाश हो लेने दो।
यह ठंडी-ठंडी रात उनींदा-सा आलम,
मैं नींद-भरी-सी चले नहीं जाना बालम।

उत्तर

काग़ज़ के सफ़ेद कोरे
पृष्ठों-सा खुला रहा यह जीवन—
मैं उस पर, बस धुएँ की
परछाईं बन, कुछ छन, लहराया,
दोष भला इस में क्या मेरा ?
तेरी नज़रों का क़सूर है
तूने मिला-मिला उन रेखाओं को
जो हो चित्र बनाया ।

आग बुझ गयी,
परछाईं के संग मिट गयीं सब रेखाएँ,
फिर भी यदि तेरी आँखों में
पिछली आकृतियाँ मँडरायें,
दोष भला इस में क्या मेरा ?
तेरे सपनों का क़सूर है
तूने इन में रंग भरा है
तूने इन को गाया ।

कागज़ उतना ही कोरा है,
कागज़ उतना ही सफ़ेद है,
मेरी परछाईं से तुमने
तब-अब में कर लिया भेद है,
उस ज्वाला से पूछो
जिस ने मुझ को जन्म दिया था,
उस प्रकाश से पूछो
जिस में यह अस्तित्व जिया था,
भला चाँदनी को करती
कब क़ैद झँझरियों की परछाईं,
फिर कैसे कहती हो
मैंने यह अपराध किया था ?

मत मुझ पर आँखें भर लाओ
मत अपना काजल फैलाओ
हाय, कहो मत तुमने
मेरे सँग रह यह दुख पाया ।

विवशता

कितना चौड़ा पाट नदी का, कितनी भारी शाम,
कितने खोये-खोये से हम कितना तट निष्काम,
कितनी बहकी - बहकी - सी दूरागत - बंशी - टेर,
कितनी टूटी - टूटी - सी नभ पर विहगी की फेर,
कितनी सहमी-सहमी-सी क्षिति की सुरमई पिपासा,
कितनी सिमटी-सिमटी-सी जल पर तट-तरु-अभिलाषा,
कितनी चुप-चुप गयी रोशनी छिप-छिप आयी रात,
कितनी सिहर-सिहर कर अधरों से फूटी दो बात,
चार नयन मुस्काये, खोये, भींगे, फिर पथराये—
कितनी बड़ी विवशता जीवन की कितनी कह पाये

रात-भर

रात-भर
हवा चलती रही,
मन मेरा
स्मृति के कब्ज़े 'पर
कसे हुए खिड़की के पल्ले-सा
खुलता, बन्द होता रहा,
छड़ और दीवार के बीच
सिर पटकता, रोता रहा।

खूँटी पर लटका
एक चित्र हिलता रहा,
सेज पर कोई
चादर तान सोता रहा।

माँ की याद

चींटियाँ अण्डे उठा कर जा रही हैं,
और चिड़ियाँ नीड़ को चारा दबाये,
थान पर बछड़ा रँभाने लग गया है,
टकटकी सूने विजन पथ पर लगाये,
थाम आँचल, थका बालक रो उठा है,
है खड़ी माँ शीश का गट्ठर गिराये,
बाँह दो चुमकारती-सी बढ़ रही हैं,
साँझ से कह दो बुझे दीपक जलाये।

शोर डैनों में छिपाने के लिए अब,
शोर, माँ की गोद जाने के लिए अब,
शोर घर-घर नींद रानी के लिए अब,
शोर परियों की कहानी के लिए अब।

एक मैं ही हूँ—कि मेरी साँझ चुप है,
एक मेरे दीप में ही बल नहीं है,
एक मेरी खाट का विस्तार नम-सा
क्योंकि मेरे शीश पर आँचल नहीं है।

बीसवीं शताब्दी के एक कवि की समाधि पर

इस आम-तले
है सेज सफ़ेद गुलाबों की,
चाँदनी खड़ी है
नींद-भरी जो
उस केले के झुरमुट में,
प्रिय, अभी यहीं आती होगी,
मालती-कुंज में तनिक अँधेरा छाने दो,
महुए के नीचे से वह पग-ध्वनि आने दो;
तुम भी क्या हो
जो बैठ गयी हो
जा उपवन के कोने में
उस बेढंगे से पत्थर पर,
है जहाँ अजब-सी मनहूसी,
सूना-सूना वीरानापन;
है खुला-खुला आकाश जहाँ,
बिखरी-बिखरी है जहाँ धरा,
चाँदनी जहाँ
विधवा बन कर है पड़ी हुई,
अपनी सफ़ेद साड़ी में

चुप-चुप गड़ी हुई;
इतना मेरा कहना मानो
उस जगह न बैठो,
उठ जाओ,
शुभ नहीं बैठना वहाँ,
अशुभ ही होता है,
उस के नीचे कोई पिशाच
आ सोता है—
मत झूठ इसे समझो,
मैंने अज़माया है—
वह आधी-आधी रात
यहाँ पर आया है;
मैं देख न उस को पाता हूँ,
कुछ ऐसा होता है
मैं अपने-आप सिहर-सा जाता हूँ,
कुछ अजब दर्द की
ऐंठन से भर जाता हूँ।
यह है समाधि
बीसवीं सदी के उस कवि की
देखो, था भला नाम उस का,
जिस के कुछ गीत
अरे, वह बुड्ढा गाता था

जो रहता था
उस टूटे मोटरखाने में
थे जिसे मोहल्ले के सब
लड़के तँग करते
था दिल का भला
मगर पागल कहलाता था ।

···उँह !

नहीं याद आता,
था अजब नाम उस का—
जाने भी दो,
कवि तक का नाम
कौन ऐसा जो याद करे,
है किसे फ़ालतू समय
कि जो बरबाद करे,
फिर उस युग के कवि !
दर्द-दर्द जिन की कविता,
गोधूली की थी महज़ गर्द
जिन की कविता ।
ये नहीं जिन्होंने सोचा
पथ के ढोर अभी सो जावेंगे
अपनी-अपनी घारी में
सानी-भूसा पा खो जावेंगे

फिर कभी चाँद भी निकलेगा,
फिर कभी सितारे भी होंगे,
मँझधार न होगी सदा तरी
फिर स्वप्न-किनारे भी होंगे—
जाने दो, हम से क्या मतलब !
—है सिर्फ प्रार्थना यह मेरी
उस जगह न बैठो
काँप रहा है मेरा दिल
क्या कहूँ ? अजब अहमक
थे मेरे परदादे,
जो झूठ-मूठ की फिरते थे
ज़हमत लादे ।
सुनते हैं जब वह मरा
तो उस पर नहीं किसी ने ध्यान दिया —
अपने को स्वयं समझता था वह बहुत बड़ा
पर दुनिया को था क्या
उस से लेना-देना,
बेकार भला वह क्यों करती इस पर झगड़ा !
वह कवि इस उपवन में भी
आता-जाता था
इन पेड़ और पौधों से जी बहलाता था ।
इनसान उसे शायद कम अच्छे लगते थे

क्यों कि वे उस को तरह-तरह से ठगते थे,
चिढ़ थी उस को बस झूठे प्रेम, बनावट से,
मानवता में थोथी सभ्यता-मिलावट से ।
परिणाम हुआ इस का यह,
उस को नहीं किसी ने अपनाया,
उस ने भी अपनी करनी-का ही फल पाया;
फिर भी सुनते हैं
उसने थे कुछ रस-यौवन के गीत लिखे
जो उस के जीवन के थे पिछले पहर दिखे,
था कथा-कहानी का भी उस के सँग चक्कर
था लिखा जिसे उसने जीवन से खा टक्कर;
बुड्ढा कहता था यदि वह और अधिक जीता,
शायद कुछ लिख लेता,
यों तो, उस का जीवन था हाय-हाय करते बीता ।

तुम अब भी नहीं उठीं—
तुम भी हो एक अजब सनकी !
कुछ मेरा भी कहना मानो—
मत करो सदा अपने मन की,
डर है मुझ को
यह पत्थर कहीं खिसक न पड़े,
तुम नहीं जानतीं इस के करतब-बड़े-बड़े ।

मैंने है सुना कि यह पत्थर
है अपने-आप यहाँ आया,
था नहीं समाधि बनाने को
इस जगह इसे कोई लाया,
कमबख़्त मरा जिस दिन
उस दिन था नहीं किसी ने ख़्याल किया,
बस इसी वजह से उपवन के
इस कोने का यह हाल किया;
जिस रोज़ मरा वह
उसी रात,
कोई छिप कर के आया था,
उस की समाधि का यह पत्थर
शायद वह ढो कर लाया था,
क्यों कि दूसरी सुबह लोगों ने
उस को यहाँ लगा देखा;
थे कुछ आँसू के ही निशान
था और नहीं कोई लेखा;
बुड्ढा कहता था एक बार
कुछ उस के साथी आये थे
उस की यह बेढंगी समाधि
वे देख-देख मुसकाये थे
फिर नहीं कभी कोई आया,

फिर नहीं कभी कोई रोया,
फिर नहीं कभी कोई आ कर के
इस समाधि से लग सोया;
सच मानो कभी दीप तक
इस पर नहीं जला,
कोई भी इर्द-गिर्द इस के
है नहीं चला
है नाम तक नहीं लेता कोई भी उस का,
था नाम-विश्व भर का लेना पेशा जिस का।

अच्छा अब बहुत हो चुका है—
तुम उठ आओ,
दुनिया ऐसे ही चलती है—
मत घबराओ ।
अच्छा होता यदि परदादे
इस को तुड़वाकर फिंकवाते,
मन में न दया कुछ भी लाते,
फिर ज़हमत यह रहती न यहाँ—
तुम कभी बैठतीं नहीं वहाँ।
यह क्या ? तुम लगीं
व्यर्थ ही में सिसकी भरने !
मैं इसी लिए कहता था

फ़ौरन उठ आओ,
मनहूस फ़िज़ाएँ
देखो, लगीं गला धरने !

इस आम-तले
है सेज सफ़ेद गुलाबों की,
चाँदनी खड़ी है
नींद-भरी जो उस
केले के झुरमुट में,
प्रिय, अभी यहीं आती होगी;
है कसम तुम्हें मेरी अब
फ़ौरन उठ आओ—
उस पत्थर पर तुम मत
पत्थर-सी जम जाओ ।

एक प्यासी आत्मा का गीत

मैं तुम्हारे लिपस्टिक लगे होठों की
विकृति अरुणिमा में भी
पंख खोल कर तैर सकता हूँ,
यदि तुम थकावट के पाले में
झुलस कर गिरे हुए इस काफ़िले को
भोर की सुनहरी धूप की तरह
उठने की आवाज़ दो।

मैं तुम्हारे भद्दे होठों की
काली दरारों में भी जी सकता हूँ,
यदि तुम थक कर गिरे हुए
किसी चरण के घाव चूम लो
और हर दर्द को
सपनों की जयमाल पहना दो।

मैं तुम्हारे मुरझाये हुए पीले होठों की
दम तोड़ती हुई गर्मी का कफ़न ओढ़ कर
सदा के लिए सो सकता हूँ,
यदि तुम दीप के अन्तिम लौ से
उमग कर बुझे हुए, किसी भी प्रयत्न के
कपोल पर अपने अधर रख कर दुआ दो।

क्योंकि मैं—
इस युग के एक कवि का गीत हूँ,
एक अभागे कवि का गीत—
जिस पर हर आँधी ने थकावट की पर्त ही जमायी,
जिस के घावों को हर झोंके ने गहरा ही किया,
और जिस के अन्तिम घड़ी के अन्तिम प्रयत्न को भी,
प्यार करना तो दूर रहा, किसी ने दुआ तक नहीं दी।
मैं उस भटकती हुई प्यासी आत्मा का
दर्द-भरा संगीत हूँ,
जो मुझे अपने सफ़र में
इस वीरान राह की
अन्धी चट्टानों पर
खामोशी का ताज बना कर
छोड़ गयी है।

फुलझरियाँ छूटीं

फुलझरियाँ छूटीं।
लाल, हरी, नीली, पीली,
गैस-भरी, एक साथ
सैकड़ों काँच की कलियाँ ज्यों फूटीं।
रूप का सम्मोहन
आँखों में छा गया,
क्षण-भर अमरता का
स्वप्न मंडरा गया,
लेकिन उँगलियों में,
थमा हुआ रह गया जो—
वह था काला कुरूप बेढंगा तार,
लुटे विश्वासों को दोहराता बार-बार
एक चिनगारी में;
ऊपर की लिपटी बारूद खतम हो गयी,
प्यार के रँगे हुए क्षणों की मौत पर
थकी हुई आँखों से जलपरियाँ टूटीं।
फुलझरियाँ छूटीं।

दर्द थिरता नहीं

दर्द थिरता नहीं,
हवा लगते ही लहर निरुपाय हिलती है;
स्वप्न मरता नहीं,
पत्थरों पर सर पटकने में शान्ति मिलती है;
'तुम नहीं हो—तुम नहीं हो शेष···'
हर घड़ी आवाज़ आती है;
किन्तु फिर भी
नयी आकृति ग्रहण करने को
टूटती काया सँवरती है ।

कौन है ?

कौन है ?
हाथ फैलाऊँ भी तो किस के सामने ?
सभी दिशा मौन है ।
अंजलि में फूल हैं या धूल--
पूछेगा कौन ?
मौन ?
पूजा प्रतिमा-सी ठगी रह जाय तो
दीप यह विसर्जन का सिद्धि कहाँ पायेगा ?
बहने दो
इसे नील लहरों पर
आत्म-लीन बहने दो ।
फैला नहीं एक नन्हा-सा अनाथ कर—
इस अनन्त तिमिरावर्त को कहने दो ।

शान्तिमयि तुम हो…

दर्द के इस महासागर से कहो
सामने मेरे न चीख़े;
मैं अकेला हूँ—
और तुम भी हो कहीं—
(क्या सच ? कहीं ?)
शान्त रहना
अरे ! कोई तुम्हीं से सीखे…
पर न जाने क्यों
यह तुम्हारी शान्ति
दर्द की इस चीख से
ज़्यादा भयानक बन सुनाई दे रही है,
शोर सागर का समेटे
बस तुम्हीं तुम हो,
शान्तिमयि तुम हो,
शान्तिमयि तुम हो ।

(कौन कहता है
मैं अकेला हूँ ?

कहीं—
अन्तर में शान्तिमयि तुम हो,
हाँ···नहीं···कहीं
शान्तिमयि तुमहो।)

शान्त ज्वालामुखी-सी तुम

शान्त ज्वालामुखी-सी तुम
सो रही हो चाँद अपने वक्ष पर रख कर,
कहाँ है विस्फोट ?
कहाँ है वह मौन अन्तर का
रुँधा हाहाकार ?
जिसे सुन कर
धरा काँपी थी,
हिला था आकाश,
चीथड़ों-सी उड़ी थीं सारी दिशाएँ।
मिटी थीं हरएक सीमाएँ।
कहाँ है वह ज्वार ?
कहाँ है वह एक प्लावन निर्विकार
दफ़न जिस में हुई थी संसृति अपार ?
महज़ तुम थीं
औ' तुम्हारा प्यार था,
हृदय का उद्‌गार ही
अधिकार था।
आज तुम चुप हो,

कहीं जैसे स्वयं में ही खो गयी हो,
बनी हो अपनी स्वयं दीवार
लाँघने को जिसे
प्यार का बौना उछलता बार-बार।
लोग कहते हैं—
जम गये चट्टान के आँसू,
बुझ गयी है आग,
हर तरफ़ काली शिलाएँ रह गयी हैं,
और नन्हें हाथ में ले फावड़े
यही कहते घूमते हैं—
प्यार का उन्मेष कितना प्रबल
पर कितना क्षणिक है।

विगत प्यार

एक हल्का-सा मेघ
बरस कर निकल गया,
पेड़ों की पत्तियाँ धुल गयीं,
एक छोटी-सी चिड़िया
तेज़ी से झुरमुटों को चीरती चली गयी,
कुछ नयी कोपलें टूट कर गिर गयीं—
क्या किसी ने यहाँ पहली बार किसी को देखा था ?

एक थका हुआ, नम सुगन्धित झोंका
क्यारियों से हो कर चला गया,
एक टूटा हुआ नन्हाँ बेज़बान फूल
अनजानी धरती पर छूट गया—
क्या कोई यहाँ फिर आया था ?

इन झूलती लताओं की टहनियों को,
देखो, आपस में कोई उलझा गया है,
इन कँटीली जंगली झाड़ियों को कस कर,
देखो, बाड़े से कोई बाँध गया है—
क्या कोई यहाँ रहा था ?

साँझ क्यों आखिरी दम तक यहाँ रहती है ?
सुबह क्यों सब से पहले यहाँ आती है ?
हरे काले रंग के कटोरे ले
झुकी हुई तन्मय बरसात
दीवारों पर किस के चित्र खींचती है ?
सरदी धूप में किस के कपड़े सुखाती है ?
गरमी बौरायी दीवारों से
टकरा-टकरा कर क्या गाती है ?
—क्या किसी ने यहाँ प्यार की बातें की थी ?

मैं तो अजनबी हूँ,
पहली बार शायद यहाँ आया हूँ,
मैं तो इस घर को पहचानता तक नहीं—
सच मानो जानता तक नहीं,
लेकिन लगता है जैसे
कभी कुछ हुआ था;
अच्छा अब जाता हूँ—
कमबख़्त आँखें भर आती हैं
यद्यपि जानता हूँ
यह गहरा धुआँ था ।

अहं से मेरे बड़ी हो तुम

अहं से मेरे बड़ी हो तुम ।
क्योंकि मेरी शक्तियों की
हर पराजय-जीत की
अन्तिम कड़ी हो तुम ।
जहाँ रुक कर
फिर नयी मैं टेक गढ़ता हूँ,
भूमि पैरों के तले मेरे न हो फिर भी
हर नये संघर्ष के विष-शृंग चढ़ता हूँ,
क्योंकि अन्तर में
अतल गहरे—
आस्था के टूटते असहाय रथ के चक्र थामे
नित खड़ी हो तुम ।
अहं से मेरे बड़ी हो तुम ।
प्रिय, इसी से तुम्हारे सम्मुख
मौलश्री की डाल यह मैंने झुका दी है,
और बौने प्यार के कर में
अहं की जयमाल ला दी है,
क्योंकि मैं,

उखड़ कर जिस जगह से गिर पड़ा
वहीं पर दृढ़ हो गड़ी हो तुम ।
अहं से मेरे बड़ी हो तुम ।
एक पत्थर की घड़ी हो तुम,
कि जिस पर छाँह चलती है
जड़े मेरे अहं की
बाँधने को विकल
एक टूटा घूमता असहाय हाथ,
काल की बेलौस छाती पर
प्यार का असफल प्रयास,
किन्तु इस पर भी
अहं मेरा तुम्हारा शृंगार है
और मेरे हर विकल विद्रोह के सिर पर
मौन कँलगी-सी जड़ी हो तुम ।
अहं से मेरे बड़ी हो तुम ।

तुम कहो

तुम—
जिस के बालों में बनावटी 'कर्ल' नहीं है;
जिस की आँखों में न गहरी चटक शोख़ी है;
थर्मामीटर के पारे-सी
चुपचाप जिस में भावनाएँ चढ़ती-उतरती हैं;
अखंड कीर्तन की
थकी हुई स्पष्ट धुन-सी
जिस की ज़िन्दगी है!
समझ में न आने वाली,
अटपटी भाषा के इसी लोक-गीत के
मधुर चढ़ाव-उतार-सा,
जिस का हर काम है;
अपने सपनों की सुई-तले
किसी रेकार्ड-सी
जो स्वयं घूमती है, गाती है;
जिस की जवानी
खुद जिस के लिए क्लोरोफ़ार्म का
एक मीठा नींद-भरा हलका झोंका है;

अँधेरे में—

उदास क्यारियों से झाँकते हुए
अपने दर्द के फूलों के लिए—
जो दूर के किसी वातायन की
खामोश हरी रोशनी है;
आपरेशन थियेटर सी
जो हर काम करते हुए भी चुप है;
भारी पीले फूल-सी
जो डाल पर झुक गयी है;
जिस की आँखें ऊपर टिकती हैं
और निगाहें नीचे गिर जाती हैं;
प्यार का नाम लेते ही
बिजली के स्टोव-सी
जो एकदम सुर्ख़ हो जाती है;
अस्पताल में,
दवा की शीशियों की जाती हुई "ट्रे" की
प्रतिक्षण क्षीण होते हुए भी
एक गति में बँधी खनखनाहट-सी

जिस की आवाज़ दूर तक सुनाई देती है—
जिसे सुन कर हर दर्द कम होने लगता है
और जिसे सदा सुनते रहने को
जी चाहता है;

जिसके वक्ष पर,
मस्जिद के गुम्बजों पर सोती हुई शाम के बीच—
दूर की टूटती हुई अज़ाँ-सी—
जवानी के थके हुए काफ़िलों के
रुकने का संकेत है;
जो मोम-दीप के समीप
खुली हुई बाइबिल-सी
उन सब को बुलाती है
जिन के दिलों में दर्द है
और आँखों में आँसू हैं;
तुम—जो सब्र हो;
तुम—जो सहनशक्ति हो;
तुम—जिस में अपार शान्ति है
निर्विकार शान्ति है;
तुम—जो मुझ में हो;
'तुम'—जो 'मैं' हूँ,
कहो—
बस एक बार
मेरे साथ मिल कर कहो :
'सहन-शक्ति ही जीवन है,
सहो
सहो।'

चुप रहो

चुप रहो—
हाँ, चुप रहो।

पराजित सूरज
क्षितिज की ओर झुकने लग गया,
शोर यह कुछ देर का था—
आप रुकने लग गया,
इस थकी सूरजमुखी से
मत कहो
कुछ मत कहो।
चुप रहो,
हाँ, चुप रहो।

जो परिधि हैं खींचते
उन का यही परिणाम होगा,
सिर झुकेगा,
एक पश्चात्ताप ही अविराम होगा;
प्यार का मातम मनाने जा रही जो
उस किरण, उस पंखुरी को

मत गहो
सच, मत गहो।
चुप रहो
हाँ, चुप रहो !

व्यर्थ उन को बाँधना है
डूबना जो चाहते हैं खुद अँधेरे में,
कहाँ तक उन को सँभालोगे भला
भागते जो रूढ़ियों के तंग घेरे में ?
सत्य क्या है ?
क्या समय अब कह रहा है ?
सुने, जिस में शक्ति हो वह सुने;
ज़िन्दगी का, प्यार का, यह नया सपना
बुने बन्धन-मुक्त हो, सो बुने,
हाथ जिन के हैं बँधे
उन पत्थरों का बोझ ले कर
काल की इस धार में
तुम मत बहो
सच, मत बहो।
चुप रहो,
हाँ, चुप रहो।

चाँद की नींद

चाँद गीले बादलों में सो रहा है,
चाँदनी को कुछ नशा-सा हो रहा है।
नींद में फेंके गये पाँसे झकोरे,
होश किस को क्या मिला क्या खो रहा है।
गुदगुदी का दर्द उभरा आ रहा है,
खिलखिला बेदम ज़माना रो रहा है।

चाँदनी से कहो

चाँदनी से कहो
    थोड़ा और पिघले,
हवा से कह दो
    चले कुछ और तेज़ ।

ताकि परदे हिलें,
दरवाज़े खुलें,
दबे पैरों, एक पीली आकृति आये,
थकी गुमसुम खिड़कियों पर बैठ जाये
केश फैलाये;
कभी चुप दीवार से लग कर खड़ी हो
मुसकराये;
कभी बहकी नज़र से खोजे किसी को
अनमनी हो कर चली जाये,
लगे, कोई ढूँढता है मुझे,
लगे, कोई प्यार करता है,
लगे, कोई रूठ जाता है,
लगे, फिर मनुहार करता है;

ताकि मैं, फिर सिर उठा कर गा सकूँ,
सींकचे झकझोर कर चिल्ला सकूँ,
'चाँदनी है, हवा है, मैं हूँ,
चाँदनी है, हवा है, मैं हूँ...'
जिसे सुन कर सभी पीली पत्तियाँ
गिरा दे यह सामने की डाल,
और माथे की लकीरों को
छिपा लें उड़ कर, बिखर कर बाल।

चाँदनी से कहो
थोड़ा और पिघले,
हवा से कह दो
चले कुछ और तेज़।

आज पहली बार

आज पहली बार
थकी शीतल हवा ने
शीश मेरा उठा कर
चुप-चाप अपनी गोद में रक्खा,
और जलते हुए मस्तक पर
काँपता-सा हाथ रख कर कहा—

"सुनो, मैं भी पराजित हूँ,
सुनो, मैं भी बहुत भटकी हूँ,
सुनो, मेरा भी नहीं कोई,
सुनो, मैं भी कहीं अटकी हूँ,
पर न जाने क्यों
पराजय ने मुझे शीतल किया,
और हर भटकाव ने गति दी;
नहीं कोई था
इसी से सब हो गये मेरे,
मैं स्वयं को बाँटती ही फिरी
किसी ने मुझ को नहीं यति दी।"

लगा, मुझको उठा कर कोई खड़ा कर गया,
और मेरे दर्द को मुझ से बड़ा कर गया ।
आज पहली बार ।

कल रात

कल रात जाने कैसी हवा चली :
विवेक का पीले सान्ध्य फूलों वाला पेपरवेट
खिसक कर गिर पड़ा;
दर्द के दबे हुए पृष्ठ
उड़-उड़ कर बिखर गये ।

स्मृतियों के भारी
काले कोट का कालर उठाये
शीश थामे, बाल उलझाये
बेचैन थकी हुई रात
मेरी पसलियों पर
कोहनियाँ गड़ाये बैठी रही
और—
मेरे भारी अन्तर से
दर्द के बिखरे हल्के पृष्ठों को
धीरे-धीरे नत्थी करती रही ।

सुबह होते-होते
आकाश की नीली पिनकुशन खाली थी—
तारों की एक-एक आलपीन चुक गयी थी ।

भोर

सलमे-सितारों की काम वाली
नीली मख़मल का खोल चढ़ा
अम्बर का बड़ा सिंदोरा उलटा
धरती पर;
नदियों के जल में,
गिरि-तरु के शिखरों से ढर-ढर कर
सब सेन्दुर फैल गया।
प्रथम बार—
इस गँवार नार के सिंगार पर
कोटर-कोटर से छिप झाँकती
सखियाँ खिलखिला उठीं,
पीछे से आ पिय ने
चुपके से हाथ बढ़ा
माथे पर चाँदी की बिंदिया चिपका दी,
लज्जा से लाल मुख
हथेलियों में छिपा
भोर झट भाग
ओट हो गयी,

माथे से छूट
गिरी बेंदी
बस पड़ी रही ।

सन्ध्या का श्रम

लाल-हरे फूलों वाला मखमली साँप
लिपटा है गुलाब की पीली कली पर
पैरों में ज़मीन पहने क्यारी है—
जिस के ऊपर
अँधियारी मिली हुई सिन्दूरी सन्ध्या की
गहरी लाल सारी है।
सिर के बाल अभी काफ़ी ढँके हैं,
एक-दो सुरमयी लट ज़रूर खुल रही है,
गोरी किरनों से बने हुए माथे पर
श्रम का युग है,
श्रम का महत्त्व है,
इसीलिए कूची ले
चारों दिशाओं का यह अपना हाता,
झुकी हुई,
काले रंग से साँझ रंग रही है ;
सुनहरा ओप भी जिन पर अभी होगा
जब चाँद निकलेगा।
बोलो मत—

डूबी रहने दो उसे अपने काम में—
देखो पसीना
सितारों-सा छलक आया है,
सन्ध्या के इस श्रम ने
तुम्हें भी बुलाया है।
अपने-अपने घर में
श्रम के दिये बालो।

गाँव की शाम का सफ़र

बेहद थक जाने के बाद—
जब सन्ध्या झुकने लग जाती है,
पीली-पीली आँधी आती है,
अन्तर घबराता है;
तब आँखों के सम्मुख,
रंग-बिरंगे फूलों वाले खेतों में,
नीली नदियों का सोया जल भर आता है।

काले, अँधियारे, छप्परवाले दरबों में
बस अन्धी रोशनी झलकती है,
भीतर का धूआँ गुमसुम उठ कर
दरवाज़े पर पहरा देने आ जाता है।

सर पर गट्ठर, लपके तेज़ कदम,
झुका पलक चौपायों के पीछे,
कोई घायल मन सहला-सहला
भूले गीतों को दोहराता है।

भींगे, मैले, टूली आँचल में,
काँसे के कंगन बज उठते हैं,
मूँगे की गुरिया हिय से चिपका
कोई यौवन को भरमाता है।

भूखे बछड़े का मुख सहला कर,
रामायन की चौपाई गा कर,
बैलों की गाड़ी में अध-लेटा
कोई रवि के सँग-सँग जाता है।

ठाकुरद्वारे की घंटी चुप हो जाती है,
अँधियारी पेड़ों के तले फैल जाती है,
कोई सिसकी का ईंधन भर-भर
ठंडे चूल्हों को गरमाता है।

लगता है ये सब टूटे सपने,
कुंठाएँ, दर्द, टीस, चोट, थकन,
मन की घुटती पर्तें, हटा-हटा जोड़ रहा
कोई बेपहचानी नज़रों से नाता है।
बेहद थक जाने के बाद।

एक नयी प्यास

मैं कब कहता हूँ
कि मेरे इस मकान में
दरवाज़े, खिड़कियाँ और रोशनदान मत लगाओ,
काश कि तुम इन से ही मकान बना पाते—
दीवारें न होतीं !
क्योंकि मुझे
सुबह की नीली हवा से ले कर
साँझ का पीला तूफ़ान तक भाता है,
क्योंकि मुझे
सावन की गुलाबी फुहार से ले कर
भादों की साँवली मूसलाधार तक अच्छी लगती है,
मुझे बर्फ़-सी चाँदनी
और आग-सा सूरज
दोनों प्यारे हैं, बेहद प्यारे,
मेरी प्रार्थना तो केवल इतनी है
कि मेरे इस मकान के कहीं किसी कोने में
एक छोटा-सा कमरा ऐसा भी रहने दो,
जहाँ मैं धूप-दीप जला सकूँ,
जहाँ मैं चन्द पतले, रंगीन सुगन्धित
फूलों के गीत-भरे काग़ज़

बेले की कच्ची कलियों से दबा कर रख सकूँ,
जहाँ मैं कभी हँसते-हँसते थक जाने के बाद जा कर
किसी सतरंगे कपड़े से
अपनी गीली आँखें भी पोंछ सकूँ,
जहाँ मैं अपने भीतर की
सारी घुटन, सारी कुंठा,
उन ख़ामोश फूलों के बीच दबा आऊँ
जो एकान्त की सूनी डाल से
अविराम झरते रहते हैं,
जहाँ पहुँच कर
मैं किसी पूजा-गीत की पवित्र कड़ी-सा बन जाऊँ
और किन्हीं संगीत-भरे चरणों पर
कुछ क्षण अपना सिर धर
सब कुछ भूल सकूँ;
जहाँ जा कर मैं अपने भीतर की
दीवारें तोड़ सकूँ, और
ताज़ी हवा,
तूफ़ान,
फुहार,
चाँदनी,
धूप,
सब के लिए एक नयी प्यास ले कर
सदैव वापस आ सकूँ।

दो अगर की बत्तियाँ

इस सफ़ेद दीवार पर
हमारी-तुम्हारी परछाइयों ने मिल कर,
आड़ी-टेढ़ी काली रेखाओं की
जो यह उलझी हुई आकृतियाँ बना रक्खी हैं,
ये अभी मिट जायँगी—
सच मानो—–अभी मिट जायँगी
कमरे के कोण के उस दीप के बुझते ही।
सत्य न तो वह प्रकाश है
और न ये आकृतियाँ ही,
सत्य न तो प्रेम है
और न वासना ही,
सत्य हैं हम-तुम :
दो अगर की बत्तियाँ;
सत्य है वह आग
जो हमें जला गयी है,
सत्य है वह सुगन्धि-ज्वार
जो चारों ओर फैल रहा है
इस अँधेरे का फूल बनाने की साधना लिये हुए,

सत्य है वह उमंग, वह उत्साह,
जिसने हमें-तुम्हें सदैव पृथक् रक्खा,
जिसने हमारी-तुम्हारी, बत्तियों के ऐंठे प्रश्न-चिह्न-सी
ये ठंडी राख की केंचुलें उतरवा दीं,
और आज वहाँ ले जाकर मिलाया है
जहाँ हम-तुम कभी पृथक् नहीं किये जा सकते
क्योंकि अब हमारा-तुम्हारा मूल्य
अपने लिए नहीं
दूसरों के लिए है।

प्रेम-नदी के तीरा

इस हल्की नीली नदी के किनारे
आओ हम सब रंग-बिरंगे
पाँखियों-सा हिल-मिल कर
ज़िन्दगी का एक मीठा गीत गायें।

तुम, जो धान के खेत के जल
में तन कर खड़ी हुई अपनी
गँवार, भोंडी, लेकिन शोख़
मुद्रा से मेरी ओर इस तरह
देख रही हो, जैसे कि मैं
पकी हुई बालियाँ हूँ या कटी
हुई फ़स्ल हूँ।

तुम, जो एक लम्बी यात्रा से
लौटी हुई धूल-भरी, थके ऊँघते
हुए बैलों वाली बैलगाड़ी के समीप,
भोर के कुहासे में लिपटी हुई, एक
उनींदी नीली चिड़िया-सी फुदक रही

हो, और मुझे आहिस्ता से
जगाते हुए, अपने होठों की मुसकान
दबा कर, महज़ इतना कह रही हो :
'अब घर आ गया है, उठो न !'

तुम, जो एक सुर्ख़ रूमाल में
लिपटी हुई पीली कली-सी मुरझा
रही हो, और मुझे देखते ही फड़क
कर अपनी पंखुरियाँ खोलना चाहती हो, परन्तु जो
टूट कर गिर जाती हैं, और अपनी
ख़ामोश पथराती हुई निगाहों में भी
जवानी के जादू का सारा नशा भर कर
महज़ इतना कहना चाहती हो कि 'तुम देर
से आये—ओफ़ बहुत देर से !'

तुम जो एक सफ़ेद जड़-प्रतिमा-सी
मेज़ पर रोशनी के किनारे बैठी हो
झुकी हुई पलकों में दो बड़े-बड़े मोती छिपाये
और जिस के सुडौल गेहुएँ गालों पर
साड़ी में टँकी हुई किरोशिये की
बेल की परछाईं नन्हें-नन्हें सफ़ेद
फूलों की माला बना रही है ।

तुम, जो चुप हो—
और टूट कर गिरी हुई एक पीली पत्ती-सी
असहाय सूनी डाल को चुपचाप निहार रही हो।

तुम, जो काग़ज़ की छोटी-से-छोटी
नाव बनाने पर यक़ीन करती हो
और उसे शोख़ निगाहों की पाल
लगा कर गर्म होठों की मुसकान
पर खेती हो और खेती चली जाती हो।

तुम, जो इस जलती हुई सूनी
छत पर अँधेरे में बैठी गुम-सुम
काँपते हुए सितारों को
देखना चाहने पर भी नहीं देख पा रही हो,
और उठ कर जाते हुए मेरे क़दमों
की आहट पा कर अपना मुँह घुटनों
में छिपा कर रुँधी हुई सिसकती हुई
आवाज़ में महज़ इतना कहना चाहती हो
कि 'आदमी कुछ खो कर ही सीखता है—
मुझे आज से सीखना शुरू कर देना है।'
मगर फूट कर रो पड़ती हो।

तुम, जो जुगनू-सी
हर क्षण अपनी रोशनी समेट
लेती हो, क्योंकि परवश हो,
और दूसरे क्षण जला लेती हो
क्योंकि औरत हो !

तुम, जो अंजलि में फूल ले कर
पत्थर की प्रतिमा-सी मेरी
क़ब्र के सिरहाने हर क्षण खड़ी हो,
इसलिए नहीं कि तुम्हें मुझ से
बहुत प्यार है,
बल्कि इसलिए कि
तुम्हें किसी ने खड़ा कर दिया है,
एक रस्म पूरी करने के लिए,
और अब तुम जा नहीं सकती हो,
क्योंकि चलना नहीं जानती,
एक ख़ामोश समर्पण
जिस के नीचे मजबूरी है ।

तुम जो सफ़ेदी मिली हुई
महीन गुलाबी चूड़ियों-सी
जवानी की नाज़ुक कलाई में भरी हुई

खनक रही हो,
और दिन-दोपहर, आते-जाते,
अपने अस्तित्व का आभास देती हो,
क्योंकि तुम ऊँचे घर की
सब से ऊपरी मंज़िल पर
पंख तोड़ कर छोड़ दी गयी हो।

आओ—
तुम सब आओ—
और इस हल्की नीली नदी के किनारे
रंग-बिरंगे पाँखियों-सी हिल-मिल कर
एक मीठा गीत गाओ।

गीत—
जो आँधी हो, तूफ़ान हो,
मलय पवन हो, बसन्त समीर हो,
जिस की गति पर कोई रोक-टोक न हो,
जो आवेशमय हो, शक्तिपूर्ण हो।
गीत—
जिस में विद्रोह हो, ध्वंस हो,
निर्माण की आकांक्षा हो, सतत प्रयत्न हो,
स्वर्ग की सृष्टि हो, सृष्टि का निर्वाह हो।

गीत—
जो झुक न सके, जो टूट न सके,
जो गिर न सके, जो बिखर न सके,
जिस में यदि स्वीकृति हो, तो क्षमता हो,
यदि अस्वीकृति हो, तो निर्ममता हो ।

गीत—
जो असहाय न हो, जो निरुपाय न हो,
जो सितार की गत से तब तक ही बँधे,
जब तक गत उस से बँधी हो,
जिस में 'हार्मनी' हो,
बेसुरापन न हो,
जिस में प्रवाह हो, ठहराव न हो,
मस्ती हो, कोई परवाह न हो ।
लेकिन यह क्या ?

इतना सुनते ही
क्यों यह हल्की नीली नदी काली अँधेरी हो गयी,
और तुम सब रंग-बिरंगे पाँखी
छोटे-छोटे काले शिलाखंड-से निश्चल मौन हो कर
उस के तट पर पड़ गये ?
क्यों यह सारा रंग उड़ गया ?

क्यों सारा अन्तर सूख गया ?
क्यों एक मीठा गीत गाने का सपना
प्रभावहीन, निर्जीव, बेलौस हो गया ?
क्यों यह नदी दृष्टि से ओझल हो गयी ?
क्यों अब ऐसा लगता है—
कि हम से और तुम सब से
कोई लहर आती है, टकराती है,
भिगोती है, समेटना चाहती है,
पर वापस चली जाती है—
एक जड़ता, मौनता, निश्चलता
इतनी सख़्त हो कर हम सब में समा गयी है
कि उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता !

लिपटा रज़ाई में

लिपटा रज़ाई में
मोटे तकिये पर धर कविता की कापी,
ठंडक से अकड़ी उँगलियों से क़लम पकड़
मैंने इस जीवन की गली-गली नापी;
हाथ कुछ लगा नहीं,
कोई भी भाव कम्बख़्त जगा नहीं।
मुझसे अच्छी तुम हो—
सूप उठा तुमने सब चावल फटक डाले,
मुझ से अच्छा यह है—
डब्बा फाड़ जिसने सब बिस्कुट गटक डाले;
सूप की फटर-फटर
'अम्मा-पापा' की रट
मुझ से कहती है—
जीवन ले, कविता से हट,
थैला उठाओ, जाओ—
तरकारी लाओ,
आफ़िस का समय हो गया है,
नहाओ, खाओ,
यह सब लिखना-पढ़ना कल्पना-विलास है।

चीख़-चीख़ कहता यह मेरा आस-पास है,
लेकिन मैं इस पर भी क़लम लिये बैठा हूँ
कवि हूँ, अपनी कविताई पर ऐंठा हूँ।

पंख दो

पंख दो, पंख दो, अरे मेरे पंख दो !
और कब तक इस सुलगती डाल पर बैठा रहूँ असहाय,
और कब तक जल रहे वन का धुआँ पीता रहूँ निरुपाय,
और कब तक सुनूँ नभ में विकल बेघर परिन्दों की हाय-हाय ?
पंख दो, पंख दो, अरे मेरे पंख दो !

और कब तक सहूँ निज असमर्थता का विष-भरा अपमान,
और कब तक बुद्धिहत देखा करूँ यह आग का तूफ़ान,
और कब तक पूछता ख़ुद से रहूँ मैं न्याय और विधान ?
पंख दो, पंख दो, अरे मेरे पंख दो !

ढाँक मैं जिस से सकूँ जलते हुए सम्पूर्ण वन को,
छाँह जिस से दे सकूँ, बेदम परिन्दों को, गगन को,
फिर न पलकें गिरा, आँसू छिपा, गरदन मोड़
कहूँ, 'इस तूफ़ान ने मेरे दिये पर तोड़ !'
पंख दो, पंख दो, नये मेरे पंख दो !
पंख दो, पंख दो ; बड़े मेरे पंख दो !

नये वर्ष पर

वे नन्हीं पंखुरियाँ
जिन के रेशों में
ताज़गी का रस
अभी पूरी तौर से प्रवाहित नहीं हुआ है,
वे रंग जो अभी निखरे नहीं हैं,
वह सुरभि जो अभी
अपने में ही कसी लिपटी है,
मैं वसीयत करता हूँ
इस नये वर्ष के नाम···

मैं वे गमले सौंपता हूँ
जिन में बीज डाले गये हैं,
वे अंकुर सौंपता हूँ
जिन में पत्तियाँ निकल रही हैं,
वे पौधे सौंपता हूँ
जिन्होंने कलियों के मुँह खोले हैं,
वे फूल सौंपता हूँ
जो रस और गन्ध की अंजलि भरे हुए खड़े हैं,
वे फल सौंपता हूँ
जो अपनी जाति की रक्षा के लिए

मिट्टी में मिल कर
फिर असंख्य अंकुरों के रूप में
फूट पड़ने की प्रतीक्षा कर रहे हैं,
मैं इस नये वर्ष को
वे हज़ारों लाखों करोड़ों उद्यान सौंपता हूँ
जो रंग-बिरंगे पाँखियों के मधुर कलरव
और थके बटोहियों के
विश्राम-गीतों की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

नया वर्ष···
जो यह अनुभव करा सके
कि उस का हर क्षण नया है
हर घंटा, हर दिन, हर सप्ताह,
हर माह नया है।
जिस का नयापन
एक वर्ष की गहरी नींद के बाद
चौंक कर जगी हुई
एक क्षणिक अनुभूति मात्र ही न हो,
जिस का नयापन
किताबों की धूल झाड़ कर
उन्हें करीने से सजा देने,
मेज़ का मेज़पोश बदल देने,
खिड़कियों और दरवाज़ों के परदे

परिवर्तित कर देने के समान ही
क्षणिक स्फूर्ति और क्षणिक ताज़गी
का ही मात्र द्योतक न हो,
जिस का नयापन
ओस की बूँदों के समान न हो
जो देखते ही देखते उड़ जाती हैं,
कुहरे के जाल के समान न हो
जो बातों-बातों में ही छँट जाता है।

मैं कामना करता हूँ
कि नया वर्ष
नयेपन की इस अनुभूति को
वर्ष-भर जिला सके
उस की आँखों में उत्सुकता का
काजल भर सके
उसे हर क्षण अधिक स्वस्थ
अधिक सुन्दर बना सके।

नया वर्ष···
लोहारों की दहकती हुई भट्टियों से
भोर का आलोक फैला सके,
काष्ठशिल्पियों के रन्दों और बसूलों से

राजगीरों की छेनियों और हथौड़ों से
भोर का संगीत गुँजा सके।

नया वर्ष···
धोबियों के पाटों में,
मल्लाहों के डाँड़ों में
गति के घुँघरू बाँध सके।

नया वर्ष···
उन तमाम खेतों में गा सके
जहाँ हरी फ़सलें हों,
जहाँ पकी बालियाँ हों,
उन तमाम खलिहानों में नाच सके,
उन सभी घरों में सज सके
जहाँ अन्न की ढेरियाँ हों,
उन सभी दिलों में सो सके
जहाँ सुख और शान्ति हो।

नया वर्ष सब का हो
हर घर का, हर खेत का,
हर खलिहान का, हर दिल का।

× × ×

वे पत्तियाँ, जिन्हें कीड़े खा-खा कर चलनी कर देते हैं, उन पीली पत्तियोंसे कहीं बेहतर हैं, जो हवाके एक हल्के झोंकेमें ही डालका साथ छोड़ देती हैं :

नया वर्ष आस्था और विश्वासका वर्ष हो···

अपने बिखरे हुए केश समेट लो। दुःखी क्यों होती हो? इधर देखो, मैं चट्टान-सा निश्चल मौन खड़ा हूँ। मैं नहीं काँपता, वे लहरें काँपती हैं जिनमें मेरा अक्स देख रही हो;

नया वर्ष प्यार और शक्तिका वर्ष हो···

मन्दिरकी सीढ़ियोंपर एक नन्हा बालक मूँछ लगाये और हाथमें तीर कमान लिये खड़ा है :

नया वर्ष अत्याचारके दमन और धर्मकी विजयका वर्ष हो···

लड़ाई ख़त्म होनेके बाद मुर्ग़ोंने साथ-साथ चारा खाया और बोले : दोस्त! इस बार और देर तक लड़ेंगे जिससे और ज़्यादा चारा मिल सके। मालिकोंने समझा मुर्ग़े अभी तक गर्म हैं और लड़ रहे हैं :

नया वर्ष समझदारी और भाई-चारेका वर्ष हो···

जिस देशमें घोड़े नहीं होते वहाँ लोग कुत्ते जोतते हैं और बकरोंपर ज़ीन कसते हैं :

नया वर्ष उद्यम और समझौतेका वर्ष हो···

जब कुछ नहीं दिखाई देता तब मैं लेखनी और तूलिका उठाता हूँ और मुझे लगता है जैसे मैं सबको दिखाई देने लग गया होऊँ :

नया वर्ष कला और साहित्यका वर्ष हो···

मैं अँधेरेमें लिखी इबारत हूँ, जिसके शब्द एक दूसरे पर पड़ गये हैं, मात्राएँ टूट गयी हैं, पंक्तियाँ टेढ़ी हो गयी हैं, विराम-चिह्न खो गये हैं :

नया वर्ष दर्द, गहराई और तन्मयताका वर्ष हो···

रात-भर तुम सितारोंकी ओर देख सकते हो, लेकिन यदि तुम्हारा घर जल रहा हो तो तुम्हें दुन्दुभी बजानी पड़ेगी···तब तक जब तक तुम्हारे फेंफड़े फट न जायँ :

नया वर्ष प्रगति और ईमानदारीका वर्ष हो···

मेरा व्यक्तित्व तुम सबका हो सकता है, लेकिन मेरी एक परछाईं भी है जो मेरी अपनी है, महज़ मेरी अपनी है :

नया वर्ष व्यक्तिकी रक्षा और सामाजिक चेतनाका वर्ष हो···

तुम क़ागज़ पर पड़ा हुआ अदृश्य 'वाटर-मार्क' हो जिसे दृश्य बनानेके लिए किसी रोशनीके छाननेकी ज़रूरत है :

नया वर्ष आत्मविश्लेषण और आम-जागरूकता का वर्ष हो···

× × ×

एक बौने ने
लम्बी डोर में
कंकड़ बाँध कर
ऊँची डाल पर लगे
फलों की ओर फेंका :

निशाना चूका,
साधन सिर आ पड़ा,
लोग हँसे, फौव्वारा छूटा लहू का।
लेकिन विवशताओं
और असफल प्रयासों के बीच
हर दर्द आशा की शक्ति बढ़ा जाता है,
काल नहीं थकता…
बौना फिर सिर उठाता है,
फलों से लदी डाल पर टकटकी लगाता है,
साधन का उपयोग
फल-प्राप्ति संयोग,
कभी तो होगा ही,
कभी तो होगा ही…
हर वर्ष आता है
आँखें पोंछता है
फिर दोहराता है
जाता है।

मेरी कामना है कि यह वर्ष बौने के साधन और असफल प्रयासों के संघर्ष का वर्ष न हो :

× × ×

आज घर के किसी कोने से ढूँढ़-ढाँढ़ कर
ऐंठे हुए तार का बना

छोटे-छोटे खुले मुँहों वाला
यह भूखा लँगड़ा धूपदान
बहुत दिनों बाद फिर मेज़ पर
दिखाई दे रहा है,
और उखड़ी हुई कील जड़ कर
न जाने कब से झुके हुए टँगे इस चित्र को
सीधा कर दिया गया है,
ताकि मुझे यह लगे
कि नया वर्ष आ गया है
ताकि मैं यह अनुभव करूँ
कि एक तरतीब, एक व्यवस्था
अपनी सीमाओं के भीतर
एक सजावट ही मेरे जीवन का उद्देश्य है,
लेकिन न जाने क्यों
मेरे जी में आता है
कि मैं यह नया कलेंडर फाड़ दूँ
और उसी पुराने कलेंडर से
लिपट जाऊँ···

मगर
अपनी व्यथा क्या कहूँ
एक था गवाह, वह भी चल बसा—
वर्ष-भर
ठंडी दीवार से चिपका-चिपका सील गया···

जहाँ हवा मिली
वहीं फड़फड़ाया,
फटा चीथड़े हुआ
पर मुक्त नहीं हो पाया,
सारा रंग उड़ गया,
ऊपर-नीचे मुड़ गया,
क्रास पर
वर्ष-भर
काल का मसीहा झूलता रहा,
कोई भी परिवर्तन देख नहीं पाया,
एक-एक कर के
इतनी तिथियों की आँख
पथराती चली गयीं
अन्त में, एक पपड़े के साथ
गिरा, दफ़न हो गया···
पुरानी दीवार ने
सिर झुका मर्सिया पढ़ा।
लायी हो मसीहा आज फिर नये वर्ष का,
ख़ुश हो लो, आज के दिन विषय है यह हर्ष का,
लेकिन फिर इस का भी वही हाल होना है—
साथी न कोई रह पाया यही रोना है।
कैसी विडम्बना है—
दर्द भुगतने वाले से

दर्द का गवाह पहले चल देता है,
लेकिन मैं चुप हूँ,
मैं असहाय हूँ,
किसी अदृश्य शक्ति ने मेरे हाथ जकड़ लिये हैं
और मुझे तुम से दूर
बहुत दूर खींचे लिये जा रही है···
ओ मेरे वर्ष भर के साथी,
मुझे क्षमा करो—
मेरा प्रणाम लो :
मैं तुम्हारा हूँ,
तुम्हारा था,
और जिस दिन एक तरतीब
एक व्यवस्था, एक सजावट
दे सकूँगा, तुम्हारा हो कहाँ जाऊँगा
क्योंकि तुम्हारा यही आदेश था ।

नये वर्षके इस कलेंडरको इस आशासे मैं पुनः स्वीकार करता हूँ कि यह वह व्यवस्था देख सके जिसे देखनेकी लालसा लिये इसके इतने पूर्वाधिकारी चले गये ।

× × ×

इस समय रात उदास-सी सिर झुकाये बैठी हुई है और समीप है एक मौन दीप जो अपनी अशक्त किरणोंसे उसके चिन्ता-अंकित मस्तकपर लिख रहा है :

जीवन का वैभव

प्यार किया जाना नहीं
प्यार करना है,
पाना नहीं
देना है,
सेवा से वंचित रह कर भी
सेवा करना है,
अन्धकार में आवश्यकता के समय
दूसरों के लिए सहारे की सशक्त बाँह फैलाना है,
और संघर्ष के क्षणों में
किसी भी दुर्बल आत्मा के लिए
शक्ति का साधन बनना है :
जो इसे समझता है
वह जीवन की समृद्धि को समझता है ।

× × ×

नये साल की शुभ-कामनाएँ ।

खेतों की मेड़ों पर धूल-भरे पाँव को,
कुहरे में लिपटे उस छोटे से गाँव को,

नये साल की शुभकामनाएँ ।

जाँते के गीतों को, बैलों की चाल को,
करघे को, कोल्हू को, मछुओं के जाल को,

नये साल की शुभकामनाएँ ।

इस पकती रोटी को, बच्चों के शोर को,
चौके की गुनगुन को, चूल्हे की भोर को
नये साल की शुभकामनाएँ ।

वीराने जंगल को, तारों को, रात को,
ठंडी दो बन्दूकों में घर की बात को,
नये साल की शुभकामनाएँ ।

इस चलती आँधी में, हर बिखरे बाल को,
सिगरेट की लाशों पर फूलों-से ख्याल को,
नये साल की शुभकामनाएँ ।

कोट के गुलाब, और जूड़े के फूल को,
हर नन्हीं याद को, हर छोटी भूल को,
नये साल की शुभकामनाएँ ।

उन को, जिनने चुन-चुन कर ग्रीटिंग-कार्ड लिखे
उनको, जो अपने गमले में चुपचाप दिखे,
नये साल की शुभकामनाएँ ।

बनजारेका गीत

१

कौन कह रहा बनजारों-सा यह जीवन बेकार है—
मैं सब का हूँ, सब मेरे हैं, सब से मुझ को प्यार है।

चाँद और तारों की छत है
दिशा-दिशा दीवार है,
सारी धरती मेरा आँगन
पूरब-पश्चिम द्वार है,

बहुत बड़ी ज़िम्मेदारी है बहुत बड़ा परिवार है,
सब के हित मधुकरी हमारी, सब के लिए सितार है,
कौन कह रहा, बनजारों-सा यह जीवन बेकार है—
मैं सब का हूँ, सब मेरे हैं, सब से मुझ को प्यार है।

जंगल, नदियाँ, पर्वत, झरने
मुझ को रहे पुकार हैं,
कुंज-कुंज बैठी ख़ामोशी
मुझ को रही निहार है,

इन लम्बी सूनी सड़कों से ही मेरा व्यवहार है,
दिशा-दिशा में मेरी ही पगध्वनि का बन्दनवार है।

कौन कह रहा बनजारों-सा यह जीवन बेकार है—
मैं सब का हूँ, सब मेरे हैं, सब से मुझ को प्यार है।

सब पर मेरी आशाएँ—
सब पर मेरा एतबार है,
आगे बढ़ते जाना मेरे
जीवन का व्यापार है।

कहाँ समय है, बैठूँ सोचूँ कौन जीत क्या हार है,
मेरी यात्रा का तो हर काँटा करता शृंगार है,
कौन कह रहा बनजारों-सा यह जीवन बेकार है—
मैं सब का हूँ, सब मेरे हैं, सब से मुझ को प्यार है।

२

जिस तरुवर की छाँह घनी हो, उस तरुवर के नीचे डेरा,
सुन कर के पग-चाप जहाँ खुल जायँ द्वार समझो घर मेरा।

एक दिवस कट जाय चैन से
कुल मेरा इतना सपना है,
हँस कर जो दो रोटी दे पर
राह न रोके, वह अपना है।

पैर पसर पाएँ जितने में बस उतना ही मेरा घेरा—
जिस तरुवर की छाँह घनी हो उस तरुवर के नीचे डेरा।

अर्द्धरात्रि में अपनी वंशी
टेर सकूँ, इतने का प्यासा,

जो मस्तक सहला दे उस का
नाम ले सकूँ, यह अभिलाषा,
रंग भर सकूँ उस आँचल में जिस के नीचे मिले बसेरा—
जिस तरुवर की छाँह घनी हो उस तरुवर के नीचे डेरा।

सम्बन्धों के अधिकारों पर
जो पर काट न दे जीवन के,
मुक्त गगन में छोड़ सके जो
डोर बाँध कर आकर्षण के,
मैं उस के पिंजड़े का पंछी, मैं उस के आँगन का फेरा—
जिस तरुवर की छाँह घनी हो उस तरुवर के नीचे डेरा।

३

सुबह कहेगी दुनियाँ तुम से बनजारे का प्यार क्या ?
साथ छोड़ कर जाने वाले सपने का एतबार क्या ?

धूप बुलायेगी तुम को
बैठी शिरीष की छाँह तले,
चोटी गूँथ बोल बोलेगी
दुखनी पछवा बुरे-भले।
शीश झुका कर सभी करोगी पर तुम अस्वीकार क्या ?
साथ छोड़ कर जाने वाले सपने का एतबार क्या ?

नख से खींचोगी रेखाएँ
आँसू झरा करेंगे,

घाव हृदय का आने जाने
वाले हरा करेंगे।
सूनी मचिया भला सकोगी फिर तुम कभी निहार क्या ?
साथ छोड़ कर जाने वाले सपने का एतबार क्या ?

खींच सामने की रोटी
फिर उड़ जायेगा कागा,
धूल सूँघता फिरता होगा
बछड़ा कहीं अभागा।
भूखी मैना तोड़ सकेगी पिंजड़े की दीवार क्या ?
साथ छोड़ कर जाने वाले सपने का एतबार क्या ?

ठंडी हो जाएँगी किरनें
सूरज गिर जायेगा,
आले पर का दीप देख कर
अन्तर घबरायेगा।
सूनी शय्या भला करोगी फिर तुम अंगीकार क्या ?
साथ छोड़कर जाने वाले सपने का एतबार क्या ?

अच्छा हो यदि सोच-समझ कर
मुझ को वहाँ पुकारो,
बाँध नहीं पाओगी मुझ को
ओ नन्ही दीवारो !
अपनी राह चले जाने का यहाँ नहीं अधिकार क्या ?
साथ छोड़ कर जाने वाले सपने का एतबार क्या ?

गीत प्यार के मेरे
बस इकतारे तक रहते हैं,
मेरे संग मेरी यात्रा के
हर सुख-दुख सहते हैं।
पार गाँव की सीमा के जो आये पूछे प्यार क्या ?
साथ छोड़ कर जाने वाले सपने का एतबार क्या ?

४

धरती के प्यारे धरती से न्यारे
हम चौड़ी छाती वाले बनजारे।

वीराने में हम
आबादी बोते,
आँधी पै मस्तक
रख-रख कर सोते,
मुट्ठी में मेरे हैं चाँद-सितारे।
हम चौड़ी छाती वाले बनजारे।

झूले बिजलियों के
मस्ती की डालें,
मौत भी आए
दो पैंग झुला ले,
तूफ़ान चाहे तो हम से हारे,
हम चौड़ी छाती वाले बनजारे।

फौलादी बाहें,
शोख़ निगाहें,
मोड़ दे चाहें,
जिस ओर राहें,
क़िस्मत चलेगी हमारे इशारे
हम चौड़ी छाती वाले बनजारे ।

सावन का गीत

नीम की निबौली पकी, सावन की ऋतु आयी रे।
सर-सर सर-सर बहत बयरिया
उड़ि-उड़ि जात चुनरिया रे,
खुलि-खुलि जात किवँरिया ओठँगी
घिरि-घिरि आत बदरिया रे,
भुइयाँ लोटि-लोटि पुरवाई बड़ी-बड़ी बुँदियाँ लायी रे।
नीम की निबौली पकी, सावन की ऋतु आयी रे।
दादुर मोर पपीहा बोले
बोले आँचल धानी रे,
खन-खन खन-खन चुरियाँ बोलें
रिमझिम रिमझिम पानी रे,
डाल-डाल पर पात-पात पर कोइलिया बौराई रे।
नीम की निबौली पकी, सावन की ऋतु आयी रे।
दिन-दिन नदिया बाढ़न लागी
छिन-छिन आस बिलानी रे,
राह-डगर सब पानी-पानी
नैया चलत उतानी रे,
बेदरदी परदेस बसे हैं हूक करेजवा छायी रे।
नीम की निबौली पकी, सावन की ऋतु आयी रे।

झूले का गीत

धरती डोलूँ अम्बर डोलूँ हाथ न उन के आऊँ रे।
हरी चूड़ियाँ, हरी चुनरिया
हरी नीम की डाल रे,
मोर पिया बदरा बन हेरे झाँकूँ फिर छिप जाऊँ रे।
धरती डोलूँ अम्बर डोलूँ हाथ न उन के आऊँ रे।
दिशा-दिशा कजरी बन झूमूँ
पात-पात पुरवा बन चूमूँ,
हरियाली को इन्द्रधनुष की जयमाला पहनाऊँ रे।
धरती डोलूँ अम्बर डोलूँ हाथ न उन के आऊँ रे।
अंकुर दरसे, जियरा तरसे,
मोर पिया बदरा बन बरसे,
फुलगेंदवा चुन-चुन कर मारूँ अन्न बनूँ लहराऊँ रे।
धरती डोलूँ अम्बर डोलूँ हाथ न उन के आऊँ रे।

चरवाहों का युगल-गान

पुरुष स्वर—नदिया किनारे
हरी-हरी घास,
जाओ मत, जाओ मत,
यहाँ आओ पास :
बया घोंसला, मोर घरौंदा, बैठो चित्र उरेहो।
एहोऽ एहोऽ एहोऽ एहोऽ।

नारी स्वर—नदिया किनारे
सोने की खान,
छुओ मत, छुओ मत,
बड़ी बुरी बान,
बिछिया, झूमर, मुँदरी, तरकी लाओ कहाँ धरे हो।
एहोऽ एहोऽ एहोऽ एहोऽ।

पुरुष स्वर—नदिया किनारे
लग रही आग,
जल रहा सोना
जल रहा भाग,
एक बसुरियाँ, एक अंजोरिया बच रही सकल जरे हो।
एहोऽ एहोऽ एहोऽ एहोऽ।

नारी स्वर—नदिया किनारे
सपनों का गाँव,
चूनर ला दो
पडूँ तोरे पाँव,
मोरे हिया से लाल चुनरिया टारे नाहिं टरै हो।
एहोऽ एहोऽ एहोऽ एहोऽ।

पुरुष स्वर—नदिया किनारे
छल क बजरिया,
काली पड़ गयी
लाल चुनरिया,
इन्द्रधनुष की रिमझिम सारी पहिरो उमर तरै हो।
एहोऽ एहोऽ एहोऽ एहोऽ।

नारी स्वर—नदिया किनारे
चैन न पाऊँ,
जा रे बलम
तोरे पास न आऊँ,
आग बुझाओ चूनर लाओ झूठहि गरे परै हो।
एहोऽ एहोऽ एहोऽ एहोऽ।

आँधी पानी आया !

आँधी पानी आया
चिड़ियों ने ढोल बजाया !
काली टोपी लगा दिशाएँ
बजा रहीं शहनाई,
अमराई की पहन घँघरिया
नाच रही पुरवाई,
तरु-तरु ने शंख बजाया
धरती ने मंगल गाया
आँधी पानी आया
चिड़ियों ने ढोल बजाया !
नदियाँ नाचीं, नाले नाचे
नाची सूखी क्यारी,
बेसुध हो हरियाली नाची
ऊँचे चढ़ी अटारी,
बूढ़े मेंढक ने गाया
कुंजों ने साज सजाया
आँधी पानी आया
चिड़ियों ने ढोल बजाया !

उड़ी टीन उस कच्चे घर की
डाल नीम की टूटी,
नाली में छप्पर बह आया
भागी बीरबधूटी,
अंकुर ने शीश उठाया
बेघर किसान हरषाया
आँधी पानी आया
चिड़ियों ने ढोल बजाया !
'महल दुमहले तोड़-फोड़कर
बरसो राम धड़ाके से,
दे-दे गाली पाकड़ वाली
बुढ़िया मर गयी फाके से ।'
नन्हा बालक तुतलाया
खेतिहर ने गोद उठाया !

गीत रह गया लेकिन कोई…

गीत रह गया लेकिन कोई गाने वाला नहीं रहा ।
काला कफ़न बाँध कर
वीराने में फेंक सितार को,
चला गया है गायक मेरा
सुन कर किसी पुकार को,
स्वप्न रह गया लेकिन स्वप्न सजाने वाला नहीं रहा ।
सारे दीप बुझा कर
सारे वन्दनवार लुटा कर,
चला गया है झोंका कोई
मंगल कलश गिरा कर,
पन्थ रह गया लेकिन कोई आने वाला नहीं रहा ।
पथराये जाते हैं मेरे
आँगन के सब तारे,
काली पड़ती जाती हैं
मेरे घर की दीवारें,
दर्द रह गया लेकिन दर्द जगाने वाला नहीं रहा ।
गीत रह गया लेकिन कोई गाने वाला नहीं रहा ।

युग-जागरण का गीत

मैं उस क़लम का मालिक हूँ
जिस की नोक से
युग-जागरण का गीत लिखते समय
स्याही की बूँद
नींद में ढुलक कर गिर गयी है,
और ऊँघ-ऊँघ कर
इन तमाम लिपी-पुती रेखाओं में
इस युग का यथार्थ चित्र
अंकित कर गयी है,
जागने की बात मुझ से मत कहो,
सच्चा कलाकार
सोते-सोते ही
कला का सृजन कर जाता है,
ऐसी कला का—
जो सारे विश्व को जगा दे।
धत् तेरे परिश्रम की !
मुझे नींद आ रही है—
सोने दो,

मेरे सामने काग़ज़
और मेरे हाथ में
स्याही से भरी क़लम
रात-भर रहने दो,
सुबह आना :
तुम्हें युग-जागरण का गीत मिल जायगा
जो रात-भर
मेरे खर्राटों की गिटार पर
कसा गया होगा ।

ख़ाली समय में

बैठ कर ब्लेड से नाख़ून काटें,
बढ़ी हुई दाढ़ी में बालों के बीच की
ख़ाली जगह छाटें,
सर खुजलाय, जम्हुआयें,
कभी धूप में आयें,
कभी छाँह में जायें,
इधर-उधर लेटें,
हाथ-पैर फैलायें,
करवटें बदलें
दायें-बायें,
ख़ाली कागज़ पर क़लम से
भोंड़ी नाक, गोल आँख, टेढ़े मुँह
की तसवीरें खींचें,
बार-बार आँख खोलें
बार-बार मींचें,
खाँसें, खखारें
थोड़ा-बहुत गुनगुनाय,
भोंड़ी आवाज़ में
अख़बार की ख़बरें गायें,

तरह-तरह की आवाज़
गले से निकालें,
अपनी हथेली की रेखाएँ
देखें-भालें,
गालियाँ दे-दे कर मक्खियाँ उड़ायें,
आँगन के कौओं को भाषण पिलायें,
कुत्ते के पिल्ले से हाल-चाल पूछें,
चित्रों में लड़कियों की बनायें मूछें,
धूप पर राय दें, हवा की वकालत करें,
दुमड़-दुमड़ तकिये की जो कहिए हालत करें,

ख़ाली समय में भी बहुत-सा काम है
क़िस्मत में भला कहाँ लिखा आराम है।

ताँबेके फूल

मैं देख रहा हूँ—
एक बाँस की तीलियों-सा
कमज़ोर बढ़ा हुआ हाथ
फूलदानी के उन फूलों की ओर
जिन की परछाइयाँ
काले वृत्त बना-बना कर
इस दीवार-भर पर फैल गयी हैं।
मैं देख रहा हूँ
दो थकी हुई, भारी पलकों वाली
पुतलियाँ भी,
जहाँ इन फूलों का
नन्हाँ-सा अक्स चमक रहा है,
एक फीकी हल्की मासूम चमक के
झीने परदे के पीछे,
भावों के आरती-थाल में
मन के रंगीन, स्नेहसिक्त
पूजा के अछूते स्वप्न-फूलों के साथ,
जहाँ इन्हें पिरोया जा रहा है

जहाँ ये पूजा के फूल हैं—
पवित्र, ताज़े, सुन्दर पूजा के फूल।

लेकिन मैं सुन रहा हूँ—
खिड़की से आती हुई हवा के झकोरों के
कारण एक खड़खड़ाहट—
जैसे कोई हिंसक पशु
बहुत सावधानी से
किसी घनी झाड़ी में चल रहा हो—
एक दबी-दबी-सी
बेतरतीब खड़खड़ाहट
जो मुझ से कह रही है :
ये काग़ज़ के फूल हैं
नक़ली काग़ज़ के फूल।

किन्तु मैं समझ रहा हूँ
उन आँखों को पथराया हुआ देख कर समझ रहा हूँ,
उन फूलों को छू कर
फिर ऐंठ कर गिरे हुए मुर्दा हाथ को देख कर समझ रहा हूँ,
उन अकड़ी ठण्डी उँगलियों का
जिन का रक्त पानी हो गया है स्पर्श कर समझ रहा हूँ,
कि वे ताँबे के फूल हैं—

ज़हरीले ताँबे के फूल
जिन्हें सोने का बनाया जायगा
पुतलियों के उलट जाने के बाद भी
कोरों में जमी हुई
उस आख़िरी आँसू की बूँद का
पानी चढ़ा-चढ़ा कर
जो पूजा के फूलों का शव धोने के बाद
बच रही है ।

घास काटने की मशीन

यह धरती
जो मृत्यु का इतना भयावह जाल ओढ़े पड़ी है,
जिस में इनसान क्या पशु तक
फँस जाने पर नहीं लौट पाते,
कल हरे-भरे 'लान' में बदल जायगी—
जहाँ पैंज़ी के फूलों से भी अधिक
सुकुमार बच्चे तितलियों के साथ
आँखमिचौनी खेलने लगेंगे।

महज़ मेरी इस तेज़ धार के कारण
मुझसे डरो मत—
कल सब की जड़ों को खुली धूप मिलेगी,
पीली कुम्हलाई दबी हुई
ये नन्हीं घास की पत्तियाँ भी
कल हरी-भरी हो कर
आकाश की ओर अपना सिर उठा सकेंगी,
उन्हें दबा कर, घोंट कर, मार डालने के लिए
कल ये बड़ी-बड़ी घास की जंगली झाड़ियाँ नहीं रहेंगी।

महज़ मेरी इस तेज़ धार के कारण
मुझ से डरो मत—
कल सब की गोद में
सुबह की ताज़ी ओस के मोती होंगे,
कल सब के शीश पर
सुनहरी किरनों का ताज होगा,
कल सब की आँखों में
इन्द्रधनुष तैरते होंगे,
कल सब बराबर होंगे।
महज़ मेरी इस तेज़ धार के कारण—

मुझ से डरो मत—
मुझ पर निरंकुश हो जाने का शुबहा मत करो,
क्योंकि मेरे ऊपर भी
इनसान के ही दो हाथों का बोझ है।
मैं केवल एक मशीन हूँ—
घास काटने की मशीन।

नीला अजगर

साँझ हो गयी—
ज़हरीले नीले अजगर-सा
धुआँ निकलने लगा
रसोई-घर की मटमैली चिमनी से,
जिसे देख कर—
चिर-परिचित भूखी गौरैय्या
चार अन्न के दानों के हित
लगी फुदक कर आने-जाने, शोर मचाने।
किन्तु उसे मालूम नहीं है
आँगन की पुष्पित क्यारी के बीच सरकता
एक दूसरा भूखा अजगर
उसे देख कर
स्वयं लगा है मुँह फैलाने, जाल बिछाने।
चौके में बरतन की खटपट
टुन-झन खुन-सुन,
बुझते नयनों की ख़ामोशी काँप रही है,
कुरद रहा है दुखी साँझ-सा उर का छाला,
इधर भूख से विकल पंख फर-फर करते हैं
उधर स्वाद-हित छुन-छुन करता गर्म मसाला,

पेट-पेट का इसे कहें
या भूख-भूख का यह अन्तर है,
एक ओर भूखी गौरैय्या
एक ओर नीला अजगर है।

पीस पैगाडा

एक लाश खड़ी कर के
दूसरी लाश उस के सिर पर लिटा दी गयी है,
ताकि उस की छाँह तले
ठंडक से ऐंठे हुए
दो बेहोश ज़हरीले साँपों के फन
एक ही कमल की पंखुरी पर
सुलाये जा सकें।
क्या कमाल है मेरे दोस्त !
काश कि तुमने इन साँपों के शरीर को
तितलियों के परों से और मढ़ दिया होता,
फिर तुम्हारी यह शान्ति
असली शान्ति-सी लगने लगती।
क्या फ़ौजी वर्दियों पर
बौद्ध भिक्षुओं का गैरिक वसन
नहीं ओढ़ा जा सकता था ?
टी' के आकार के पैगोडा के नीचे
भिक्षुओं का स्वांग
शायद कुछ और टिकाऊ हो पाता।
मुझे इस में एतराज़ नहीं है

कि तुमने शान्ति लिखते समय
एक दूसरे की ओर न देख कर
अपने रिवाल्वरों की ओर देखा,
मुझे इसमें भी एतराज़ नहीं है
कि तुमने करुणा और स्नेह से
एक दूसरे के सम्मुख सिर झुकाने के बजाय
अपने भारी फ़ौजी बूटों के ठोकरों की आवाज़ की,
मुझे इस में भी एतराज़ नहीं है
कि कुछ क्षणों तक भूल से
तुम क़लम को बन्दूक़ की तरह पकड़े रह गये,
मुझे इस में भी एतराज़ नहीं है
कि शान्ति लिखने के बाद
तुम एक क्षण को भी नहीं रुके,
तुम्हारे सिर ऊपर नहीं उठ सके,
तुम्हारे ओठों पर मुसकान नहीं आयी,
तुम तीर-से अलग-अलग दिशाओं में
अपना-अपना मुँह छिपा कर चले गये,
जहाँ तुम्हारी फ़ौजें तुम्हारा
इन्तज़ार कर रही थीं,

महज़ इस लिए—
कि मुझे विश्वास है

कि तुम्हारी आँखों के सामने
पिकासो का शान्ति-कबूतर ही था,
जिसे अगली बार युद्ध-क्षेत्रों में
मार्च करते हुए विशाल टैंकों पर
तुम सुन्दरता के साथ
लगाने की बात सोच रहे थे,
और यह भी सोच रहे थे
कि किस तरह शान्ति-कबूतर छाप
बन्दूक़ें और मशीन-गनें ढाली जाँय,
महज़ इस लिए—
कि मुझे विश्वास है
कि तुम्हारी आँखों के सामने
विशालकाय 'लिबर्टी स्टेचू' ही था
जिसे अगले युद्ध के समय
'एटम बम' से भरे हुए तहख़ानों पर
तुम और भव्य रूप से
स्थापित करने की बात सोच रहे थे,
ताकि उस के प्रकाश के घेरे में
बड़े-बड़े युद्ध के जहाज़ लंगर डाल सकें,
और यह भी सोच रहे थे
कि किस प्रकार
'लिबर्टी' छाप बैज

सिपाहियों की वर्दी में टाँके जा सकते हैं ।
क्योंकि राम का नाम लेने से जब पापी तर जाते हैं
तो क्या शान्ति का नाम रटने से
युद्ध नहीं रुक सकेंगे ?
ज़रूर मेरे दोस्त !
मेरी बधाई स्वीकार करो,
और इस बार यदि फिर
'पीस पैगोडा' बनाना पड़े
तो बौद्ध भिक्षुओं के गैरिक वसनों को न भूलना,
क्यों कि उन ढीले चोगों के नीचे
बड़ी-बड़ी आटोमेटिक राइफ़लें तक
आसानी से छिपायी जा सकती हैं ।

कलाकार और सिपाही

वे तो पागल थे—
जो सत्य, शिव, सुन्दर की खोज में
अपने-अपने सपने लिये
नदियों, पहाड़ों, बियाबानों, सुनसानों में
फटे-हाल, भूखे-प्यासे
टकराते फिरते थे,
अपने से जूझते थे,
आत्मा की आज्ञा पर
मानवता के लिए
शिलाएँ, चट्टानें, पर्वत काट-काट कर
मूर्तियाँ, मन्दिर और गुफाएँ बनाते थे।
किन्तु ऐ दोस्त!
इन को मैं क्या कहूँ—
जो मौत की खोज में
अपनी-अपनी बन्दूकें, मशीन-गनें लिये हुए
नदियों, पहाड़ों, बियाबानों, सुनसानों में
फटे-हाल, भूखे-प्यासे
टकराते फिरते हैं,
दूसरों की आज्ञा पर

चन्द पैसों के वास्ते
शिलाएँ, चट्टानें, पर्वत काट-काट कर
रसद, हथियार, एम्बुलेंस, मुर्दागाड़ियों के लिए
सड़कें बनाते हैं।
वे तो पागल थे,
पर इन को मैं क्या कहूँ ?

बेबी का टैंक

लोहे की चरखी
चकमक से रगड़ खा कर
चारों ओर चिनगारियाँ
उगलने लगी,
रबड़ की दाँत वाली पट्टियों के सहारे
फ़र्श पर
कूक-भरा टैंक चलने लगा,
एन्टी टैंक रेजीमेंट के
एक फ़ौजी अफसर ने
स्नेह-भरे स्वर में
अपने बच्चे से पूछा—
'बेबी, टैंक कैसा यह लगता है तुम को ?'
'पापा, बहुत बुरा है,
बिस्कुट लादने की कहीं जगह ही नहीं है इस में।'
और इतना कह कर
बच्चा खिलौनों की आलमारी से
एक कूक वाली मालगाड़ी उठा लाया,
और उस में बिस्कुट और लेमनचूस भर कर
फ़र्श पर चलाने लगा।

कोई भी उपयोगिता
उस क्षण उस टैंक की
अपने बच्चे को वह नहीं समझा सका
एक फीकी हँसी हँस अपनी बीबी से बोला
'देखो, बेबी अभी से कितना एन्टी टैंक है ।'

आटे की चिड़िया

सुरख़ाब, मुर्ग़ाबी, तीतर
बटेर, जंगली कबूतर
रस्सी में बँधे झूलते देख कर
बच्चा रसोईघर में भाग
माँ की पीठ से चिपक गया
आटे की चिड़िया उसने मुट्ठी में कस ली
और सहमे स्वरों में धीरे से बोला—

"माँ क्या पापा मेरी चिड़िया भी मारेंगे ?"
"धत् पगले ! पापा वह चिड़िया मारते हैं जो उड़ती हैं ।"
"चिड़िया तो मेरी भी उड़ती है," बच्चा बोला,
और "यह देखो" कह कर
आँगन में बाहें फैला कर चारों ओर दौड़ने लगा ।

जाने क्यों माँ की आँखें छलछला आयीं —
शायद चूल्हे की लकड़ियाँ गीली रही हों,
क्योंकि मेरा विश्वास है
कमरे के रेडियो से आती
उद्जन बम के नये परीक्षणों की ख़बरें
उसने नहीं सुनी होंगी ।

सिपाहियों का गीत

बीर-वधूटी के बूटेवाली घास पर ये काले टैंक नहीं जाने दूँगा।
उस छोटी क्यारी में सोये मधुमास पर ये काले टैंक नहीं जाने दूँगा।

खुले हुए दरवाज़े,
सूने वीराने घर,
अँधियारी से चिपके
देख रहे आँखें भर,
खाई में धड़क रही इनसानी साँस पर ज़हरीले बम नहीं बरसाने दूँगा।
बीर-वधूटी के बूटेवाली घास पर ये काले टैंक नहीं जाने दूँगा।

यह अधबुना स्वेटर
यह शादी का स्लीपर,
यह बटुआ, यह गाउन,
उलटी कुरसी भू पर,
भय से ठण्डी इस ख़ामोशी की लाश पर बन्दूकें तुम्हें नहीं लाने दूँगा।
बीर-वधूटी के बूटेवाली घास पर ये काले टैंक नहीं जाने दूँगा।

यह ऐनक, यह मफलर,
यह बासी न्यूज़ पेपर,
यह लकड़ी की टाँगें
कहतीं देखो ऊपर,

परवशता में घुटती लावारिस साँस पर वायुयान नहीं मँडराने दूँगा।
बीर-वधूटी के बूटेवाली घास पर ये काले टैंक नहीं जाने दूँगा।

गमलों में बच्चों के जूते-टोपे छूटे,
पार्कों में पेराम्बुलेटर पड़े टूटे,
संगीनों में बिस्कुट के टुकड़े हैं चिपके
झाँक रहे फुलवारी से खिलौने छिप के,

अब भी जाना हो जाओ मेरी लाश पर, दूर हटो, पास नहीं आने दूँगा।
बीर-वधूटी के बूटेवाली घास पर ये काले टैंक नहीं जाने दूँगा।
उस छोटी क्यारी में सोये मधुमास पर ये काले टैंक नहीं जाने दूँगा।

थरमस

बाहर तो महज़ शोख़ भड़कीला रंग है
सामर्थ्य का प्रदर्शन है, बेलौस काया है।
भीतर असहाय रिक्तता है—
शून्य है, निर्वात है,
काँच-सा नाज़ुक दुर्बल मन है।

फिर भी यदि हम
ठंडक में ठिठुरती, गुर्राती
वहशी हवा के थपेड़ों से
अपने अन्तर का सरल स्नेह-ताप बचा लें,
जीवित रख लें
करुणा के हिमखंड
इस अग्निवर्षा में भी
अपने वेष्टित भरण से,
तो यह नगण्य अस्तित्व तक हमारा
किसी के कन्धे पर भार नहीं होगा—
थरमस से हम सब
हर महायात्रा के
प्यासे क्षणों का
अभिलाष-भाल चूमेंगे।

सुबह हुई

सुबह हुई—
धरती के सुनहरे चिकने फ़र्श पर,
हरी मटर का गोल बड़ा दाना लुढ़कने लगा;
और उस के पीछे-पीछे, भूरे पंख फड़फड़ाता,
गौरैय्ये का एक बच्चा
अपनी नन्हीं-सी सुर्ख़ चोंच खोल कर
बार-बार पकड़ने का असफल प्रयास करता फुदकने लगा।

साँझ हुई—
दूर आकाश के पीले रेगिस्तानी टीलों पर,
भूखे शिथिल ऊँट,
सुर्ख़ क्षितिज की ओर ऊपर सिर उठाये
पीठ पर चारा लादे,
किसी ओझल पड़ाव की ओर थके-माँदे
काले प्रश्नचिह्नों से रेंगने लगे।

सुबह से शाम तक में—
निज का प्रयत्न परवशता में बदल गया :
पेट इतना बढ़ गया

कि उस की ही चिन्ता में
सामने का चारा पीठ पर लादना पड़ा ।
आप इसे प्रगति कहें !
मेरे लिए
स्वावलम्बी गौरैय्ये का बच्चा ऊँट हो गया ।

पोस्टर और आदमी

मैं अपने को, नन्हा-सा, दबा हुआ
विशालकाय-बड़े-बड़े पोस्टरों
के अनुपात में खड़ा देख रहा हूँ—
जिन की ओर
एक भीड़
देखती हुई
गुज़र रही है
हँसती, गाती, उछलती, कूदती—
एक तेज़ी, एक भाग-दौड़,
एक धक्कमधुक्का, एक होड़
जिन के चारों ओर है
मगर वे चुप हैं :
उन सब के मुख पर एक ही भाव है,
उन की सब की एक ही मुद्राएँ हैं
रंगों से भरे-पुरे चटकीले, भड़कीले,
सब के आकर्षणों के केन्द्र
वे सब एक ही जगह पर खड़े हैं—
पोस्टर—विशालकाय पोस्टर—
लोग उन्हें देख कर हँसते हैं

मुँह बनाते हैं, सीटियाँ बजाते हैं,
उदास हो जाते हैं
औरतें उन्हें देख कर मुसकराती हैं,
होंठ दबाती हैं,
आँखों-आँखों में बात करती हैं,
बच्चे टा-टा करते हैं,
खुश होकर चिल्लाते हैं,
तोतली बोली में बुलाते हैं :
और मैं उन के सामने
नन्हा-सा दबा हुआ खड़ा हूँ
बेजाना, बेपहचाना,
इस प्रतीक्षा में कि शायद
कभी कोई भूली हुई दृष्टि
मुझ पर टिक जाय,
शायद कोई मुझे आवाज़ दे,
शायद किसी की सूनी निगाह
मुझे देख कर शोख़ हो जाय,
शायद कोई—शायद कोई
मुझे पहिचाने—मुझे बुलाये :
लेकिन मैं देखता हूँ
कि आज के ज़माने में
आदमी से ज़्यादा लोग
पोस्टरों को पहचानते हैं,

वे आदमी से बड़े सत्य हैं।

पोस्टर

जो दूसरे की बात कहते हैं,
जिन में आकर्षण है लेकिन जान नहीं,
जो चौराहों पर खड़े रहते हैं,
सब की राह रोकते हैं, सब को टोकते हैं,
लेकिन किसी से कोई मतलब नहीं रखते,
जिन में दिल, दिमाग़, आत्मा, कुछ भी नहीं है,
महज़ रंग—गहरा, भड़कीला रंग है,
जिन के हृदय नहीं है पर प्यार का सन्देश देते हैं,
जो एक आकार हैं, महज़ आकार
जिस की कोई सीमा नहीं है—
जिन के भाव दूसरे के हैं,
जिन की मुद्राएँ,
जिन के हाथ-पैर, नाक-कान
आँख, मुँह, दिल, दिमाग़,
सब दूसरों के हैं;
जो पोस्टर हैं—
महज़ पोस्टर हैं—
वे आज के युग में
आदमी से अधिक बड़े सत्य हैं
उन्हें सब पहिचानते हैं,
वे ही महान् हैं।

ख़ाली जेबें, पागल कुत्ते और बासी कविताएँ

आओ दोस्त—
जलती दोपहरों में
चौराहे पर खड़े हो कर चिल्लायें—
"लाये हैं हम
ख़ाली जेबें
पागल कुत्ते
और बासी कविताएँ।"

ख़स की टट्टियों में आग लगा दें,
बर्फ़ की गाड़ियाँ सड़कों पर उलट दें,
कोल्ड ड्रिंक, आइस क्रीम,
रेफ़्रीजरेटर, थरमस, फ़ैन,
ठंडे सुगन्धित बिस्तरे
तहख़ानों और बन्द कमरों से निकाल कर
गलियों में फेंक दें,
ढेले मार कर
हर कार वाले को रोकें,
गरदन पकड़ कर उस की ज़ोर से हिलाएँ
उसकी हर चीख़ पर

पुचकारें, खिलखिलायें,
उस का भारी पर्स
जेब से निकाल कर
उस के क्लीन शेव गालों पर दे मारें,
सिर के चिकने ठंडे बाल पकड़ कर
आहिस्ता से महज़ इतना समझायें
कि हम भी रईस थे :
फ़र्क इतना ही था
कि छल और फ़रेब की,
झूठे हिसाब-किताब की
हमने इल्लत नहीं पाली थी,
इसी लिए तुम से अपनी जेब कटवा ली थी,
और अब हमारे लिए
हर तरफ़ दिवाली है,
क्योंकि जेब ख़ाली है,
चाँदनी, धूप,
सब हमारे लिए एक हैं,
सड़क की तपती
ये पटरियाँ गीत हैं
हम सब जिस की टेक हैं,
झुकी हुई, हाँफती, ठेले खींचती-सी
ये जलती दोपहरें
हमें ही दोहराती हैं,

हमारे गीत गाती हैं,
हमारी फटी जेबों के
झंडे उठाती हैं,
नारे लगाती हैं।

आओ दोस्त !
जलती दोपहरों में
चौराहे पर खड़े हो कर चिल्लायें,
ख़ाली जेबों की कुछ करामात दिखायें।

[२]

होटलों, रेस्ट्राँ, क्लबों, सिनेमा-घरों में
अपने ये पागल कुत्ते छोड़ें;
ताकि ये,
लिपस्टिक लगे हुए विकृत चेहरे
देख कर भौंकें—
···झबरे अधकटे बाल,
खुले अंग, तेज़ चाल,
फूलदार गहरे रंगवाले कपड़े,
चेहरे से पाउडर के छूटते हुए पपड़े,
हल्के, सतरंगे छाते,
धूप के चश्मे-तले
फूलों के मक़बरे आते-जाते,

देखें,
और उन पर झपटें;
ताकि वे
चीख़ें, चिल्लायें
नक़ली छाते, चश्मे,
रूज, लिपस्टिक, शीशेवाले हैंडबेग,
नकली बाल, नेल पालिश,
चुस्त सिल्केन ब्रेसियर्स के पैकेट
फेंक-फेंक उन्हें मारें
और गलियों में घुस जायें
दायें, बायें,
ऊपरी तड़क-भड़क के
ये कफ़न फाड़ कर
अन्तर के सौन्दर्य की लाश देखें,
उस पर आँसू बहायें,
सच्चे प्यार को समझें,
क्षणिक, उत्तेजक वासनाओं के नाम पर
सिर पटकें,
हाथ मलें, पछतायें ।

आओ दोस्त !
ढलती दोपहरों में
चौराहों पर खड़े हो कर चिल्लायें—
पागल कुत्तों का कुछ जादू दिखलायें ।

[२]

सड़क के किनारे पड़ी बेंचों पर
बैठ कर गायें ।
एक प्याली चाय पर
कला और साहित्य का मापदंड बदलें,
हँसे, ठहाके मारें,
मरियल बुद्धि के अखाड़े में उतरें,
पैतरें बदलें, चाल चलें,
बिल दे हाथ मलें ।
मुट्ठी बन्द कर के
सब की औक़ात देखें,
बैरे की टिप उधार करें,
रेडियो, अख़बार,
किताबों की दुकान झाँके,
नये पुराने सभी लेखकों की सूची
याद करें,
जीवन को समझें कम
ज़्यादा समझायें,
संघर्षों के हर हमले से भागें,
सपनों के क़िले में
भाग कर छिपें,
बासी कविताओं की तोपें लगायें
आज के समाज और जीवन की विकृतियों से

काठ की तलवारें ले कर लड़ें,
जिसे नहीं जानते
उस को गाली दें,
कला के नाम पर
बाज़ारों में घूमें,
अपनी टूटी हुई
बौखलायी परछाईं चूमें—

आओ दोस्त !
बुझती दोपहरों में चौराहों पर खड़े हो कर चिल्लायें,
बासी कविताओं का क़रिश्मा दिखायें।

बुरा मत मानिए,
अपनी तरह ही आप हम को भी जानिए,
हाथ की सफ़ाई वाले बाजीगर
नहीं हैं हम,
आदमी सच्चे हैं,
हम में आप में फ़र्क इतना ही है,
कि जिन के सहारे लहरों से लड़ रहे हैं हम
वे घड़े कच्चे हैं।
फिर भी हमारा अटल विश्वास है
कि ख़ाली जेबें
सोने की तिजोरियों पर
कफ़न बन जायेंगी;
पागल कुत्ते,

पास नहीं आने देंगे
खोखली सभ्यता को
थोथी बनावट को;
बासी कविताएँ
कलाकार का झूठा दम्भ मिटा देंगी,
दुनिया के प्रगति-पथ पर
सूखे हुए ठूँठ से
युग-निर्माता कवि, कलाकार,
सिर झुकाये, पथराये,
ईंधन बनने की प्रतीक्षा में,
खड़े होंगे।

आदमी को आदमी बनायेंगे हम,
ख़ाली जेबें, पागल कुत्ते और बासी कविताएँ ले कर
नक़शा बदल देंगे आज के ज़माने का।
···आप का ही नक़शा यह
आप को चौंकाता है ?
दोष इसमें भला किस का
जो दम्भी कुरूप बौना दर्पण फोड़ जाता है।

आओ दोस्त !
चौराहे पर खड़े हो कर चिल्लायें—
लाये हैं हम
ख़ाली जेबें, पागल कुत्ते और बासी कविताएँ।

तेज़ी से जाती हुई···

तेज़ी से जाती हुई कार के पीछे
पथ पर गिर पड़े
निर्जीव, सूखे, पीले पत्तों ने भी
कुछ दूर दौड़ कर गर्व से कहा—

> 'हम में भी गति है
> सुनो, हम में भी जीवन है,
> रुको, रुको,
> हम भी साथ चलते हैं—
> हम भी प्रगतिशील हैं !'

लेकिन उन से कौन कहे :
प्रगति पिछलग्गूपन नहीं है
और जीवन आगे बढ़ने के लिए
दूसरों का मुँह नहीं ताकता ।

सामाजिक अभिव्यक्ति

कमल आत्मनिष्ठ है
अहं से भरा,
सतह से ऊपर उठ कर
अकेला डोलता है।
सीप परिधि-धर्मी
तलवासी
सतह ज्ञान रहित
गहराई चूमता है।

ओ भाई!
आओ बनें काई—
सतह पर फैलें,
स्वयं को व्यापकता दें—विस्तार दें,
जन्म दिया है जिसने
सच्चे अर्थ में उस जल को तार दें।

सरकंडे की गाड़ी

एक सरकंडे की गाड़ी है
जिस में मेढक जुते हुए हैं,
मच्छर शहनाइयाँ बजा रहे हैं,
लाल चींटे सवार हैं :
ओ, अरे ओ, अपना शीश झुकाओ,
आज के युग की सवारी निकल रही है।
हँसो मत—
इन सरकंडों की पोल में
इस युग के विश्वासों की शक्ति की स्थिरता है।
मेढकों की आपसी सामयिक टर्र-टर्रमें
मानवता के बादलों की छाँह।
इन की ही पीली-हरी पोस्टरनुमा पीठ पर
अजन्ता एलुरा के कलाकारों का
अमर सौन्दर्य-स्वप्न।
मच्छरों की नींद-भरी मधुर शहनाइयों में
बुद्ध, ईसा, गान्धी का देवत्व।
लाल चींटों की इस रेंगती हुई सवारी में
सत्य की टोह—
अपने सत्य की टोह

एक विवशता, एक खिंचाव
बरबस किसी गन्ध का ।
अपनी आँखें बदलो—
सौन्दर्य ही सौन्दर्य है,
अपने विचार बदलो
सत्य ही सत्य है,
अपनी अनुभूति बदलो
शिव ही शिव है ।
ओ, अरे ओ ! अपना शीश झुकाओ,
डरो मत कि वह लटका ही रह जायगा
और तुम
इस संगीत के पत्थरों से बने राजमार्ग के किनारे
निर्जीव केले के टूटे हुए ठूँठ की तरह
एक प्रश्न-चिह्न बन जाओगे ।
ओ, अरे ओ ! फूल चढ़ाओ,
डरो मत, कि अंजलि झूल जायगी
और उँगलियों की पोरों से
फटी हुई नसों का पानी टपकने लगेगा ।
क्योंकि तुम,
आज के युग के कलाकार हो,
इस सवारी के ठेकेदार
अपना उत्तरदायित्व सँभालो—
आकाश की ओर मत देखो

चाँद के रथ के हिरन मर गये हैं,
धरती की ओर मत देखो
शेषनाग का फन कुचल दिया गया है,
उठो—
इन मेढकों से अपना धर्म सीखो
और इस सरकंडे की गाड़ी से अपनी प्रगति।

कॉफ़ी-हाउस में एक मेलोड्रामा

कॉफ़ी की मेज़ पर बैठ कर
एक भारी सिर ने
मोटे शीशे के चश्मे से
एक मक्खी और बुलेट को
साथ-साथ देखा—
धड़कते निस्पृह स्पन्दनों
और लोहे की जेबों में
छिपी हुई बारूद की
असंगति का विश्लेषण कर
वह जहाँ पहुँचा
वह मानव-संस्कृति के विकास की
ठंडी ज़मीन थी,
जहाँ हर दर्शन क्रास ले कर खड़ा था;
जहाँ हर साक्रेटीज़ का ज़हर का प्याला
इनसानियत की ढाल बन कर
टँगा हुआ था;
जहाँ लाशों के खम्भों पर
माइक्रोफ़ोन बाँध कर
भावी आस्था

ज़िन्दगी के लटके गा-गा कर
मृत्यु का चूरन नहीं बाँट रही थी;
जहाँ मानव-प्रगति की
नक़ली दौड़ के लिए
लकड़ी की टाँगें नहीं गढ़ी जा रही थीं;
जहाँ रूसो की
समता, बन्धुत्व और स्वतन्त्रता वाली
एक छोटी-सी दुकान थी
जिसे हटा दिया गया था
लेकिन जिस की ठंडी दीवार पर
अब भी 'गरम चाय' लिखा रह गया था;
जहाँ मार्क्स का
एक छोटा-सा अखाड़ा था,
जिस में क्रान्ति का सबक़ रट लेने के बाद भी
अपने ही हाथों में तलवार थाम कर
अपनी ही लाश को झुला लेने का
वहशीपन ज़रूरी नहीं था;
जहाँ आत्महत्या की क्रान्ति के
मरणशील नारे नहीं थे,
जहाँ मानव-आत्मा पर विश्वास था;
जहाँ मानव-हृदय के लिए सहानुभूति थी;
जहाँ मानव-मस्तिष्क की
शिक्षा के साधनों पर बल था।

वह चिल्लाया—
"बचो, उन से बचो
जो मुर्दा हाथ गिन कर
युग-निर्माण की घोषणा कर रहे हैं !
बचो, उन से बचो
जो लकड़ी की टाँगों पर दौड़ कर
मानव-प्रगति का इतिहास लिखने में लगे हैं !"

इसे सुन कर—
थोथे अहंकी स्प्रिंग पर कसे हुए
कठपुतलियों की तरह के इनसान
जिन में मोर्चा लग गया था—
उचके ।
उन के असली चेहरे छिपे हुए थे,
और उन्होंने देवताओं और सन्तों के
नक़ली चेहरे लगा रखे थे ।
उन्होंने बुलेट से मक्खी पर शह दी,
लेकिन इस से पहले कि वे 'मात' चिल्ला पायें
उन की गरदन उचकी की उचकी रह गयी—
उन की स्प्रिंग टूट गयी,
वे सोडावाटर के कार्क की तरह
ज़ोर से उछले
और छत से टकरा कर गिर पड़े;

उन्होंने बूढ़ी रीढ़ की हड्डियों के
टूट जाने की शिकायत की;
उन्होंने साधना और परम्परा की दुहाई दी;
और सारा दोष उस सिर को दिया
जिसने उन के साथ
काफ़ी की मेज़ पर बैठ कर
यह भोंडा दृश्य देखा था
और उस पर चिल्लाया था।
उन्होंने भी चिल्लाने की ज़रूरत समझी :
वे चिल्लाये —
अहं ज़िन्दाबाद !
सत्ता ज़िन्दाबाद !
वीरपूजा ज़िन्दाबाद !
लेकिन जाने क्यों
उन की गरदनों पर थमे हुए उन के सिर
तेज़ हवा में नाचती हुई फिरकी की तरह
चक्कर काटने लगे—
हवा तेज़ चलने लगी है
उन्होंने अनुभव किया
और झट मेज़ के नीचे छिप गये—
इस डर से कि कहीं
उन की कीलें उखड़ न जायें
जिन पर वे नाचते आ रहे हैं।

उसने राजनीति की काफ़ी के
इस हल्के तीखे घूँट को
गले से उतार लिया,
तभी मेज़ की चम्मच पर
उसे किन्हीं दो बुझी हुई बड़ी आँखों का
अक्स दिखाई दिया,
जो उस की प्रतीक्षा कर रही थीं—
वह देर तक
उस अक्स को देखता रहा, देखता रहा
और न जाने कब
उस ठंडी चम्मच को
फटी जेब में दबा कर चला गया।

मेज़ पर बुलेट
अब भी रखी थी,
मक्खी चारों ओर
चक्कर काट रही थी,
मेज़ के नीचे से
नक़ली चेहरे
अवसर की ताक में झाँक रहे थे
और मोटे शीशे का चश्मा
दोनों हाथ ऊपर उठाये
असहाय औंधे मुँह पड़ा था।

सूने दरवाज़े
तेज़ हवा में
विद्रूप हँसी हँसते कह रहे थे—
"वह आदमी है
और आदमियों की रहनुमाई करता है
उसे सन्तों की दूकान से
निरर्थक पूजा नहीं ख़रीदनी है।"

चुपाई मारौ दुलहिन

चुपाई मारौ दुलहिन
मारा जाई कौआ ।

(१)

दे रोटी ?

गयी कहाँ थी बड़े सबेरे
कर चोटी ?

लाला के बाजार में,
मिली दुअन्नी
पर वह भी निकली खोटी,
दिन भर सोयी,
बीच बाज़ार में बैठ के रोयी,
साँझ को लौटी
ले खाली झौआ ।

चुपाई मारौ दुलहिन
मारा जाई कौआ ।

(२)

दे धोती ?

दिन भर चरखा कात
साँझ को क्यों रोती ?

सूत बेच कर
पी आये घर में ताड़ी,
छीन लँगोटी,
काटी बोटी-बोटी,
किस्मत ही निकली खोटी,
ऊपर नेग माँगते हैं
ये बाभन-नौआ।

चुपाई मारौ दुलहिन
मारा जाई कौआ।

(३)

दे छानी ?

सुना कि तूने की
सरकारी मेहमानी ?

खूब कहा !
बाढ़ में सब घर-द्वार बहा,

आध-आध गज़ कपड़ा पाया
और सेर भर आटा,
तीन-चार दिन किसी तरह
घर-भर ने मिल कर काटा,
दाने-दाने को मोहताज,
घूम रहे हैं बे-घर आज,
तीन रुपये इमदाद मिली है
ऊपर तीस बुलौआ ।

चुपाई मारौ दुलहिन
मारा जाई कौआ ।

(४)

दे पैसा ?

थी बीमार ?
अरे, यह रूप हुआ कैसा !

मेले में दूकान की
माचिस बीड़ी पान की,
कुछ तो खा गये हाकिम-उमरा
कुछ खा गये सिपाही,
बाकी बचा टैक्स भर आयी
ऐसी हुई तबाही,

ब्याह की हँसुली गिरौ धरी है
थी बस एक चढ़ौआ।

चुपाई मारौ दुलहिन
मारा जाई कौआ।

(५)

दे गीता ?

लगे कोर्स में
ऐसा क्या हो गया सुभीता ?

हाथ में थैली
और पैर पर टोपी धर
फैलाते हैं सब अपना गोरखधन्धा,
आँख खोलने वाले को कहते अन्धा;
मैं भी दौड़ी
पास न थी पर कानी कौड़ी—
मुँह लटकाये मिले राह में
मुझे किशन-बलदेउआ।

चुपायी मारौ दुलहिन
मारा जाई कौआ।

(६)

दे आज़ादी ?

किस के बल पर
दुखिनी कहलाती शहज़ादी ?

गान्धीजी के चेला के ।
पड़ा अकाल, नहीं तो
पूछे जाते नहीं अधेला के,
बोली मारैं,
बात-बात में
गोली मारैं,
शोर मचाता घूमै
बच्चे ज्यों लूटें कनकौआ ।

चुपाई मारौ दुलहिन
मारा जाई कौआ ।

(७)

दे मौत ?

अरे बुलाता है क्या कोई
घर में सौत ?

मरद गड़ाँसा ले कर हो
गर रोज़ खड़ा,
चकला घूमै
सुनै न औरत का दुखड़ा,
जब-जब पान सुपारी दे
तब-तब मुँह पर गारी दे,
इस से अच्छा
रचा बरिच्छा
डूब मरै गंगाजी में कह
आया राम-बुलौआ।

चुपायी मारौ दुलहिन
मारा जाई कौआ।

दो नेक सलाहें

अपने को असमर्थ कहने से पूर्व
दूसरों में यदि उन की असमर्थता जगा दो
तो तुम समर्थ हो।
सामर्थ्य—आज स्वयं कर्म करने का नहीं
दूसरों को अकर्मण्य बनाने का नाम है।
यदि तुम हर नाव के पेंदे में छेद कर दो
तो तुम भव-सागर पार माने जाओगे।



सीधे, अकड़े खड़े
घने छतनारे तरु-समूह के बीच
यदि तुम टेढ़े हो कर
सब से ऊपर निकल जाओ
तो तुम सारे दृश्य के मुकुट बन जाओगे।
सब की तरह आकाश की ओर
सिर उठाये रहने से अच्छा है
किसी भी दिशा में अपना मस्तक झुका दो।
क्योंकि—
सब के साथ रह कर भी
जो सब से अलग दिख सके
वही इस समस्त दृश्य-जगत् का पिता है।

सौन्दर्य-बोध !

अपने इस गटापारची बबुए के
पैरों में शहतीरें बाँध कर
चौराहे पर खड़ा कर दो,
फिर चुपचाप ढोल बजाते जाओ,
शायद पेट पल जाय—
दुनिया विवशता नहीं
कुतूहल ख़रीदती है।

भूखी बिल्ली की तरह
अपनी गरदन में सँकरी हाँड़ी फँसा कर
हाथ-पैर पटको,
दीवारों से टकराओ,
महज़ छटपटाते जाओ,
शायद दया मिल जाय—
दुनिया आँसू पसन्द करती है
मगर शोख़ चेहरों के।

अपनी हर मृत्यु को
हरी-भरी क्यारियों में
मरी हुई तितलियों-सा

पंख रंग कर छोड़ दो,
शायद संवेदना मिल जाय—
दुनिया हाथों-हाथ उठा सकती है
मगर इस आश्वासन पर
कि रुमाल के हल्के से स्पर्श के बाद
हथेली पर एक भी धब्बा नहीं रह जायगा।

आज की दुनिया में,
विवशता,
भूख,
मृत्यु,
सब सजाने के बाद ही
पहचानी जा सकती हैं।
बिना आकर्षण के
दुकानें टूट जाती हैं।
शायद कल उन की समाधियाँ नहीं बनेंगी
जो मरने के पूर्व
कफ़न और फूलों का
प्रबन्ध नहीं कर लेंगे।

ओछी नहीं है दुनिया :
मैं फिर कहता हूँ
महज़ उस का
सौन्दर्य-बोध बढ़ गया है।

आत्म-साक्षात्कार

फिर बहुत दिन बाद—
सामने की रेंड़ चटकी,
हिला सरपत का भुआ,
डुगडुगी नीलाम-घर की
चुप हुई,
सिर उठा कर किसी मँगते ने
मुझे दी दुआ।
आ गयी मुझ को स्वयं की याद,
फिर, बहुत दिन बाद।

छोड़ कर अपना कृत्रिम यह साथ,
मुड़ चला मैं स्वयं से मिलने;
घने कुहरे से ढँकी
वीरान वादी में
दबे पैरों आ गया मैं,
रुँधे बाड़े तोड़ कर
शक्ति-भर मैंने पुकारा :
कोटरों में फड़फड़ाये पंख,
अँधेरी छाया लगी हिलने,,
लड़खड़ाने लगी मेरी साँस,

सिर झुका, सन्ध्या लगी फिरने,
'मैं नहीं हूँ शेष'—
अरअरा कर चेतना की डाल टूटी,
'नहीं, अब नहीं मैं रहा'—
चीख़ कर मुख ढाँप छायाएँ गिरीं।
तभी चरमराये द्वार—
अन्धगृह-वासी,
मौन संन्यासी,
बढ़ा बाहें खोल,
शून्य टटोल-टटोल,
काँपते स्वर में लगा कहने—
रुका जल जैसे लगा बहने :

'आ गये तुम :
कभी आओगे
बस इसी विश्वास पर
डाल से था टँका पीला पात।
सुनो, अब जिया जाता नहीं,
नित्य के इस स्वाँग से
मैं थक गया हूँ,
हो सके तो बस करो;
साँस मेरी घुट रही है
कहो तो चेहरे लगाना छोड़ दूँ,

अभी कब तक चलेगा अभिनय तुम्हारा ?
क्या हमारी लाश को भी
नाटकी पोशाक पहना कर नचाओगे ?
बुरा मत मानो—
मैं नहीं कहता कि जीवन मत जियो,
सभी जीते हैं,
तुम्हें भी पड़ेगा जीना
जानता हूँ,
किन्तु कुछ ऐसा करो,
पैर रखने की जगह तो हो,
एक अंगुल भूमि भी ऐसी मिले
जहाँ मैं जो हूँ
वही बन कर खड़ा रह सकूँ,
सिर उठाऊँ,
एक क्षण को ही सही—
सत्य जो समझूँ
उसे देखूँ, सुनूँ, कह सकूँ।

'बात क्या मैंने बड़ी कह दी ?
आज इतना भी असम्भव है ?
दूसरों की दृष्टि से ही
तुम्हें ख़ुद को देखना
इतना ज़रूरी है ?

मैं नहीं कुछ रहा ?
इस लिए मैं पूछता हूँ यह
कि शायद ज्ञात तुम को
यह न हो—
मैं आज अन्धा हूँ—
क्यों कि तुम,
सदा अनदेखी कराते रहे;
मैं आज बहरा हूँ—
क्योंकि तुम
अनसुनी करता रहूँ इस के लिए
मजबूर करते रहे;
और अब—
पैरों तले का साँप तक
मुझ को दिखाई नहीं देता,
मरण-शय्या की पुकारें,
अनाथों की चीख,
लावारिस कराहें
कुछ सुनाई नहीं देतीं ।
अब यहाँ रहना न रहने की तरह है ।
इधर देखो
डाल का यह टँका पीला पात
हवा लग कर
खड़खड़ाता है—

मैं तो मनुज हूँ ।
क्षमा कर देना मुझे,
मैं नहीं यह लहू मेरा बोलता है,
क्योंकि तुम
होठ मेरे सिल चुके हो,
और अन्तःकरण की आवाज़ तक
गिरवी रख आये हो ।
क्या करूँ ?
ठठरियों में साँस है जब तक—
कहीं से आवाज़ आयेगी,
तुम न जागो, तुम्हारी मर्ज़ी,
किन्तु यह तुम को जगायेगी;
और जिस दिन
इसे बेचोगे,
मैं नहीं हूँगा—
और तुम भी रहोगे ? शायद !'

इसे सुन कर
झुका कर सिर
मैं चला आया,
दीप जैसे
स्वयं अपनी ही समाधि
पर जला आया;

लगा, चिल्लाऊँ
ज़ोर से शक्ति-भर
इस बुझी वीरान वादी में—
"सभ्य हूँ मैं :
ज़माना जैसा बनायेगा बनूँगा,
...कहाँ जाऊँ ?"

पर न जाने क्यों
बोल मैं पाया नहीं,
गला मेरा रुँध गया :
छा गया बेहद घना अवसाद—
फिर बहुत दिन बाद ।

प्लेटफ़ार्म

सीटी हुई,
कुछ देर इंजिन
खड़ा सूँ-सूँ करता रहा,
अन्त में आवाज़ क्रमशः बढ़ती गयी,
एक झटके के साथ गाड़ी चली–

बहुत देर तक
तेज़ होते हुए इंजिन की आवाज़
आती रही···आती रही···आती रही,
और फिर, धीरे-धीरे,
घटती हुई···खो गयी ।

प्रगति का इतना ही
इतिहास मैं जानता हूँ ।

क्योंकि हर बार अन्त में
मैं···महज़ मैं
एक सूना प्लेटफ़ार्म,
निर्जन ख़ामोश पड़ा रह गया हूँ,
यही कहने के लिए
कि एक ट्रेन आयी थी
रुकी थी

चली गयी;
शायद फिर आयेगी
रुकेगी
चली जायेगी;
क्रम यह लगा रहा है,
क्रम यह लगा रहेगा,
लेकिन हर क्षण स्वागत,
हर दूसरे क्षण प्रतीक्षा ने
कुछ मुझ को ऐसा कर दिया है
कि लगता है
मैं ही गतिवान हूँ,
गाड़ियाँ जड़ और बेलौस खड़ी हुई हैं—
मैं ही महज़
आता हूँ···जाता हूँ···आता हूँ···जाता हूँ
मैं—मैं, सूना प्लेटफ़ार्म।

* * *

दरवाज़ों की पलकें आधी मुँद गयी हैं,
पटरियाँ लम्बी शहतीर-सी पसरी हैं,
पुल जाने कब से औंधा पड़ा हुआ है,
बोझा लादने की तो पहिये वाली गाड़ी तक
अपनी पीठ खोल कोने में दुबक गयी है
दोनों भुजाएँ फैलाये
लकवे के मरीज़-सी

ख़ाली बेंचें कितनी गहरी नींद में हैं,
रोशनी तक
आँखें खोल कर सो रही हैं,
लेकिन मुझे जागना है,
क्योंकि आधी रात को
कोई मालगाड़ी
नींद में झूमती, हचकोले खाती
शायद आ कर ठहर जाय,
सोते हुए उस के अनगिन डिब्बों में से
शायद कोई खुले,
शायद कुछ ऐसा मिले
जिसे कल सुबह होने पर
दूसरों को देना हो।

* * *

मैंने अपने सम्पूर्ण जीवन में
एक बात सीखी थी
कि हिमालय-सा भी अनन्त बोझ
अपनी पसलियों पर लाद कर
निश्चिन्त सो सकूँ,
किन्तु जाने क्यों
आज एक छोटे-से पीले बेज़बान काग़ज़ ने
जो कहीं से
मेरी पसलियों पर आ गिरा था

मेरा दम घोट दिया ।
क्योंकि वह
इस बात का गवाह था
कि मैं भी बिका हूँ,
मेरी भी एक क़ीमत है
जिसे चुकाये बिना
कोई मेरा नहीं हो सका,
और जिसे चुका कर
हर एक ने यह समझा
कि कुछ क्षणों के लिए
उसने मुझे ख़रीद लिया है ।
कैसी विडम्बना है
कि वे जो गतिशील हैं
उन के विश्राम के क्षणों का भी मूल्य
मेरी जड़ आत्मा के नाम पर लगता है ।

* * *

ले जाओ—
लजाती-शरमाती
सजी हुई वधुओं को,
किलकते-उछलते
फूलों-से बच्चों को,
सीटियाँ बजाते

झूम कर चलते युवकों को
मेरी पलकों पर से
ले जाओ,
शायद गिरती आँसुओं की बूँदें टूट जायँ।

ले जाओ—
अन्न की भारी-भारी बोरियों को,
कपड़ों की कसी हुई
बेडौल गाँठों को,
पुस्तकों के
नरम लकड़ी वाले बक्सों को
मेरी पसलियों पर से
ले जाओ,
शायद दिल की ये धड़कनें कम हो जायँ।

ले जाओ यन्त्रों को, मशीनों को,
खोये वैज्ञानिकों को,
कवियों को, दार्शनिकों को,
थके राजनीतिज्ञों को,
निश्छल सरल सन्तों को
मेरे अंग-प्रत्यंग पर से
ले जाओ।
शायद खिंचती रगों का दर्द कम हो जाय।

क्योंकि कल
यदि मैंने सुना—
कहीं मेरे आस-पास
सुख है, शान्ति है,
सृजन है, निर्माण है,
प्रगति है, विकास है,
तो मैं अपनी
इस निरर्थक आत्मा को भी
एक अर्थ दे लूँगा ।
अनुभव करूँगा—
इस सब के साथ
कहीं मैं भी बँधा था,
कहीं मेरा भी योग था ।

सब कुछ कह लेने के बाद

सब कुछ कह लेने के बाद
कुछ ऐसा है जो रह जाता है,
तुम उस को मत वाणी देना ।

वह छाया है मेरे पावन विश्वासों की,
वह पूँजी है मेरे गूँगे अभ्यासों की,
वह सारी रचना का क्रम है,
वह जीवन का संचित श्रम है,
बस उतना ही मैं हूँ,
बस उतना ही मेरा आश्रय है,
तुम उस को मत वाणी देना ।

वह पीड़ा है जो हम को, तुम को, सब को अपनाती है,
सच्चाई है—अनजानों का भी हाथ पकड़ चलना सिखलाती है,
वह यति है—हर गति को नया जन्म देती है,
आस्था है—रेती में भी नौका खेती है,
वह टूटे मन का सामर्थ है,
वह भटकी आत्मा का अर्थ है,
तुम उस को मत वाणी देना ।

वह मुझ से या मेरे युग से भी ऊपर है,
वह भावी मानव की थाती है, भू पर है,
बर्बरता में भी देवत्व की कड़ी है वह,
इसी लिए ध्वंस और नाश से बड़ी है वह,
अन्तराल है वह—नया सूर्य उगा लेती है,
नये लोक, नयी सृष्टि, नये स्वप्न देती है,
वह मेरी कृति है
पर मैं उस की अनुकृति हूँ,
तुम उस को मत वाणी देना ।

मैंने कब कहा

मैंने कब कहा कि मेरा धर्म है
मर्म सहला कर व्यथा सुला देना—
मैंने कब कहा कि कवि का कर्म है
पिचके गुब्बारों को गैस भर फुला देना !

यह तो वह करते हैं
जो असत्य के चश्मे
आँख पर चढ़ा कर बस हरा-हरा देखते हैं,
यह तो वह करते हैं
जो सूखी बालू पर
प्यासे बवण्डरों-सा मृगजल लेखते हैं।

मैं नया कवि हूँ—
इसी से जानता हूँ
सत्य की चोट बहुत गहरी होती है;
मैं नया कवि हूँ—
इसी से मानता हूँ
चश्मे के तले ही दृष्टि बहरी होती है,
इसी से सच्ची चोटें बाँटता हूँ—
झूठी मुसकानें नहीं बेचता।

सत्य कहता हूँ
चाहे मर्म झकझोर उठे,
आँखें छलछला आय,
क्योंकि आहत दुर्बलता भी
एक बार दर्प से शीश उठा देती है
मुट्ठियाँ भींच कर
सूखी शिराएँ तानती है,
वज्र से भी टूटी पसलियाँ अड़ा देती है।

यदि दुर्बलता दर्प में बदल जाये,
व्यथा अन्तर्दृष्टि दे,
खण्डित आत्माएँ
संचित कर सकें शक्ति की समिधाएँ
जो जल कर अग्नि को भी
गन्ध-ज्वार बना दें,
तो मैंने अपना कवि-धर्म पूरा किया :
चाहे मर्म सहलाया न हो, कुरेदा हो।

काठ की घंटियाँ

बजो
ओ काठ की घंटियो !
बजो ।

मेरा रोम-रोम देहरी है
सूने मन्दिर की—
सजो,
ओ काठ की घंटियो,
सजो ।

शायद कल
टूटी बैसाखी पर चल कर
फिर मेरा खोया प्यार
वापस लौट आये ।
शायद कल
प्रकाश स्तम्भों से टकरा कर
फिर मेरी अन्धी आस्था
कोई गीत गाये ।
शायद कल
किसी के कन्धों पर चढ़ कर

फिर मेरा बौना अहं
विवश हाथ फैलाये ।

जितनी भी ध्वनि शेष है
इन सूखी रगों में,
तजो,
ओ काठ की घंटियो,
तजो ।

शायद कल,
मेरी आत्मा का निष्प्राण देवता
अपने चक्षु खोल दे ।
शायद कल,
हर गली अपना घुटता धुँआ
मेरी ओर रोल दे ।
शायद कल,
मेरे गूँगे स्वरों के सहारे
कोटि-कोटि कंठों की खोयी शक्ति बोल दे ।

दर्द जितना भी
फूट रहा हो, समेट कर,
मँजो,
ओ काठ की घंटियो,
मँजो ।

बजो,
ओ काठ की घंटियो,
बजो ।

मेरा रोम-रोम देहरी है
सूने मन्दिर की—
सजो,
ओ काठ की घंटियो,
सजो ।
बजो,
ओ काठ की घंटियो !
बजो ।

सोया हुआ जल

[लघु उपन्यास]



क्यारियों के उन फूलों को
जिन का रंग
अन्धकार के कारण
हम-तुम
उस रात नहीं पहचान सके थे ।

बूढ़ा पहरेदार

रात। अँधेरेमें सोया हुआ तालका जल। नाचती हुई रोशनी के पीले हरे फूल। खट···खट···। एक काली परछाईंका तालके जल पर से रेंग जाना।

समीप स्थित यात्रिशालाके बरामदेमें पसरी हुई रोशनी, थके हुए क़हक़हे, उभरा हुआ शोर-गुल। बूढ़े पहरेदारका बरामदेकी बेंच पर, फटे हुए बरानकोटको लाठी पर टिका, नाल-जड़े पुराने जूतोंको नीचे खिसका, सिर घुटनोंमें छिपाकर गुड़ी-मुड़ी होकर बैठ जाना।

'पहरेदार आ गया!' कोई भोंड़ी आवाज़।

'बूढ़ेने बड़ी उम्र पायी है।' एक बेफ़िक्र हँसी।

लेकिन वह उसी तरह निश्चेष्ट, जड़वत् घुटनोंमें मुँह छिपाये बैठा रहा।

यात्रिशाला

'थ्री क्लब्स!' एक भारी आवाज़।

'फ़ोर डायमण्ड्स!' एक और भारी आवाज़।

'सुन तो लो मेरा अफ़साना···'गला दबाकर एक भोंड़े खिंचावके साथ गाना।

'लेकिन मोटी है! मोटी लड़कियाँ···।' एक क्षणकी ख़ामोशी, फिर दबी हुई खिलखिलाहट।

'रायल का···रायलका खाना सबसे अच्छा···!' एक तेज़ आवाज़।

'वहाँ प्री-बुकिंग होती है। अभीसे सीट···समझे?' एक चुनौतीकी तेज़ आवाज़।

'···बिना पैसेका इश्क···धत् तेरेकी!' एक ज़ोरका क़हक़हा।

'मैं···मैं कहता हूँ यह ले···ले···लेनिन का कथन है—आखिर सर्वहा···हा···हा···रा···!' एक ग़ुस्सेमें तमकती हुई तेज़ आवाज़।

'क्यों भाईजान! अभीसे सोने लग गये?' एक मीठी चुटकी।

'र र रा, र र रा, त र र र रा; देख बे, नाट ठीक है?' फिर मुँहसे उसी ट्यूनमें सीटी बजानेकी आवाज़!

'बीयर भी कोई ड्रिंक है? वाह तीसमार खाँ···' एक नशेमें लड़खड़ाती हुई बेहूदा हँसी।

बूढ़ा पहरेदार फिर बैठ गया। यात्रिशालाके बीचकी गैलरीसे, जिसके दोनों ओर कमरे थे, वह एक चक्कर लगा आया था। उसके कानोंमें विभिन्न कमरोंसे आते हुए ये अधूरी बातोंके टुकड़े, किसी तेज़ बवंडरमें पड़े पीपलके सूखे पत्तोंकी तरह चक्कर काट रहे थे और उसके मस्तिष्ककी फटती रगोंसे, ये तरह-तरहकी आवाज़ें, शोर-गुल, क़हक़हे, समुद्रकी लहरोंकी तरह टकराते जा रहे थे!

उसने लोहेकी बेंचकी ठंडी छड़ पर अपना गर्म माथा टिका दिया।

सीढ़ियों पर

'आजका भी सारा परिश्रम व्यर्थ रहा।' एक भारी पुरुष-स्वर। अँधेरे और उजालेकी सन्धि-रेखा पर खड़ी हुई एक थकी लम्बी ढीली आकृति। दूर दसके घंटेकी आवाज़ कुछ सोयी हुई-सी। समीप लम्बे यूकिलिप्टसके पेड़ पर दर्द-भरे पंखोंकी फड़फड़ाहट।

'दो-एक दिन और सही। तुम काफ़ी थक गये होगे। चलो तुम्हारे लिए चाय बना दूँ। मेरी तो रग-रग दर्द कर रही है। ये चन्द सीढ़ियाँ ही पहाड़ मालूम पड़ रही हैं।' किसी हल्के रंगकी साड़ीमें लिपटी हुई एक दुबली-पतली आकृतिका उठा हुआ मुख, थकी हुई, नारी कंठकी आवाज़।

'मैं तो तुमसे कबसे कह रहा हूँ, लेकिन तुम हो कि मानती ही नहीं। चलो कल शामको एक्सप्रेससे घर लौट चलें। हर आदमी अपनी ज़िन्दगीका ज़िम्मेदार ख़ुद होता है। जो पत्थरोंमें चलने पर ही आमादा हो उसे ठोकरें लगेंगी ही।'

'लेकिन—राजेश—' नारी-स्वर धीमा होकर खो गया। पुरुषके कन्धे पर एक क्षण उसने अपना मस्तक टिका दिया।

'मेरी विभा—यही सही। चलो।' पुरुषका स्नेह-भरा स्वर एक गहरी साँसमें डूबा हुआ।

राजेशने विभाको सहारा दिया। दोनों फिर चले। बरामदा पार कर कमरेमें प्रवेश कर गये।

बूढ़े पहरेदारने घुटनोंमेंसे सिर उठाया और निर्निमेष दृष्टिसे सामने कमरेकी ओर देखता रहा।

हरी रोशनी

कमरेमें हरी रोशनी जल उठी। और दरवाज़ेके शीशोंसे छन कर बरामदेमें पड़ने लगी। बूढ़े पहरेदारके जीमें आया, काश वह इस बिखरी हुई रोशनीको अपनी मुट्ठियोंमें समेट लेता! उसने ठिठुरे हुए हाथ अपनी फटी हुई जेबोंमें डाल लिये।

'हर रोशनी तुम पर फबती है। तुम्हारा सौन्दर्य दुगुना हो जाता है। तुम्हारी हलकी बैंगनी साड़ीका रंग देखो, कितना और गहरा हो उठा है।'

राजेशकी आवाज़ आयी।

'इसके अर्थ यह हुए कि वह वास्तविकताको उभरने नहीं देती। उसे दबा देती है।—पुरुषके प्यारकी तरह।' विभाने उत्तर दिया।

हरी रोशनी—पुरुषके प्यारकी तरह। विभाने गुलगुले तकिये में मुँह छिपा लिया और रज़ाई खींच ली।

हरी रोशनी—सौन्दर्यको उभारनेमें समर्थ। राजेशने मेज़ पर बैठ कर कोहनियोंमें मुँह छिपा लिया और एक-टक उठे हुए काले घुँघराले केशोंमें दमकता हुआ विभाका रूप निरखने लगा।

'तुम अभी नहीं सोओगे? आज बहुत थके हो—आज काम मत करो।'

'तुम सो जाओ। बोलो मत। ऐसी ही पड़ी रहो। अपना रूप मुझे देखने दो। आज कहीं कुछ नया लग रहा है। थकान उतर रही है। बस दो एक घंटेमें मैं सब ज़रूरी चिट्ठियोंका जवाब लिख दूँगा। फिर—'

'जाओ !' विभाने रज़ाईसे मुख ढाँप लिया और राजेशने मुसकराकर क़लम उठा ली।

थोड़ी देरकी गहरी ख़ामोशीके बाद :

'आखिर यह प्यार क्या है जिसके नाम पर घर-द्वार, समाज, सब कुछ छोड़कर तुम्हारे ये भाई साहब कहीं भटक रहे हैं, और हम सब उनके पीछे-पीछे परेशान हैं; विवाहके पहले हम-तुम तो एक दूसरेको नहीं जानते थे, न एक दूसरेको प्यार ही करते थे। इससे हमारी ज़िन्दगीमें क्या फ़रक आ गया ? सच बताओ। क्या हम-तुम एक दूसरेको प्यार नहीं करते ? क्या किशोरके प्यारकी सीमा हमारे-तुम्हारे प्यारकी सीमासे बड़ी है ?' विभाने कहा।

'तुम यह सब दर्शन सोच रही हो या सो रही हो ?' राजेशने स्वरोंमें बनावटी कठोरता लाते हुए कहा।

'मुझे नींद नहीं आती, जब तक तुम काम करोगे मैं नहीं सोऊँगी।'

विभाने झल्लाकर रज़ाई ऊपरसे फेंक दी और उठ कर बैठ गयी।

'लेकिन—'

'लेकिन-वेकिन कुछ नहीं। तुम अपना काम करो। मैं बैठी हूँ।' विभा हथेलियोंमें सिर थाम कर बैठ गयी।

'इसके अर्थ यह होते हैं कि मुझे तुम्हें सुलाकर फिर काम करना होगा। जैसी तुम्हारी इच्छा।'

'नहीं, मैं आज तुम्हें काम नहीं करने दूँगी।' विभा मुसकराय।

राजेशने रोशनी बुझा दी। बूढ़े पहरेदारने देखा—बरामदेमें पसरी हुई रोशनी खो गयी।

हरी रोशनी—दूसरोंकी दया पर आश्रित। बूढ़े पहरेदारने फटी जेबोंसे हाथ निकाल लिया और फिर घुटनोंमें सिर छिपा कर बैठ गया। कमरा नं० २ की खिड़कियाँ खुली थीं और कुछ धीमी-धीमी फुसफुसाहटकी आवाज़ आ रही थी।

कमरा नम्बर दो

'बड़ा ग़ज़ब हो गया रतना! अभी मैनेजरके रजिस्टरमें दस्तख़त करते हुए मैंने देखा कि भैया, भाभी भी यहीं हैं। सामनेवाले कमरेमें टिके हुए हैं। अब क्या करें?' किशोरने घबरायी हुई आवाज़में कहा।

'रात आराम कर लो, फिर सुबह उठ कर उनसे पहले ही यदि तुम्हारी मर्ज़ी होगी तो हम लोग यहाँसे हट चलेंगे।' रतनाने उत्तर दिया।

'मेरी मर्ज़ी, गोया कि तुम्हारी मर्ज़ी कुछ है ही नहीं।' किशोरने झुँझला कर कहा।

'मेरी मर्ज़ी तो अब तुम हो न।' रतना मुसकरायी और प्यासी दृष्टिसे उसकी ओर देखने लगी।

'मैं जानता हूँ कि तुम्हें मेरे साथ इस तरह दर-दर भटकना अच्छा नहीं लगता है! बड़े बापकी बेटी हो। इतना कष्ट उठा सकना तुम्हारे बूतेके बाहर है। तो फिर जाओ, मुझे मेरे भाग्य

पर छोड़ दो ! मेरे लिए तुम क्यों मुसीबत उठाओगी ।' किशोर हाथमें सिर थाम कर मेज़ पर बैठ गया ।

रतनाने रज़ाई मुँह पर खींच ली और सिसकने लगी । काफ़ी देर तक गहरी ख़ामोशी रही । किशोर सिर थामे बैठा रहा और रतना रज़ाईमें पड़ी सिसकती रही ।

थोड़ी देर बाद···

'यही प्यार है तुम्हारा ? इसी प्यारकी तुम दुहाइयाँ देते थे ! कहते थे, प्यार मुसीबतोंको आसान बना देता है । प्यार अमर है, प्यार अनन्त शान्ति है, जीवन और जगत्के हर भयसे परे है । आज व्यंग्य करते हो । एक असहाय स्थितिमें मुझे छोड़कर व्यंग्य करते हो । मैं धनी बापकी बेटी हूँ इसमें मेरा क्या दोष है ? मैंने तुम्हारे साथ कौन-सी मुसीबत नहीं उठायी है और कौन-सी मुसीबत उठानेसे भागती हूँ ? फिर भी तुम···' रतना फूट-फूट कर रोने लगी ।

किशोर अपराधीकी भाँति रतनाके सिरहाने बैठ गया और रुँधे हुए कंठसे बोला :

'मुझे माफ़ करो··· इतनी कठोर मत होओ । मैं घबरा उठा हूँ । जितने पैसे तुम घरसे लेकर चली थीं सब ख़त्म हो गये । अब मैं क्या करूँ ? मेरी कुछ समझमें नहीं आता । मुझे कोई रास्ता नहीं दिखाई देता ।'

'वापस लौट चलो । मैं बाबूजीसे माफ़ी माँग लूँगी । वह मुझे फ़ौरन माफ़ कर देंगे । वे मेरे बिना नहीं रह सकते । मेरी वजहसे बहुत चिन्तित होंगे ।' रतनाने कहा ।

'लेकिन मैं भैया-भाभीको कैसे मुँह दिखाऊँगा ? नहीं, वह नहीं हो सकता ।'

'फिर जैसा तुम उचित समझो करो। डूब मरनेको कहोगे, डूब मरूँगी ।'

रतनाने निश्चिन्त-सी साँस लेकर करवट बदली और किशोर मेज़ पर, हाथोंमें सिर पकड़ बैठ गया ।

बूढ़े पहरेदारने कान खड़े किये । कमरेमें कोई आवाज़ नहीं थी, गहरी निस्तब्धता छा गयी थी । उसे एक हल्की झपकी आ गयी ।

पहली झपकी

काले पंखों वाले एक छोटे स्वप्नदूतने उसके सिर पर हाथ फेरा ।

'तुम्हारा माथा तो तप रहा है पहरेदार ?'

'तुम कौन हो ? इतनी रात गये यात्रिशालामें किस लिए आये हो ?' पहरेदारने कड़क कर पूछा ।

'मैं रोज़ आता हूँ। लेकिन तुमसे बिना मिले चला जाता था। आज तुम्हें बीमार देखकर तुम्हारे पास आ गया ।'

'तुम यहाँ रोज़ किसलिए आते हो ?'

'प्यासी आत्माओंकी शान्तिके लिए। जागता हुआ आदमी अपनेसे छल करता है, अपनेको धोखा देता है। अपनेको हज़ार बन्धनोंमें बाँधता है, हज़ारों नियमोंमें कसता है। लेकिन सो जाने

पर नियमों और बन्धनोंकी दीवारें टूट जाती हैं, छल और धोखे की परतें हट जाती हैं। फिर उसकी वास्तविक इच्छाओंकी तृप्ति करता हूँ। मैं स्वप्न हूँ। जागने पर जिसे जो कुछ नहीं मिलता नींदमें मैं उसे वह सब देता हूँ।'

'तुम्हारे साथ कौन है ?' बूढ़े पहरेदारने कुछ धुँधली आकृतियोंको देख कर पूछा।

'तुम स्वयं ही देखो।' काले पंखों वाले स्वप्नदूतने उत्तर दिया।

स्वप्न-दृश्य

'मोहन, मोहन' विभा अस्त-व्यस्त सोनेके कपड़ोंमें चुपचाप कमरेके बाहर निकल आयी।

'तुमने चाय तक नहीं पी, मुझे अकेले छोड़कर चुपचाप कहाँ चले जा रहे हो।'

विभाने रुँधे हुए गलेसे मोहनका हाथ पकड़ते हुए पूछा।

'तुम्हारे पति-देवताके आनेका समय हो गया। अब मुझे चलना ही चाहिए। तुम्हारी हरी-भरी गृहस्थीमें मैं आग नहीं लगाना चाहता!'

मोहनने उत्तर दिया और आगे बढ़ गया।

विभाने उसके गलेमें अपने बाहोंकी जय-माल डाल दी।

'अब इसी तरहकी बातें करना सीख गये हो। मैं तो तुमसे झूठ बोल रही थी। मैंने विवाह कहाँ किया ? देखो मेरे पैरमें बिछिया, मेरी माँगमें सिन्दूर, कहीं कुछ तो नहीं है। मैं तो महज़

तुम्हारे आनेकी प्रतीक्षा कर रही थी। तुम मज़ाक भी नहीं समझते, इतने भोले हो ?'

अचानक एक बड़ा-सा चित्र दीवार पर खिंच गया।

'यह तुम्हारा चित्र है। पसन्द है ? यह वही···यह वही नीला दुपट्टा है जिससे उस दिन तुमने मेरी आँखें बाँध दी थीं। इसे ओढ़ने पर तुम सचमुच कितनी अच्छी लगती हो।' मोहनने कहा।

विभाने मोहनका हाथ पकड़ा—किनारे पर लगी नावमें चढ़ गयी। नीला दुपट्टा उसके कन्धोंसे फिसलकर उसके पैरमें लिपट गया। वह गिरते-गिरते बची। मोहनने उसे कसकर बाँहोंमें बाँध लिया और दुपट्टा नावसे सरक कर लहरोंके साथ बह गया।

नाव धाराके साथ बह निकली।

'सुना था तुम्हारी शादी हो गयी है।' मोहनने पूछा।

'मैं शादी नहीं करूँगी। मुझे कहीं ले चलो, मैं तुम्हारे साथ रहूँगी।'

'मेरे साथ ? जिसके घर-द्वार, माँ-बाप, भाई-बहन कहीं कोई नहीं है, जो अनाथ है ? जो महज़ तूलिका चलाना जानता है और उलटे-सीधे चित्र बनाकर ज़िन्दगी गुज़ारता है, उसके साथ तुम रहोगी ! मैं इस लायक़ नहीं हूँ कि तुम्हें अपने साथ रख सकूँ। नहीं, तुम मेरे साथ सुखसे नहीं रह सकोगी।' मोहनने कहा। और नाव किनारेसे लगा दी।

'उतर जाओ।'

'मैं नहीं उतरूँगी।'

'मैं कहता हूँ उतर जाओ।'

'मैं नहीं उतरूँगी। नहीं, हरगिज़ नहीं।'

'तो फिर मैं नदीमें कूद पड़ूँगा...'

हरी रोशनी

बूढ़े पहरेदारकी झपकी अचानक ख़त्म हो गयी, आँख खुल गयी, सामने राजेशके कमरेमें फिर हरी रोशनी जल गयी थी। दरवाज़ेके शीशोंसे दिखाई दिया कि राजेश मेज़ पर बैठा कुछ लिख रहा है और विभा शान्त सो रही है।

पहरेदार उठ कर बरामदेमें टहलने लगा। उसे रह-रह कर चक्कर आ रहा था।

अचानक विभा चीख़ पड़ी। 'बचाओ, बचाओ' की अस्पष्ट ध्वनि पहरेदारने सुनी।

राजेशने मेज़ परसे फ़ौरन उठकर उसका हाथ छाती परसे हटा दिया। गोया नींदमें भी हृदयकी धड़कनोंका स्पर्श वर्जित है।

लेकिन विभाकी आँख खुल गयी थी।

'क्या कोई सपना देखा था? बहुत बुरी तरह चिल्ला रही थीं।' राजेशने पूछा।

'हाँ...नहीं...क्या सच चिल्ला रही थी मैं? तुम काम करनेमें लग गये थे क्या? बीमार पड़ जाओगे। सोते क्यों नहीं हो, तुम भी मेरा कहना नहीं मानते—नहीं मानते न मेरा कहना? अच्छी बात है। मैं...मैं कभी कुछ नहीं कहूँगी।' विभाने करवट बदल कर तकियेमें मुँह छिपा लिया और सिसकने लगी।

'बहुत घबड़ा गयी हो। कैसा सपना देखा था तुमने! ओवल्टीन बना दूँ?' राजेशने स्तम्भित होकर पूछा।

'नहीं, इतनी रात गये तुम काम न करो। मैं इसीलिए कहती थी कि मुनीमको ले चलो। दिन-भर दौड़ोगे, रात-भर काम करोगे। मुझे तुम्हारा रुपया-पैसा कुछ नहीं चाहिए। तुम्हारे सुखमें ही मेरा सुख है। मैं कितनी दफ़े कहूँ। मेरी बात तुम भी नहीं समझते। यदि तुम अपने ही मनकी करना चाहते हो तो मुझे किसी नदीमें बहा आओ। मुझे मार डालो। तुम भी मुझे मार डालो।' और इतना कहकर विभा फिर सिसकियाँ भरने लगी।

राजेशने घबरा कर रोशनी बुझा दी।

'तुम यह सब क्या अंड-बंड बक रही हो। लो सो जाओ, अब मैं काम नहीं करता। सोचा था कुछ ज़रूरी ख़त है निपटा लूँ। लेकिन तुझ पागलके मारे कुछ हो तब न। क्या सपना देखा था?'

'कुछ नहीं।' विभाने एक गहरी साँस भर कर उत्तर दिया और फिर नीरवता छा गयी।

बूढ़ा पहरेदार

बूढ़े पहरेदारने लाठी उठायी। फटा हुआ बरानकोट पहन लिया और एक चक्कर लगानेकी हिम्मत करने लगा। उसके पैर काँपने लगे। वह लड़खड़ाया। लेकिन चलता गया। दुर्बलताको उसने चुनौती दे दी। ग्यारहका घण्टा बजा। उसने माथेसे पसीना पोंछ लिया। क्या सचमुच उसे बुख़ार है? उसने सोचा···

उसे एक गीत याद आया। लेकिन ज्योंही वह उसे गाने चला वह गीत भूल गया। उसे क्यों कुछ याद नहीं आ रहा है ? वह क्यों सब कुछ भूलता जा रहा है ? वह सोच नहीं पाया···

यात्रिशाला

यात्रिशालामें अब शोर-गुल क़हक़हे सब हलके पड़ गये थे। कहीं जैसे सब थक गये हों। सब नींदमें हों। पहरेदार गैलरीमें रुक कर चलने लगा। अगल-बगलके कमरोंसे फुसफुसाहट आ रही थी।

'तुम क्या जीतते बेटा ! बेइमानी करके जीत गये ! भूल गये जब तुम्हें दो सौ पाइंटसे हराया था···आज बड़े खिलाड़ी बने हो।'

'अरे हट ! मैंने खेलना सिखाया और मेरा ही गुरू बनने चला है ?' दूसरी आवाज़ आयी।

पहरेदार और आगे सरक गया···

'क्यों बे ! पिछले जन्ममें तू तानसेनका बाप था क्या ? सोने भी देगा या अपना अफ़साना ही सुनाता रहेगा···'

'अरे ! गाना गानेसे कहीं दिलकी लगी बुझती है। ज़्यादा आग लगी हो तो सामने ताल है उसमें जाकर डूब मर। सारी आग बुझ जायगी।' एक आवाज़।

'हाँ, भाई, क्यों नहीं ऐसा कहोगे ? जले पर नमक सभी छिड़क लेते हैं। कभी दुख-दर्द भी पूछा होता ! अकेले-अकेले न जाने कहाँ घूम आते हो, मुझे सुराग़ भी नहीं लगने देते और ऊपरसे ताना मारते हो।'

पहरेदार और आगे बढ़ गया।

'फिर क्या हुआ? तेरी उस मोटीने कुछ माल-मता भेजा?' एक आवाज़।

'अरे सोने दे। उस बेचारीके पास क्या माल-मता धरा था।' दूसरी आवाज़।

'हाय-हाय रे बेचारी! खसमकी सारी जायदाद क्या हुई? मैं तो सोचता था कि तुझे सबका मालिक बना देगी—' पहली आवाज़।

'वह मेरे लिए धरी थी। मरते ही यार दोस्तोंने उसे बुद्धू बनाकर सब बेंच खाया।'

पहरेदार कुछ और आगे बढ़कर दीवारके सहारे टिक गया।

'पसन्द आया खाना! नहीं न? कहीं कुछ रुपये हाथ आयें तो एक रेस्ट्राँ खोला जाय, फिर मैं दिखाऊँ उम्दा खाना क्या चीज़ होती है। रायलकी धूम मचा रखी है। भूसा खिलाते हैं। या ग़लत कहता हूँ? कहींसे कुछ रुपये उधार दिलवाओ—तुम्हारी तो बड़े-बड़े लोगोंसे जान-पहचान है—अरे सो गये क्या! इतनी जल्दी! हाँ, भई ऐसे मौक़े पर सो जाना ही बेहतर है।' एक खिसियायी हुई आवाज़।

पहरेदारको चक्कर आ गया। वह कुछ और आगे बढ़कर दूसरे कमरेके सामनेकी दीवारसे टिककर खड़ा हो गया।

'कितना ख़र्च किया उसके पीछे अब तक?' एक आवाज़।

'यही चार-पाँच सौ। लेकिन अगर हाथ आ जाती तो उसके पचास-गुने वसूल हो जाते।' दूसरी आवाज़।

'कोशिश किये जाओ। हिम्मते मरदाँ, मददे ख़ुदा।' पहली आवाज़।

पहरेदार लड़खड़ाकर दो-एक क़दम और आगे चला और दूसरे कमरेके सम्मुख ज़मीन पर बैठ गया। कमरा नं० ११। पहरेदारको याद आया…उसकी आँखोंके सामने घूमती हुई एक लाश आ गयी…कोई अच्छे कपड़े पहने रातमें आया था। उसीमें टिका था और सुबह उसकी लाश छतकी कड़ीमें झूल रही थी। फिर लाश इसी गैलरीसे निकाली गयी थी। पुलिसने उसे कितना हैरान किया था? उसकी समझमें अभी तक नहीं आया कि वह खुद ही मरा था या किसीने उसे मार डाला था।

भीतरसे आवाज़ आ रही थी। 'यह सब कुछ नहीं। तुम्हारा साम्यवाद बाह्य परिस्थितियोंको बदल सकता है लेकिन जब तक आदमी भीतरसे नहीं बदलेगा तब तक जिस स्वर्गिक जीवनकी हम कल्पना करते हैं वह नहीं प्राप्त हो सकता।' एक दृढ़ आवाज़!

'भीतरसे बदलनेका नारा बोर्जुआ नारा है। इसकी सृष्टि पूँजीवादी सभ्यताने इसलिए की है ताकि आदमी बाहरसे आँख मींचे रहे और वे उसे आरामसे चूस सकें। भारतवर्षमें इस नारे पर बड़ा ज़ोर है। इस पर बड़ी आस्था भी है, लेकिन सच मानो दोस्त, इस नारेको लगानेवाले जन-क्रान्तिके साथ विश्वासघात कर रहे हैं।'

बूढ़े पहरेदारने यह सुनकर भी नहीं सुना। वह लाठीके सहारे उठा। अधिकतर कमरोंकी बत्तियाँ बुझ चुकी थीं। और वह घसिटता हुआ अपनी बेंचपर जाकर पुनः बैठ गया।

कमरा नम्बर दो

रतना ऊँघ गयी थी। किशोरने चुपचाप थैलेसे बोतल निकाली और धीरेसे प्रकाश बुझा दरवाज़ा खोल बाहर निकल आया। कमरा नं०७ का दरवाज़ा उसने धीरेसे खटखटाया और आवाज़ दी : 'बाहर आओ दिनेश।' दिनेश कमरेसे बाहर निकल आया।

रतनाने अचानक करवट बदली। और आँखें बन्द किये-किये बड़बड़ायी :

'तुम परेशान क्यों होते हो? कल कानके इयरिंग बेच देना। कुछ दिनके लिए काम चलेगा। इसी बीच शायद तुम्हारा काम कहीं लग जायगा। बेकार दुखी होनेसे फ़ायदा? ख़ुद दुखी होते हो और हमें भी दुखी करते हो···क्यों जी, कल हम लोग फ़ाल देखने चलेंगे न! सुबह किसी लाण्डरीमें जाकर मेरी उस हरे बार्डर वाली धोतीमें इस्तरी करा देना। नहीं तो मैं नहीं चलूँगी, समझे। इतनी जल्दी सो गये क्या? तुम्हें मेरा कुछ भी ख़्याल नहीं है।' रतनाने एक गहरी साँस ली।

कमरेमें घना अँधेरा था। बूढ़े पहरेदारने बेंच पर बैठे-बैठे सुना। मुसकराना चाहा पर मुसकरा नहीं सका।

ताल पर

'हाँ अब बताओ।' दिनेशने एक चैनकी साँस लेते हुए कहा। तालकी सीढ़ियोंपर दूरके विद्युत्-स्तम्भोंका हल्का प्रकाश था।

समीपके पेड़ोंकी घनी परछाईं तालके सतहपर फैली हुई थी। वे अँधेरेमें सीढ़ियोंपर बैठ गये।

'तुम्हारे लिए एक बोतल ख़रीद लाया हूँ। यह लो।' किशोर ने कहा और बोतल दिनेशके हाथमें थमा दी।

'तुम कभी नहीं पीते ?' दिनेशने पूछा।

'नहीं।'

'फिर क्या करोगे ? ख़ैर, तुम्हें तो प्रेमका नशा रहता होगा। तुम्हें पीनेकी क्या ज़रूरत ? तुम्हारी सरकार सो रही हैं क्या ?'

दिनेशने कई घूँट गलेके नीचे उतार लिये और बोला :

'क्यों जी, इस तरह कब तक ज़िन्दगी चलाओगे ? उससे शादी क्यों नहीं कर लेते। धनी बापकी अकेली लड़की है। लाख बुरा मानेगा फिर भी अपनी इज़्ज़त-आबरूका थोड़ा ख़्याल करके दो-एक लाख बादमें दे ही देगा।'

दो-एक घूँट पीनेके बाद दिनेश फिर बोला :

'वह क्या कहती है ? जानते हो क्या, जो औरत मुहब्बत पर खेल सकती है; वह बहुत दिलेर होती है; और औरतोंकी दिलेरी ख़तरनाक होती है। क्योंकि ये जितनी मज़बूतीसे मुहब्बत करती हैं उतनी ही मज़बूतीसे नफ़रत भी करती हैं।'

'यह तुम बाज़ारू मुहब्बतकी बात कर रहे होगे ?' किशोरने जैसे कुछ चिढ़कर कहा।

'जी नहीं।' यह ऊँचीसे ऊँची मुहब्बतके लिए भी सच है। हर मुहब्बतका एक आधार होता है, चाहे वह रूप हो चाहे यश,

चाहे धन चाहे कुछ और भी। और उस आधारके हटते ही मुहब्बत ख़त्म हो जाती है। इसलिए मुहब्बतको विवाहके खूँटे से बाँधना बहुत ज़रूरी है।'

'तुम्हें बहुत जल्दी नशा होता है क्या? मुझे तुम्हारे उपदेश की ज़रूरत नहीं है। मुझे कल सूरज निकलनेके पहले ही यहाँसे हटना है। इसका सारा इन्तज़ाम तुम्हें करना होगा।' इतना कह-कर किशोर वहाँसे चुपचाप उठा और चला गया।

हरी रोशनी

एक क्षणको विभाके कमरेकी बिजली फिर जली और बुझ गयी। इसी बीच राजेशने मेज़परसे सिगरेट उठायी और उसे सुलगाकर फिर लेट गया। पहरेदारका ध्यान अचानक इधर बँट गया।

'तुम बुरा मान गये---पता नहीं, क्यों जी बहुत घबरा रहा है। इस समय मैं तुमसे एक क्षण भी दूर रहनेकी कल्पना नहीं कर सकती। मैं असहाय हूँ। तुम मुझे सहारा नहीं दोगे तो मैं कहाँ जाऊँगी? मुझे माफ़ कर दो। बोलो, बोलो, बुरा तो नहीं मान गये। मैं तुम्हें बहुत तंग करती हूँ न? तुम मुझे डाँटते क्यों नहीं, मुझपर बिगड़ते क्यों नहीं। मेरी हर बात क्यों मान लेते हो? मेरा क्यों इतना ख़्याल रखते हो? मैं इस लायक़ नहीं हूँ। ओफ़! तुम कितने अच्छे हो।' विभाने भर्रायी हुई आवाज़ में दर्द और स्नेह भरकर कहा।

'यह तुम कैसे समझ सकती हो कि तुम किस लायक़ हो ? यह मेरे समझनेकी चीज़ है। अगर अब भी तुम बोलना बन्द नहीं करोगी तो मुझे तुम्हारे होठों पर अपने होठोंकी मुहर कर देनी होगी।' राजेशका धीमा स्वर।

'नहीं—' एक तुनुक-भरी आवाज़।

फिर ख़ामोशी। अथाह, गहरी ख़ामोशी।

कमरा नम्बर दो

किशोरने कमरेमें आकर बिजली जला दी। रतनाने करवट बदली और बोली :

'मुझे गहरी नींद आ रही है और तुम पता नहीं रह-रहकर कहाँ चले जाते हो।'

'मैं ज़रा बाहर गया था, कल सुबह यहाँसे निकल चलनेका प्रबन्ध करने।' किशोरने उत्तर दिया।

'मैं यह सब कुछ नहीं जानती। मुझे अकेले छोड़कर तुम मत जाओ, मेरा जी घबराता है।' रतनाने दुखी स्वरमें कहा।

'इस तरह जी के घबरानेसे तो काम नहीं चलेगा। तुम्हारे जी के घबरानेके हिसाबसे अगर काम करूँगा तो सुबह भैय्याके हाथ पड़ जाऊँगा। और भैय्याके हाथ पड़नेसे मेरी दुर्गत हो जायगी और तुम्हारा कुछ नहीं होगा। अपने बाबूजीकी तुम लाड़ली बेटी हो। वह तुम्हें दुलार-चुमकारकर फिर रख लेंगे। समाजमें भी कोई उँगली उठानेकी हिम्मत नहीं कर सकेगा। लोग यही समझ-

समझ लेंगे कि लड़की अपनी किसी सहेलीसे मिलने गयी थी। पैसा समाजके नियमोंपर हुकूमत करता है। लेकिन हम तो ग़रीब हैं—हमें तो···' किशोरने कड़वी ज़बानमें कहा।

'अपनी ग़रीबीका यह ख़्याल पहले क्यों नहीं आया था?'

'तब मैं यह ख़्याल करनेको मजबूर नहीं था।'

'अब क्यों मजबूर हो गये, क्या मैंने कर दिया?'

'नहीं, तुमने नहीं, परिस्थितियोंने।'

'इस एक सप्ताहमें कितनी परिस्थितियाँ बदल गयीं? बाहरसे कहीं कुछ नहीं बदला, तुम्हारे मनके भीतर कुछ बदल गया है, बदला हुआ नज़र आता है। अच्छा हुआ यह सब अभीसे स्पष्ट नज़र आ गया। अभीसे अगर यह हाल है तो आगे क्या होगा? तुमने मुझे धोखा दिया है, गहरा धोखा दिया है।' रतनाने कुछ तेज़ आवाज़में सिसक-सिसककर कहा।

'मैंने नहीं, तुम्हारी नज़ाकत, तुम्हारी अमीरीने तुम्हें धोखा दिया है।' किशोरने दृढ़ आवाज़में कहा।

'कौन-सी नज़ाकत उठाने लायक़ तुमने मुझे रखा है? कौन-सी अमीरी मैं तुम्हारे साथ भुगत रही हूँ? दर-दरकी ठोकरें खानेके सिवा और क्या हाथ लगा है मेरे? और मैंने तुमसे क्या पाया है? तुम्हारा प्यार? उसकी तो उसी क्षण मौत हो गयी जिस क्षण मैंने तुम्हारे साथ घरसे बाहर क़दम रक्खा। मेरे लिए अब क्या बचा है—नज़ाकत—अमीरी—के लिए।' रतनाने सिसक-सिसक कर कहा और फूट-फूट कर रो पड़ी।

किशोरने उठकर खिड़कीके दरवाज़े बन्द कर दिये, जैसे प्रेम के राज्यमें सिसकियोंको भी बाहर जानेका आदेश नहीं है।

आवाज़ धीमी हो गयी और धीमी होती गयी। थोड़ी देर बाद पहरेदारने देखा कमरेकी रोशनी बुझ गयी।

और फिर उस अँधेरेमें आगेकी आवाज़ खो गयी।

दूसरी झपकी

पहरेदारकी नस-नसमें दर्द होने लगा, जोड़-जोड़ उखड़ने लगे। वह बेंच पर औंधा लेट गया। जलते हुए तवे पर पड़ती पानीकी बूँद-सा उसे सभी कुछ छनछनाकर उड़ता हुआ-सा प्रतीत होने लगा। उसे हल्की-सी झपकी आ गयी।

'तुम आ गये ?' पहरेदारने एक सन्तोषकी साँस लेते हुए पूछा।

'क्यों, क्या तुम मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे ?' काले पंख वाले स्वप्नदूतने प्रश्न किया।

'हाँ। मैं जानना चाहता हूँ कि मेरी रग-रगमें कौन-सा ज़हर ऐंठ रहा है। मैं क्यों कुछ याद नहीं कर पाता ? मैं क्यों सब कुछ भूलता जा रहा हूँ ?'

'तुम सत्यके निकट पहुँच रहे हो।'

'क्या तुम्हारे अनुसार सत्यके निकट पहुँचनेका अर्थ जीवनसे दूर होना है ?'

'हाँ, आजकी ज़िन्दगीका आधार सत्य पर नहीं है।'

'जो ज़िन्दगीसे दूर हटा ले जाय, उस सत्यको लेकर हम क्या करेंगे ?'

'नयी ज़िन्दगीका निर्माण ।'

'तुम भी दर्शन बखानते हो ?'

'हाँ, सपनोंका भी एक दर्शन होता है जो नये सत्योंको जन्म देता है ।'

'तुम कितने छोटे हो ?'

'लेकिन मेरे पास पंख हैं, मुझमें कितनी गति है !'

पहरेदारने देखा, नंगी डालियोंवाले तरु अचानक लहलहा उठे हैं, फूलोंसे लद गये हैं । सारी प्रकृति बदल गयी है ।

'यह सब क्या कर रहे हो तुम ?'

'तुम स्वयं ही देखो ।'

स्वप्न-दर्शन

विभाका एक बड़ा-सा चित्र कोई कन्धोंपर लादकर ला रहा है ।

'तुम थक गये होगे मोहन । लाओ मैं सहारा दे दूँ ।' विभा ने सीढ़ियोंपर पहुँचकर कहा ।

'नहीं, अपनी कृतिका बोझ ढोनेमें कोई नहीं थकता ।'

'मेरा बोझ ढोनेमें तो थकान लगती थी । तभी उस दिन मुझे नावमें अकेली छोड़कर तुम धारमें कूद गये थे ।'

'इसलिए कि अपने साथ-साथ उसमें बोझकी थकानकी भी कल्पना शामिल थी ।' मोहनने उत्तर दिया ।

'मेरे पति बहुत नेक हैं, तुम उनसे मिलोगे ?'

'नेक ? नेक तो तुम भी हो, लेकिन नेक होनेके अतिरिक्त भी कहीं कोई ऐसी चीज़ और होती है जिसे हम प्यार करते हैं। मैं तो नेक भी नहीं हूँ, फिर मुझे तुम क्यों प्यार करती हो ?' मोहनने पूछा ।

'यह मैं नहीं जानती । लेकिन तुम्हें सामने देखकर मैं असहाय हो जाती हूँ । लगता है तुम्हीं वह एक क्षण हो जहाँ मेरी सारी ज़िन्दगीका सूत्र बँधा हुआ है । जहाँ कुछ न पाकर भी मैं तृप्त रहती हूँ, जहाँ अशक्त होते हुए भी मैं सशक्त अनुभव करती हूँ । जहाँ हर अभावमें भी भरी-पूरी लगती हूँ । जहाँ मैं 'मैं' नहीं रह जाती । मैं कुछ और हो जाती हूँ मोहन, सच मानो तुम्हें देखकर मैं कुछ और हो जाती हूँ, मैं अपनेको भीतर बाहरसे पूर्णतया बदला हुआ पाती हूँ । मेरा सारा अतीत जैसे तत्काल मर जाता है और मैं नये सिरेसे, जैसे नयी जिन्दगीकी साँस लेने लगती हूँ । मैं—मैं—कैसे समझाऊँ ?' विभाने तन्मय होकर कहा !

'मैं समझना ही कहाँ चाहता हूँ ! चलो; मेरे घर चलो । मैंने तुम्हारे कुछ और अच्छे चित्र बनाये हैं, चलो तुम्हें दिखाऊँ । तुम्हारे पति रुष्ट तो नहीं होंगे ?' मोहनने पूछा ।

'नहीं, और अगर वे रुष्ट होते भी तो क्या तुम समझते हो मैं इस क्षण उनकी परवाह करती । मुझपर अब मेरा अपना अधिकार नहीं रहा मोहन । मैं अब अपने वशमें कहाँ हूँ ।' विभाने आत्मविभोर होकर कहा ।

'आओ', मोहनने कहा ।

एक छोटी बैल-गाड़ीपर विभा और मोहन बैठकर चल दिये ।

हरे-भरे कछारोंकी टेढ़ी-मेढ़ी लीकोंपर होती हुई बैल-गाड़ी चली जा रही है। बैलोंकी घंटियाँ, टुन-टुन लगातार बज रही हैं। और बैल-गाड़ीकी लीककी जगह, पथकी नरम मिट्टीमें विभाके एकके बाद दूसरे चित्र बनते-छूटते चले जा रहे हैं।

अचानक बैल-गाड़ी आँखसे ओझल हो गयी। मोहन और विभा फिर नहीं दिखाई दिये।

पहरेदारकी झपकी अचानक टूटने लगी। दुनिया हिलती हुई सी दिखाई दी।

'विभा मोहनके साथ कहाँ चली गयी ?' पहरेदारने पूछा।

'जहाँ वह जाना चाहती थी लेकिन जा नहीं सकी थी।' काले पंखों वाले स्वप्नदूतने उत्तर दिया और गया।

पहरेदारकी आँख खुल गयी।

रात, ख़ामोशी और पहरेदार

उस समय दूर कहीं बारहके घंटेकी आवाज़ आयी। रात नींद में झुक गयी। विद्युत-स्तम्भोंका प्रकाश हल्का पड़ गया। परछाइयाँ गहराकर लम्बी हो गयीं।

ख़ामोशी—गहरी ख़ामोशी छा गयी। पेड़ोंके पत्तोंने हिलना बन्द कर दिया। दिशाओंने होंठ सी लिये।

अब पहरेदार अकेला नहीं था। उसने अनुभव किया कोई उसके पास—बहुत पास बैठा हुआ है। लेकिन वह उसे पहचानता ही नहीं, वह उसे देख नहीं पाता। कोई उससे कुछ कह रहा है, अस्पष्ट स्वरोंमें कुछ कह रहा है, लेकिन वह सुन नहीं पा रहा है,

समझ नहीं पा रहा है। उसे लगा जैसे वह होकर भी नहीं है, न होकर भी है।

अपने अस्तित्वके आभासके लिए वह ज़ोरसे चिल्लाया—जागते रहो! लेकिन कहींसे कोई प्रतिध्वनि नहीं लौटी। वह अपने प्रति सशंकित हो उठा। तभी उसे तालकी ओरसे कुछ आहट मालूम दी।

तालकी सीढ़ियोंपर

दिनेश पूरी बोतल ख़ाली करके तालकी सीढ़ियोंपर पड़ा था। उसकी चेतनाकी लटें खुल गयी थीं। उसकी जाँघोंपर सिर धर वह निश्चिन्त सो रहा था। रतना चुपचाप कमरेसे निकलकर उसके पास आ खड़ी हो गयी।

'उठो, सुनते हो, मैं हूँ रतना। उठो तो।'

'क्या है?'

'रातको दो बजे कानपुर कोई एक्सप्रेस जाती है?'

'रातको दो बजे जाने वाली गाड़ी या तो माल होती है या एक्सप्रेस होती है।'

'मैं यह नहीं पूछती। कोई गाड़ी जाती है या नहीं?' रतना ने चिढ़कर कहा।

'क्या कीजियेगा यह जानकर?'

'मैं अभी इसी वक्त यहाँसे जाना चाहती हूँ।'

'उस बेचारेको अकेला छोड़कर...?'

'वह बेचारा है?' रतनाने तमककर कहा।

'नहीं, बिल्कुल नहीं सरकार। औरतकी आँखोंसे मुहब्बतका परदा हटते ही आदमी बेचारा कहाँ रह जाता है। आइये, खड़ी क्यों हैं, ज़रा क़रीब आकर बैठिए।' दिनेशने कहा।

रतना पास जाकर बैठ गयी।

'दिनेश, तुम मुझे फ़ौरन यहाँसे हटा ले चलो। जितने रुपये कहोगे मैं तुम्हे दे दूँगी।' रतनाने कहा।

'यह तो मैं जानता हूँ। लेकिन रतना, कभी तुमने यह भी सोचा है कि मैं भी आदमी हूँ। मेरी भूख रुपयेसे ही नहीं बुझ सकती।'

'जो आदमी है उसकी हर भूख स्वीकार की जा सकती है लेकिन जो राक्षस है उसकी···?'

'हाँ, जो राक्षस है उसकी···यह तो मैं पहलेसे ही जानता था। एक न एक दिन किशोरको राक्षस होना ही था।'

'फिर क्या कहते हो ?'

'मेरे लिए सब ठीक है। आप हुक्म दीजिए।'

'अभी तुम्हारे मुँहसे बू आ रही है।'

'हाँ आने दीजिए। हर सच बोलनेवाले आदमीके मुँहसे बू आती है।

'सामान ले आऊँ।'

'जैसी मर्ज़ी, ले आइये।'

रतना चुपचाप दबे-पाँव कमरेकी ओर चल दी। दिनेशने बोतल जीभपर उलट दी। शायद कोई बूँद बच रही हो···

तीसरी झपकी

पहरेदारने गहरी थकावट महसूस की, जैसे उसके हाथ-पैरकी जान निकल गयी हो। उसे जैसे एक झपकी-सी आ गयी क्योंकि उसने देखा, काले पंखों वाले स्वप्नदूतकी आकृति स्पष्ट हो गयी।

'तुम इतनी देरसे मेरे पास अदृश्य, अस्पष्ट, मौन क्यों बैठे हो ?'

'ताकि जो दृश्य और स्पष्ट है उसकी क़ीमत आँक सको।'

'यह तमाम प्रकाश, शहनाइयोंकी आवाज़, यह सब क्या है ? किसके लिए है ?' पहरेदारने प्रश्न किया।

'तुम स्वयं देखो।' उत्तर मिला।

स्वप्न-दर्शन

मीलों लम्बा जुलूस। अपार जन-समुदाय। बाजे-गाजे। चमकते हुए प्रकाशके हंडे। सजी हुई सवारियाँ, फूलोंसे लदी हुई मोटरें। विवाहका जुलूस आ रहा था।

किशोर एक खुली हुई मोटरमें दूल्हा बना बैठा था। शहनाइयाँ बज रही थीं। आने-जाने वाले फूल, गुलाब-जल और इत्र बरसा रहे थे। दिनेश शराब पिये, लड़खड़ाता हुआ आगे-आगे चल रहा था। लोग उसे झुक-झुककर प्रणाम कर रहे थे।

बारात रुकी। आरती हुई। गीत हुए। भव्य विशाल भवनके भीतर जो नारियोंसे खचा-खच भरा हुआ था, किशोरने प्रवेश किया।

विवाह-मण्डपमें रतना वधू-सी सजा कर लायी गयी है। झीने अवगुंठनमें उसका मुसकराता हुआ मुखमण्डल दमक रहा है। भाँवरोंके पहले गाँठें बाँधी जा रही हैं। लेकिन गाँठ बार-बार खुल जाती है। सब लोग हैरान हैं, परेशान है। किशोर हँस रहा है। फिर बिना गाँठ बाँधे हुए ही भाँवरें पड़ती हैं। चारों ओरसे गाती हुई स्त्रियोंकी भीड़ मण्डपके समीप बढ़ती चली आती है। विवाह-मन्त्रोंका उच्चारण हो रहा है। भीड़ बढ़ती चली आ रही है। रतना एकाएक भीड़में खो जाती है। किशोर अकेले भाँवरें घूम रहा है।

'लालाजी, मैं आऊँ?' स्त्रियोंकी भीड़मेंसे चौड़े सुनहरे गोटकी साड़ी पहने हुए विभा पूछती है।

'नहीं भाभी। मैं अकेला ही ठीक हूँ।'

फिर सब कुछ खो जाता है। विभाकी गोदमें किशोरका सिर है। किशोर सिसकियाँ भर रहा है और विभा समझा रही है।

'लालाजी, तुम घबराते क्यों हो? मैं तो हूँ ही। मैं आपके भैयासे कह दूँगी। उनका जिम्मा मुझपर है। वे आपसे ज़रा-सा भी कुछ नहीं कहेंगे।' विभा कह रही है।

किशोर सड़ककी पटरियोंपर अकेला घूम रहा है। रतना एक नीली ब्यूक गाड़ीमें किसीके साथ बातें करती चली जाती है।

अचानक एक रिक्शेपर राजेश और विभा तमाम सामान लादे चले जा रहे हैं। किशोर चिल्लाता है। रिक्शेसे विभाका हाथ पकड़ कर खींच लेता है। राजेश क्रोधमें भरकर घूरता हुआ चला जाता है।

किशोर मज़बूतीसे हाथ पकड़ लेता है। तेज़ आँधी चल रही है। आँख उठाकर देखता है तो वह रतनाका हाथ पकड़े हुए है। विभा, रतना, विभा, रतना। हाथ एक है, लेकिन रह-रहकर आकृतियाँ बदलती जाती हैं। और किशोर चुपचाप चलता जा रहा है।

राजेशकी एक भारी आवाज़ उसे बीच-बीचमें सुनाई देती है। 'रतनासे विवाह करनेके अर्थ हैं किशोरका मेरा सम्बन्ध-विच्छेद।'

अन्तराल

बूढ़े पहरेदारको खाँसी आ गयी। उसकी झपकी अचानक टूटने लगी।

'यह सब क्या है?' उसने पूछा।

'क्या तुम नहीं समझ पा रहे हो?'

'नहीं।'

'कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनमें शिशुभाव प्रबल रहता है। विभा किशोरके शिशुत्वकी तृप्ति है। उसे वह नहीं छोड़ सकता। और रतनासे विवाहका अर्थ है भैयाको छोड़ना, उसे छोड़ना।'

पहरेदारकी आँखें खुल गयीं। उसने देखा, रतना चुपकेसे एक छोटी अटैची लिये कमरेसे बाहर निकल रही है। और किशोर गहरी नींदमें सो रहा है! उसने चाहा कि वह कुछ बोले, उसे टोके, उसे बताये कि यह किशोरके साथ अन्याय है। पर जैसे उसकी ज़बान लड़खड़ाकर रह गयी।

तालकी सीढ़ियोंपर

बूढ़े पहरेदारने देखा, रतना चुपचाप तालकी सीढ़ियोंपर पहुँच गयी।

'उठो, मैं आ गई।'

'सचमुच ? मैं तो समझता था आप मज़ाक कर रही हैं। प्रेममें कभी ऐसा भी हुआ है ?' दिनेशने निश्चित-सा उत्तर दिया।

'यह प्रेम नहीं था, थोथा प्रेम था, आकर्षण था।'

'आप बहुत समझदार हैं, देवीजी। आपने बहुत जल्दी समझ लिया।' दिनेशने व्यंग्य किया।

'लेकिन मैं तुमसे यह सब जानना नहीं चाहती।' किञ्चित् क्रोधमें रतनाने कहा।

'लेकिन मैं तो यह सब जताना चाहता हूँ। मैंने आपसे पहले ही कहा था देवी जी, कि मैं भी आदमी हूँ। मुझमें रुपयेके अतिरिक्त भी और कोई भूख हो सकती है।'

'मैं उसके लिए तैयार हूँ।' रतनाने दृढ़ स्वरमें कहा।

'तो फिर बैठिए, सुनिये।'

'अपनी क़ीमत बोलो। तुम क्या-क्या चाहते हो, उसकी सूची दो। लेकिन दर्शन मत बको। मुझे अभी इसी क्षण यहाँसे निकल चलना है।' रतनाने क्रोधके आवेशमें आकर कहा।

'जो नारीत्वकी क़ीमत लगानेको तैयार है, उससे क़ीमत बोलना अपनेको नीचे गिराना है। मैं अपनेको नीचे नहीं गिराना

चाहता, देवी जी ! मैं आपको महज़ इतना बताना चाहता हूँ कि प्रतिकारकी भावनासे भरी हुई औरत शराबसे भी ज़्यादा गन्दी होती है। मैं शराबी हूँ, योंही अधम हूँ, आपसे बोलकर, आपके निकट बैठकर, आपको स्पर्शकर और अधिक गन्दा, अधम नहीं होना चाहता। मुझपर दया कीजिये और यहाँसे फ़ौरन चली जाइये।' दिनेशने उपेक्षा-भरे स्वरोंमें कहा।

'तुम मेरा अपमान कर रहे हो।' रतना फुफकारती हुई बोली।

'जी हाँ, जो प्रेमका अपमान कर सकता है, जो नारीत्वका अपमान कर सकता है, जो एक सरल निश्छल हृदयका अपमान कर सकता है, उसका अपमान करना कोई गुनाह नहीं है, देवी जी।' दिनेशने व्यथित स्वरोंमें कहा।

'फिर मैं जा रही हूँ !' रतनाने जैसे चुनौती दी।

'कहाँ, किशोरके पास ? ज़रूर जाइये, बेचारा सुबह आपको नहीं देखेगा तो पागल हो जायगा। ग़रीबको भाईकी करुणा चाहिए। सो उसे मिल ही जायगी। कुछ दिन उसके साथ और भटक लीजिए। फिर तो आपका विवाह होगा। आप दोनों चैन और आरामसे रहेंगे। उस दिन इस शराबीको एक बोतल देना मत भूल जाइयेगा। मेरी आपसे इतनी ही प्रार्थना है। जाइये, कहीं वह जाग न जाय।'

रतना क्रोधमें भरी, फुफकारती हुई, अटैची लिये वापस लौट गयी और उसने कमरेके भीतर जाकर दरवाज़ा बन्द कर लिया।

शराबकी ख़ाली बोतल

थोड़ी देर बाद दिनेश उठा। उसने शराबकी ख़ाली बोतल उठायी और उसे एक-टक थोड़ी देर देखता रहा। फिर झूमता हुआ अपने कमरेकी ओर चल पड़ा।

यूकेलिप्टसके पेड़के नीचे उसने वह बोतल रख दी और खुद पेड़से टिक कर खड़ा हो गया।

'कोई है ?' वह कुछ भारी आवाज़में चिल्लाया। उत्तरकी बिना प्रतीक्षा किये हुए ही बोला—

'मैं कहता हूँ, शराबकी ख़ाली बोतलमें भी नशा होता है। उन खोखले और ख़ाली इनसानोंसे ज़्यादा जिन्हें ज़िन्दगीमें तुम अपना साथी मानते हो। कोई है ? सब सो गये क्या ? अभागे। नहीं जानते कि रातमें वे सोते हैं जो ज़िन्दगीसे थक जाते हैं।'

फूलों की इन क्यारियों में
कोई शराब की खाली बोतल
फेंक कर चला गया है
सुनते हैं अब बसन्त ने पीना
बन्द कर दिया है।

वह बड़बड़ाता हुआ अपने कमरेकी ओर चला गया।

कमरा नं० ग्यारह

'क्यों म्याँ कामरेड ? सो गये, क्यों ? अरे यह तो बताओ तुम्हारी जनक्रान्तिमें कितनी शराबकी बोतलें ख़र्च हुई थीं ?' दिनेशने कुछ ज़ोरसे कमरा नं० ग्यारहके सामने आकर कहा।

आवाज़ पूरी यात्रिशालामें गूँज उठी।

'तुम यही हिसाब लगा रहे हो क्या ? घबड़ाओ मत। उस अवसर पर तुम्हें खूब पीनेको मिलेगी।' भीतरसे आवाज़ आयी।

'सलामत रहो बादशाह। हम तो उसी दिनका इन्तज़ार कर रहे हैं। क्यों म्याँ! यहाँकी शराब पिलाओगे या वोडका वगैरह भी ? सुनते हैं फिर देशी शराब बन्द हो जायगी। अपनी हौलियाँ नहीं रहेंगी, अपने साकी नहीं रहेंगे। क्या यह सब सच है ?' दिनेशने थोड़ी लड़खड़ाती हुई ज़बानमें खींच-खींच कर कहा।

'अपने साकी, अपनी ही हौलियाँ रखना, सेठ जी; मना कौन करता है ? लेकिन…'

'ठेका उसी मुल्कका रहेगा…जियो बादशाह !' दिनेशने हँस कर कहा और अपने कमरेको लौट आया।

गैलरीमें पूर्ववत् सन्नाटा छा गया। थोड़ी देर बाद कमरा नं० ग्यारहका दरवाज़ा खुला। किसीने झाँककर चारों तरफ़ देखा। गैलरीकी घड़ीसे घड़ी मिलायी और फिर दरवाज़ा बन्द करके भीतर चला गया।

बूढ़े पहरेदारकी बेंच पर

बूढ़े पहरेदारको लगा जैसे उसकी बेंच पर कई व्यक्ति आकर बैठ गये हों—वह कस रही हो। वह अन्यमनस्क भावसे उठकर बैठ गया। 'यह क्या है ?' वह कुनमुनाया और उसने अपना सिर बेंचकी पीठ पर टिका दिया। उसे लगा जैसे उसके सिरमें

गर्म पानी खौल रहा हो और उसका सारा शरीर अँगीठी-सा सुलग रहा हो।

थोड़ी देर बाद उसे फिर झपकी-सी आ गयी। बेंच पर बैठी हुई आकृतियाँ स्पष्ट होने लगीं।

'तो ये सब तुम्हारे साथी हैं। बिना मेरी आज्ञाके तुमने सबको इस पर लाकर बिठा दिया है। आख़िर मैं कसा जा रहा हूँ। यही हालत रहेगी तो मुझे बेंच आप लोगोंके लिए छोड़कर ज़मीनकी शरण लेनी पड़ेगी।' पहरेदारने कहा···

काले पंखों वाली आकृति मुसकरायी और आकृतियाँ स्पष्ट होने लगीं।

स्वप्न दर्शन

वह बेंच चाँदनीमें रक्खी हुई है। चारों ओर गहरी ख़ामोशी है। राजेश कमरेका दरवाज़ा खोलकर चुपचाप निकलता है। दुबली-पतली अत्यन्त गोरे रंगकी एक लड़की जो देखनेसे हिन्दुस्तानी नहीं लगती, मुसकरा कर उसका स्वागत करती है। वह किसी भाषामें अत्यन्त मधुर स्वरोंमें कुछ बोलती है, जिसके बाद उसकी आँखें हर्षसे चमक उठती हैं। वह तंग कसे हुए कपड़े पहने हैं जिनमेंसे उसका उभरा सुडौल शरीर दमक उठता है। राजेश उसे फूल-सा गोदमें उठा लेता है और बेंच पर आ बैठता है। वे दोनों खूब हँसते हैं, गाते हैं, क़हक़हे लगाते हैं। बोतलें खोल-खोल कर पीते हैं और इधर-उधर दौड़ते-फिरते हैं। पेड़ोंकी हरी-हरी डालियों पर उछल-उछल कर बैठ जाते हैं।

समुद्र नीले परदे-सा टँगा है और वे अधनंगे किनारे पर आँखें मीचे पड़े हैं। समुद्रकी लहरें तटसे टकराती हैं और हर दूसरे क्षण उन पर फुहार बरसा जाती हैं।

एक विशाल जहाज़ किनारे पर आकर लगता है। वे दोनों उसके डेक पर आलिंगन-बद्ध खड़े हैं। बेहद खुशी उनके चेहरे पर झलक रही है। विभा दूर तट पर आँखोंमें आँसू भरे हुए एक-टक उन्हें निहार रही है। वे दोनों उसे देखते हैं, ठठाकर हँसते हैं। जहाज़ चलने लगता है, दूर होता चला जाता है। वे हँसते रहते हैं। विभा अकेली तट पर हथेलियोंमें मुँह छिपाये खड़ी रहती है।

अचानक एक डोंगीको वे खेते हुए दिखाई देते हैं। डोंगी अचानक रुक जाती है। विभाके मृत शरीरसे, वे देखते हैं, वह फँस गयी है। अचानक एक भँवर आता है। विभाका मृत शरीर, उसमें पड़कर नाचने लग जाता है और नाचता चला जाता है और राजेश डोंगीमें बैठा एकटक उसके अनिन्द्य रूपको निहारता रहता है।

× × ×

दूसरी ओर···

विभा मोहनके साथ किसी छोटी मैदानी नदीके किनारे आम की घनी छायामें पड़ी हुई है। मोहन पेड़से टिका स्केच कर रहा है। विभाके माथे पर कुछ लटें खुलकर तेज़ पुरवाईमें उड़ रही हैं। विभा बार-बार उन्हें सँभालती है और मोहन बार-बार चिल्लाता है।

'मैं कहता हूँ उन लटोंको वैसे ही उड़ने दो। वे बहुत अच्छी लग रही हैं। उन्हींको तो मैं कैच कर रहा हूँ और तुम बार-बार डिस्टर्ब कर देती हो। हाँ, ठीक है।' मोहन स्केचकी कापी पर झुका हुआ है।

'लेकिन वे मेरी आँखोंमें चले जाते हैं, मुँहमें चले जाते हैं। मुझे बहुत तंग कर रहे हैं। तुम जल्दी करो।' विभा बड़-बड़ाती है।

और मोहन जल्दी-जल्दी पेन्सिल चलाता हुआ कहता है…

'घबड़ाओ मत। थोड़ी देर बाद वे दूसरोंके दिलमें चले जाने लायक हो जायँगे। फिर उन्हें तंग करेंगे।'

'तुम मुझे छेड़ोगे, तो मैं उठ जाऊँगी।' विभा चुनौती देती है।

'तुम उठ जाओगी तो मैं कापी नदीमें फेंक दूँगा।' मोहन चुनौती देता है।

'तो चुपचाप क्यों नहीं बनाते?' विभा समझौता करती है।

'तो चुपचाप क्यों नहीं बैठती?' मोहन समझौतेको स्वीकार करता है।

× × ×

राजेश, उस गोरी लड़कीके बालोंमें कई रंगके रिबन उलझा रहा है। क्लिपमें फँसे हुए वे तेज़ीसे लहराते हुए उड़ रहे हैं। वह हँस रहा है।

× × ×

विभा, मोहनके बालोंमें तरह-तरहके उल्टे-सीधे फूल, काँटे, जो कुछ पाती है, खोंस रही है और अन्तमें उसके सिरको फूलों का अजायबघर बनाकर शोख़ मुद्रामें कहती है—

'हिलना नहीं, अब मेरी बारी है, मैं तुम्हारा स्केच करूँगी।' और कागज़, पेन्सिल लेकर बैठ जाती है।

'लेकिन मेरे सिरमें खुजली मच रही है।' मोहन चिल्लाता है।

'डिस्टर्ब मत करो, मैं ऐसे ही कैच करना चाहती हूँ।' विभा नाट्य करती है।

'मैं उठता हूँ ?'

'तुम हिले नहीं कि मैं चली जाऊँगी— फिर तुम्हें कोई पोज़ नहीं दूँगी।' विभा चुनौती देती है।

मोहन आँख बन्द करके, बन्दरों-सा गाल फुलाकर बैठ जाता है।

× × ×

राजेश, उस गोरी लड़कीको आलिंगनमें कस लेता है।

× × ×

विभा, मोहनकी जाँघ पर सिर धर आँख मीच कर लेट जाती है। मोहन, गीतकी कोई भूली हुई कड़ी गुनगुनाता है।

अन्तराल

अचानक गहरी खटपट होती है। पहरेदारकी झपकी टूटती है।

'घबड़ाओ मत, राजेश और विभाका पार्थिव शरीर कमरेमें पास-पास सो रहा है।' कहता हुआ स्वप्न टूट जाता है।

पहरेदारकी आँख खुलती है। यात्रिशालामें वैसी ही ख़ामोशी है। राजेश और विभाका कमरा भीतरसे बन्द है। हरी रोशनी बुझी हुई है। दोनों एक दूसरेसे अत्यन्त दूर होते हुए भी एक दूसरेके पास-पास सो रहे हैं।

तारवाला

'सुनते नहीं हो, कबसे चिल्ला रहा हूँ। तार है तार। कमरा नं० ग्यारहमें कोई प्रकाश बाबू टिके हुए हैं?' तारवाला चिल्लाकर पूछता है।

'मुझे नहीं मालूम; जाओ, आवाज़ दे लो।' पहरेदार लड़-खड़ाती ज़बानसे कहता है।

'फिर पहरेदारी क्या करते हो? बूढ़े साले, अफ़ीमके नशेमें पड़े मरते रहते हैं। ख़ुदा ऐसोंकी भी रोज़ी सलामत रक्खे हुए है।' तारवाला बड़बड़ाता हुआ भीतर गैलरीमें चला गया।

बूढ़े पहरेदारके जीमें आया कि वह उसके इस कटु सम्भाषण का विरोध करे, लेकिन उसने अपनेको इतना अशक्त पाया कि उसके मुखसे कोई आवाज़ नहीं निकली।

वह चुप रह गया। और बैठा-बैठा ही बेंच पर ढुलक गया।

कमरा नं० ग्यारह

प्रकाश गैलरीके उजालेमें तार लिये हुए चिन्तित मुद्रामें खड़ा है।

'कामरेड, कामरेड।' वह बहुत उदासी-भरे स्वरोंमें पुकारता है।

'क्या हुआ ? लेनिनकी कोई बात सोते-सोते याद आ गयी ?' दूसरी आवाज़ आती है ।

'नहीं भाई, तार आया है, पार्टी आफ़िसमें किसीने आग लगा दी ।'

'तो क्या जन-क्रान्तिकी सारी सम्भावनाएँ नष्ट हो गयीं ?'

'मज़ाक मत करो, मुझे फ़ौरन जाना पड़ेगा । रुपयोंका प्रबन्ध करना पड़ेगा, नहीं तो काम सफ़र करेगा ।'

'इसीलिए कहता था बेटा, इन्सानको भीतरसे बदलने दो, बाहरके बदलनेसे कोई काम नहीं चलेगा। कल फिर आग लग गयी तो ?' दूसरी आवाज़ व्यंग्य भर कर कहती है ।

'फिर पार्टी-आफ़िस बनेगा और यही छोटी-मोटी आग विशाल जन-क्रान्तिकी अग्निको जन्म देगी, कामरेड । लेनिनने कहा है हमें हिम्मत नहीं हारनी चाहिए ।' प्रकाश आवेशमें उत्तर देता है ।

'फिर मुझे सोतेसे क्यों जगाते हो। जाना चाहते हो जाओ ।'

'मुझे कुछ रुपयोंकी ज़रूरत है । मेरे पास एक पाई नहीं है ।' प्रकाश दुखी स्वरोंमें कहता है ।

'तो, ऐसेमें मैं क्या कर सकता हूँ ? इस समय जानते हो मेरे ऊपर खुदका कितना कर्ज़ है, ऐसी स्थितिमें मैं तुम्हारी पार्टी···'

'नहीं, इस समय पार्टीका नाम न लो, मैं व्यक्तिगत हैसियत से तुमसे माँग रहा हूँ और हमेशाकी भाँति इसका भी कृतज्ञ रहूँगा ।' प्रकाशने विनय की ।

'अच्छा, मुझे आज मालूम हुआ कि पार्टीके अतिरिक्त भी तुम्हारी कोई व्यक्तिगत हैसियत है ।' दूसरी आवाज़में हँसी ।

'इस समय मेरी असहाय स्थिति पर तुम मज़ाक कर सकते हो ।' प्रकाशने अत्यन्त दुखी स्वरोंमें कहा ।

'अरे ! तुम दुखी होते हो । अच्छा-अच्छा, बुरा मत मानो । मज़ाक मज़ाक ही में लेना चाहिए चाहे सत्य ही क्यों न हो। सुनो, तुम दिनेशसे कहो । वह तुम्हारी मदद कर देगा । क्या अभी कुछ देर पहले आया था ? नींदमें मुझे ऐसा लग रहा था जैसे कोई तुमसे बातें कर रहा है । ठीक है न, अब तुम मुझसे बातें मत करना, मुझे ज़रा सो लेने दो, सिरमें दर्द हो रहा है ।' दूसरी आवाज़ने उत्तर दिया ।

कमरा नं० सात

थोड़ी देर बाद प्रकाश कमरा नं० सातके दरवाज़े पर खड़ा था ।

'दिनेश, सो गये क्या ?' उसने आवाज़ दी ।

'सो भी गया हूँगा तो तुम्हारी आवाज़ पर जागना ही पड़ेगा । जन-नायक हो, आह्वान कोई अनसुना कर सकता है ।' दिनेशने एक गहरी साँस भर कर उत्तर दिया ।

'सुनो, मैं एक ज़रूरी···' प्रकाशने झिझकते हुए कहा, लेकिन दिनेश बात काट कर बोल पड़ा—

'मैं सब जानता हूँ । जानते हो रातमें आवाज़ दूर तक जाती है और दीवारोंके भी कान होते हैं, फिर हमारा-तुम्हारा कमरा तो पास ही पास है । तार वालेके शोरगुलने मुझे यों ही जगा दिया था ।'

'फिर क्या करूँ ?'

'पार्टी आफिसके लिए भी तुम्हें रुपयोंकी ज़रूरत होगी। मैं जो कहता हूँ उसे तुम मज़ाक तो नहीं समझोगे ? बिलकुल सीधा सरल उपाय है।' दिनेशने सख़्त आवाज़में कहा।

'क्या ?' प्रकाशकी आवाज़ काँपी।

'हत्या करोगे ?' दिनेशने धीरेसे लेकिन अत्यन्त दृढ़ आवाज़में कहा। 'तुम्हारी पार्टीके नियम मार्गमें बाधक तो नहीं पड़ते न ?' उसने फिर जोड़ा।

'लेकिन…' प्रकाशकी आवाज़ धीमी हुई।

'लेकिन क्या ? जो एक सामूहिक रक्तपात करके सर्वहारा राज्य स्थापित कर सकता है, वह सर्वहारा पार्टीके एक दफ़्तरके लिए एक व्यक्तिकी हत्या नहीं कर सकता ? दुर्बल, कायर ! शीघ्र हाँ या नामें उत्तर दो, तो मैं आगे बात चलाऊँ।'

प्रकाश कुछ देर सोचता रहा फिर दृढ़ आवाज़में बोला—'…हाँ।'

'तो ठीक है, लेकिन जल्दी नहीं करनी होगी। कमरा नं० दो में एक पूँजीपतिकी लड़की है रतना। वह मेरे एक दोस्तकी प्रेयसी है। उसके साथ भागी हुई है। उसके पास हज़ार-बारह सौ के ज़ेवर होंगे ही—और अगर ज़्यादा चाहते हो तो अपनी लड़कीके लालचमें उसका बाप कहीं भी कितने भी रुपये लेकर आ सकता है। समझे ! अब जाओ। चुपचाप सो रहो। मुझसे बिना पूछे कुछ मत करना !' दिनेशने दृढ़ और संयत आवाज़में कहा।

प्रकाशकी आँखें चमक उठीं। वह चुपचाप उठा और सिर झुकाये चला गया। उसके चले जानेके बाद दिनेश मुसकराया और सम्पूर्ण घृणा भर कर काँपते हुए होठोंसे बुदबुदाया—'नीच!'

बूढ़ा पहरेदार

खाँसीके कारण बूढ़ा पहरेदार फिर उठ कर बैठ गया था। उसे धरती, आकाश सब तेज़ीसे घूमते हुए लगे, और वह जैसे निःस्पन्द, अस्तित्वहीन, टूटी हुई शाखकी तरह मँडरा रहा था। दूर तीनका घण्टा बजा। रातके मुर्देके सिर पर जैसे किसीने हथौड़े मारे हों। उसकी नस-नस झनझना उठी। उसने चाहा कि वह चीख़े पर उसके मुखसे आवाज़ नहीं निकली। उसने चाहा कि अपनी सम्पूर्ण शक्तिसे एक बार, अन्तिम बार, इस मरी हुई भयानक रातके कान में चिल्ला सके—'जागते रहो'। वह चिल्लाया, लेकिन नित्यकी भाँति ख़ामोशीकी अन्धेरी चट्टानोंसे टकराकर कोई प्रतिध्वनि नहीं लौटी। शायद उसके मुखसे कोई आवाज़ नहीं निकली। क्या उसमें स्पन्दन नहीं है, जीवन नहीं है, क्या वह मर चुका है? उसने सोचा, उसने मस्तिष्क पर ज़ोर दिया। उसकी रगें तनतना कर खिंचीं और टूट गयीं। वह निश्चेष्ट हो गया। उसे लगा जैसे वह किसी बड़ी ऊँची पहाड़ीसे ढकेल दिया गया हो और उसकी कराह उसकी हड्डियोंको चूर कर बिखर गयी हो। उसका सम्पूर्ण शरीर तेज़ीसे हिलने लगा। कानों पर कोई घण्टे बजाने लगा और फिर अचानक सारी गति रुक गयी, आवाज़ें निःस्पन्द हो गयीं। एक भयावह, टूटी हुई, मुर्दा ख़ामोशी कौंध गयी।

अंतिम झपकी

काले पंखों वाले स्वप्नदूतकी आकृति फिर उसके सामने स्पष्ट हो गयी। उसने उससे पूछा—

'मैं कहाँ हूँ ?'

'यात्रिशालामें, अपनी ड्यूटीपर।' उत्तर मिला।

'यह ड्यूटी क्या पेट भरनेके ही लिए है ?' पहरेदारने व्यथित होकर पूछा।

'क्यों ?'

'आखिर मैं क्या कर सका ? किसे जगा सका ? दुनियाँकी गतिमें कौन परिवर्तन ला सका ? ज़िन्दगी भर जागते रहो, जागते रहो चिल्लानेके बाद भी, क्या वह यात्रिशाला वैसी ही नहीं है ?'

'है, और शायद रहेगी भी। तुमने अपने धर्मका पालन किया। तुम उसे बदल नहीं सके लेकिन यह निश्चय जानो कि तुम इसे लुटनेसे बचा सके हो। तुम्हें 'जागते रहो' चिल्लाते देख कर लुटेरे खुले आम घुसनेकी हिम्मत नहीं कर सके हैं। तुमने अपना कर्म पूरा किया है।' काले पंखों वाले स्वप्नदूतने उत्तर दिया।

'इस बार मैं तुम्हें अपने पाससे नहीं जाने दूँगा। देखो मेरे सोचने-समझनेकी शक्ति नष्ट होती जा रही है। तुम क्या, क्यों और किसके लिए यह सपनोंका बाज़ार लाये हो, यह मुझे बताते चलो।' पहरेदारने कहा और उसने स्वप्नदूतका हाथ कसकर पकड़ लिया।

स्वप्न-दर्शन

कुछ छोटे-छोटे बौने बहुत बड़े-बड़े ताशके पत्ते उठाकर ला रहे हैं। वे सब थके-माँदे और हारे हुए हैं। उनके माथे पर पसीनेकी बूँदें झलक रही हैं। वे सब गैलरीमें घुसते चले जा रहे हैं।

'इन ताशके पत्तोंके दूसरी तरफ़ क्या है ?'

'नौकरीके नियुक्ति-पत्र।'

'किनके लिए है ?'

'उनके जो कोनेके कमरेमें आधी रात तक ताश खेलते और झगड़ते रहे हैं। वे सब बेकार हैं।'

स्वप्नदूत उत्तर देता है। दृश्य हल्का पड़ जाता है।

× × ×

अपनी उम्दा पोशाकें पहने 'रायल' के बैरे एकके बाद एक खानेके विचित्र-विचित्र सामान लिये गैलरीमें घुसते चले जा रहे हैं। प्लेटों, काँटों और चम्मचोंकी खनक सुनाई देती है, ठहाके लग रहे हैं। भूखे ठहाके नहीं, तृप्ति और सन्तोषके ठहाके। बड़े-बड़े थालोंमें खानेका सामान आता जा रहा है। बैरे भाग-दौड़ कर रहे हैं।

'यह दावत कैसी है ?'

'कुछ लोग 'रायल'का नाम लेते-लेते भूखे सो गये हैं।'

स्वप्नदूत उत्तर देता है। दृश्य हल्का पड़ जाता है।

× × ×

अस्तव्यस्त वसनों और शिथिल मुद्राओंमें, कसे अंगों वाली स्त्रियाँ, सुन्दर वस्त्रोंमें सजी हुई स्त्रियाँ, नंगी-अधनंगी स्त्रियाँ,

आलिंगनबद्ध, हँसती, गाती, प्यासे होंठ बढ़ाती स्त्रियाँ चारों ओर बिखरी हुई हैं, और सिमट कर एक बड़ी लम्बी कतारमें यात्रि-शालाके भीतर प्रवेश कर रही हैं, कमरोंके दरवाज़े खोल कर जा रही हैं, भीतर पलँगों पर सो रही हैं, प्रेमालाप कर रही हैं, नाच रही हैं, गा रही हैं।

'यह परियोंका जमावड़ा क्यों है ?'

'क्योंकि आदमीने अपनी इच्छाओं पर नियन्त्रण लगा रक्खा है। उसकी इन्द्रियाँ तृप्त नहीं हैं, ये सभी भूखे हैं, प्यासे हैं, यह उनकी माँग है।'

स्वप्नदूत उत्तर देता है। दृश्य हल्का पड़ जाता है।

× × ×

सिनेमा हाल, आपेरा हाउस, उड़ते हुए नोट, उम्दा-उम्दा कपड़े, सिली-सिलाई पोशाकें, अच्छी सवारियाँ, कीमती सुन्दर मोटरें, तड़कीली-भड़कीली औरतें, सब चली आ रही हैं। एक सन्तोषका शोरगुल, हंगामा है। प्रसन्नताका बाज़ार लगा हुआ है।

'यह सब किनके लिए है ?'

'उन सबके लिए जिन्हें यह नहीं मिल पाता है।'

'सब बहुत खुश हैं, प्रसन्नताका ज्वार उमड़ रहा है। ऐसा वास्तविक जीवनमें उन्हें क्यों नहीं मिलता ? इसका ज़िम्मेदार कौन है ?'

'आदमी ही। क्योंकि उसने स्वार्थके, नियमों और बन्धनोंके घेरे बना रक्खे हैं।'

स्वप्नदूत उत्तर देता है । दृश्य हल्का पड़ जाता है ।

× × ×

रतना ट्रेन पर बैठी जा रही है । अचानक दिनेश पटरियों पर खड़ा दिखायी देता है। वह ट्रेनको दोनों हाथोंसे रोक कर ढकेलता है, ट्रेन पीछे चलने लगती है । रतना चिल्लाती है, डरती है, आगे चलनेके लिए ज़ोर लगाती है । अचानक उसके पिता गार्ड की शक्लमें दिखायी देते हैं। वह सीटी बजाते हैं । ट्रेन हरहरा कर चल पड़ती है । दिनेशका अंग-अंग कट जाता है । एक बहुत बड़ी खाली शराबकी बोतलमें उसके कटे हुए अंग डब्बेके कोनेमें रक्खे हुए हैं । रतना देख रही है, मुसकरा रही है, ट्रेन भागती हुई चली जा रही है ।

वह घर पहुँचती है । पिता उसे गलेसे लगा लेता है । किशोर जेलखानेमें बन्द खड़ा दिखायी देता है । उसके कपड़े कैदियोंके हैं, उसकी दाढ़ी बढ़ी हुई है । वह कातर दृष्टिसे रतनाकी ओर देखता है ।

'अब बोलो ? मैं चाहूँ तो तुम्हें छुड़ा सकती हूँ ?' रतना गर्वसे उसकी ओर देखती है ।

किशोर सिर झुका लेता है। उसकी आँखोंसे आँसू निकलते हैं।

'मेरे रहते हुए तुम रोते हो ?' रतना एक झटकेसे ताला तोड़ देती है । और किशोरसे लिपट जाती है । रतनाके पिता आश्चर्य और क्रोध-मिश्रित दृष्टिसे देखते हैं ।

'मैं किशोरके बिना नहीं रह सकती बाबूजी ।' रतना किशोर की छातीसे लिपटी हुई रो-रो कर कहती है ।

अचानक दृश्य बदल जाता है। बाबूजी हँसते हुए घर-भरमें दौड़ रहे हैं। बाजे बज रहे हैं। बाहर बहुत बड़ी दावत हो रही है। हजारों मोटरें खड़ी हैं।

रतना उँगलीसे मामूली सोनेकी अँगूठी उतार कर किशोरके ऊपर फेंक देती है और कहती है—

'मैं आजके दिन यह मामूली अँगूठी नहीं लेती, मुझे हीरेकी अँगूठी दो!'

किशोर जेबसे हीरेकी अँगूठी निकाल कर पहना देता है। वह उम्दा क़ीमती पोशाक पहने हुए है। रतना उसके गलेसे लिपट जाती है। किशोर उसे अपनी बाँहोंमें कस लेता है।

'यह क्या है? रतना किशोरको प्यार करती है?'

'हाँ, लेकिन अभी उसके संस्कार बदले नहीं हैं। वह जिस वर्गकी है उसकी यह विशेषता है। उसके ये प्रभुत्व और ऐश्वर्य-लिप्साके संस्कार देरसे बदलेंगे।'

स्वप्नदूत उत्तर देता है। दृश्य हल्का पड़ जाता है।

× × ×

प्रकाश, एक एकान्त निर्झरके किनारे बैठा छुरेका ताज़ा खून धो रहा है। निर्झरके नीले जलमें लाल वृत्त बनते हैं, नाचते हैं और तेज़ीसे बहते हुए आगे निकल जाते हैं। प्रकाश उनकी शोभाको निरखता है और आत्मविभोर होता है। दूर कोई अस्पष्ट नारी आकृति कूल पर झुकी हुई उन लाल सितारोंको उठाती जाती है और एक सफ़ेद कोट पर टाँकती जाती है। फिर बिगुल बजता है, बैंड बजता है, मार्च करती हुई फ़ौजें उसे सलामी देती हैं

और वह वहाँ लाल सितारे टँका सफ़ेद कोट पहने अकड़ा हुआ तनकर खड़ा है। लाल झंडे चारों ओर लहरा रहे हैं। 'क्रान्ति जिन्दाबाद!'के नारे लग रहे हैं।

एक खुली सजी हुई जीप पर वह बैठता है और फ़ौजकी सलामी लेता हुआ एक आलीशान बंगलेकी ओर सरसराता हुआ चला जाता है।

अचानक उसकी जीप उसी निर्झरके किनारे ऊबड़-खाबड़ रास्तों पर चलती हुई दिखाई देती है। वह चौंकता है। जीप रुक जाती है। सामने रतनाका रक्तस्नात शव पड़ा है। वह उतर कर ग़ौरसे देखता है। शवके होंठ हिल रहे हैं। वह भयभीत हो उठता है। वह फिर दूसरा छुरा मारता है, होंठ और तेज़ीसे हिलने लगते हैं। वह ऊबकर छुरा मारता जाता है, और जितना ही वह छुरा मारता जाता है, होंठ उतनी ही शक्तिसे हिलते जाते हैं।

अचानक, दूर पहाड़ी पर खड़ा दिनेश क़हक़हा मार कर हँसता है और चिल्लाता है—

'याद रक्खो, आवाज़ ख़त्म कर सकते हो लेकिन ये हिलते हुए होंठ नहीं रोक सकते! और एक दिन यही हिलते हुए होंठ दूसरी क्रान्तिको जन्म देंगे जिसका आधार करुणा पर, संवेदना पर और मानवता पर होगा। तुम्हारा युग शीघ्र ही समाप्त हो जायेगा।'

प्रकाश काँप उठता है। उसकी आँखोंके सामनेसे सारे दृश्य खो जाते हैं।

'यह कौन है?'

'प्रगति और नयी ज़िन्दगीके ठेकेदार।'

'यह इतने घृणित क्यों हैं ?'

'क्योंकि इनमें इन्सानियत नहीं है।'

स्वप्नदूतने उत्तर दिया। और दृश्य हलका हो गया।

× × ×

एक खुली बेंच पर एक ओर विभा और मोहन बैठे हैं, दूसरी ओर राजेश और वह गोरी लड़की। राजेश और विभा एक दूसरेकी ओर देखते हैं लेकिन जैसे पहचानते नहीं।

'इनका वास्तविक वैवाहिक जीवन कितना स्नेह और शान्तिसे पूर्ण है ?'

'इसलिए कि ये जिन्दगीके साथ समझौता कर पानेमें समर्थ हैं।'

स्वप्नदूत उत्तर देता है। और दृश्य हलका हो जाता है।

अन्तराल

पहरेदारकी आँख एक क्षणको खुली। कहीं कुछ नहीं! यात्रिशालामें पूर्ववत् ख़ामोशी थी। सारे कमरे बन्द थे। विभा, राजेश, रतना, किशोर, प्रकाश, सभी अपने-अपने कमरोंमें चुपचाप सो रहे थे। यद्यपि उन सबको प्यासी आत्माएँ कहीं और थीं। उसने पूरी शक्तिसे आँखें खोलनी चाहीं, पर जैसे उनमें खुली रहने की शक्ति नहीं। वह झँपती चलती जा रही हैं। उसे लगा जैसे उसकी निगाह पथरा रही है, पूरी यात्रिशाला धुँधली होती चली जा रही है। कमरेके दरवाज़े सफ़ेद बर्फ़से दिखलाई देने लग गये